अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांत

श्री भगवानदास अवस्थी, एम्० ए०

हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी ऐकेडेमी
यू० पी०, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
मूल्य १॥)

मुद्रक :—ओंकार प्रसाद गौड़, मैनेजर,
कायस्थ पाठशाला प्रेस व प्रिंटिंग स्कूल, इलाहाबाद

भूमिका

वर्तमान युग अर्थप्रधान है। प्रत्येक देश अधिकाधिक धनवान होने का प्रयत्न कर रहा है। अर्थशास्त्र की सहायता से पश्चात्य देशों ने अपनी आर्थिक उन्नति की है और वे समृद्धिशाली हो गए हैं।

भारतवासी बहुत ग़रीब हैं। हमारे करोड़ों देशवासियों को कठिन परिश्रम करने पर भी भर पेट भोजन नहीं मिल पाता और न उन को काफ़ी वस्त्र ही मिल पाते हैं। उन की ग़रीबी दूर करने के लिए, उन की आर्थिक दशा सुधारने के लिए, जनता में अर्थशास्त्र के ज्ञान के प्रचार करने की अत्यंत आवश्यकता है। परंतु यह कार्य हो कैसे? अर्थशास्त्र की उत्तम पुस्तकों का भांडार अँगरेज़ी में है। भारत में अँगरेज़ी जानने-वालों की संख्या बहुत कम है और उन में से उन सज्जनों की संख्या जिन का अर्थशास्त्र से प्रेम हो और भी कम है। इस लिए अँगरेज़ी में लिखी हुई पुस्तकों द्वारा जनता में अर्थशास्त्र के ज्ञान का प्रचार नहीं हो सकता। जब राष्ट्रभाषा हिंदी में इस विषय पर उत्तम उत्तम ग्रंथ निकलने लगेंगे तब अर्थशास्त्र के ज्ञान का कुछ प्रचार भारत में हो सकेगा। इस समय तो हिंदी में अर्थशास्त्र के उत्तम ग्रंथों की बहुत कमी है। इसी कमी को कुछ अंशों में दूर करने के लिए यह ग्रंथ लिखा गया है।

इस ग्रंथ के लेखक श्रीयुत् भगवानदास अवस्थी, एम० ए०, सन् १९२० से अर्थशास्त्र का अध्ययन कर रहे हैं। आप को अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का अच्छा ज्ञान है और व्यापार का भी आप को अनुभव है। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से पाठकों को अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को समझने में सहायता मिलेगी। आप ने अर्थशास्त्र के गूढ़ सिद्धांतों को सरल भाषा में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है। ऐसी उत्तम पुस्तक को लिखने के लिए मैं भी अवस्थी जी को बधाई देता हूं। मैं आशा करता हूं कि हिंदी संसार इस का उचित आदर करेगा।

दयाशंकर दुबे

एम० ए०, एल-एल० बी०

दारागंज, प्रयाग — अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

पृष्ठ

उत्पत्ति

उपभोग

विनिमय

वितरण

सहायक ग्रंथों की सूची

मार्शल (ए०) : प्रिंसिपिल्स अव् इकनामिक्स

सेलिग्मैन (ई० आर० ए०) : ,,

जीड (सी०) : ,,

टाउज़िग (एफ़० डब्ल्यू०) : ,,

,, : वेजेज़ ऐंड कैपिटल

चैपमैन (एस० जे०) : आउटलाइन्स अव् पोलिटिकल इकानमी

सेन (एम० एम०) : आउटलाइन्स अव् इकनामिक्स

टामस (एस० ई०) : एलिमेंट्स अव् इकनामिक्स

पीगू (ए० सी०) : इकनामिक वेल्फ़ेयर

मेहता (जे० के०) : ग्राउंडवर्क अव् इकनामिक्स

जेवन्स (डब्ल्यू० एस०) : थियरी अव् पोलिटिकल इकानमी

कार्वर (टी० एन०) : डिस्ट्रीब्यूशन अव् वेल्थ

क्लार्क (जे० बी०) : ,,

,, : फ़िलासफ़ी अव् वेल्थ

बोह्म-बावर्क (ई०) : दि पाज़िटिव थियरी अव् कैपिटल

केनन (ई०) : थियरीज़ अव् प्रोडक्शन एंड डिस्ट्रीब्यूशन

फ़िशर (आई) :—कैपिटल एंड इनकम

सिजविक (एच०) : स्कोप एंड मेथड अव् इकनामिक साइंस

कार सांडर्स (ए० एस०) : दि पाप्यूलेशन क्वेश्चन

बुचर (सी०) :—इंडस्ट्रियल एवोल्यूशन

हाब्सन (जे० ए०) : एवोल्यूशन अव् माडर्न कैपिटलिज़्म

लब्बक (जे०) : रेसेज़ अव् मैन

,, : ओरिजिन अव् सिविलाइज़ेशन

गोल्डेन-वीज़र (ए० ए०) : अर्ली सिविलाइज़ेशन

लोरिया (ए०) : इकनामिक फ़ाउंडेशन अव् सोसाइटी

श्मोलर (जी०) : दि मर्कैंटाइल सिस्टम

वेब्लेन (टी०) : थियरी अव् बिज़नेस इंटरप्राइज़

मेन (एच० एस) : अर्ली हिस्ट्री अव् इंस्टिट्यूशंस

डिकिंसन (एल० सी०) : इकनामिक मोटिव्स

बर्क (एल० वी०) : दि थियरी अव् मार्जिनल वैल्यू

ऐंडरसन (बी० एम०) : सोशल वैल्यू

विकस्टीड (पी० एच०) : दि कामनसेंस अव् पोलिटिकल इकानमी

नाइट (एफ० एच०) : प्राफ़िट

मैकग्रेगर (डी० एच०) : दि ट्रस्ट प्राब्लेम

फ़ाइडे (डी०) : प्राफ़िट्स, वेजेज़, ऐंड प्राइसेज़

मिचेल (डब्ल्यू० सी०) : बिज़नेस साइकिल्स

महावीरप्रसाद द्विवेदी : संपत्तिशास्त्र

दयाशंकर दुबे : अर्थशास्त्र-शब्दावली

मुक्तिनारायण शुक्ल : अर्थविज्ञान

दयाशंकर दुबे और भगवानदास केला : धन की उत्पत्ति

दयाशंकर दुबे और मुरलीधर जोशी : संपत्ति का उपभोग

प्रेमचंद : अर्थशास्त्र के प्रारंभिक नियम

बालकृष्ण : उत्पत्ति

राजेंद्र कृष्ण कुमार : अर्थशास्त्र

विषय-प्रवेश

अध्याय १

अर्थशास्त्र और उस का क्षेत्र

अर्थशास्त्र में मनुष्य के हितों के और संपत्ति के संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

जिस शास्त्र में मनुष्य के उन व्यवहारों, कार्यों आदि का अध्ययन किया जाता है जिन से उस के प्रति-दिन के जीवन-निर्वाह का और संपत्ति का संबंध रहता है, उसे अर्थशास्त्र कहते हैं।

अर्थशास्त्र में मनुष्य के प्रतिदिन के व्यावसायिक जीवन से संबंध रखनेवाले कामों का अध्ययन किया जाता है, इस बात की छानबीन की जाती है कि मनुष्य प्रति-दिन किस प्रकार अपनी जीविका उपार्जन करता है और किस प्रकार वह उसे अपने उपयोग में लाता है।

ऊपर की परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य और संपत्ति दोनों का ही अध्ययन एक साथ चलता है। अर्थ-शास्त्र में मनुष्य के उन कामों का, उस के जीवन के उन पहलुओं का अध्ययन रहता है जिन का संबंध संपत्ति से, धनोपार्जन से, और संपत्ति के उपभोग से रहता है।

मनुष्य के जीवन पर उस की जीविका का बहुत अधिक असर पड़ता है। उस का अधिक समय अपनी जीविका के उपार्जन करने में व्यतीत होता है। मनुष्य अधिकतर उन कामों में लगा रहता है जिन से उसे धन की, प्रति-दिन की आवश्यकताओं को पूरी करनेवाली वस्तुओं की, प्राप्ति होती है। उस की शक्तियां उन कामों में लगती और विकसित होती हैं, जिन से उस की जीविका चलती है। उस के चरित्र, मन, मस्तिष्क, शरीर

आदि पर उस की जीविका का, साथ में काम करनेवालों का, मालिक का, कार्य करने के स्थान और वातावरण का, और कार्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। उस के प्रति दिन के जीवन पर उस की आमदनी, और उस आमदनी को ख़र्च करने के ढंग का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्र में इन्हीं सब बातों का अध्ययन किया जाता है।

अर्थशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन उस की संपत्ति के संबंध में किया जाता है। मनुष्य संपत्ति को उपार्जन करने और उसे उपयोग में लाने के लिए अपने प्रतिदिन के जीवन में जो व्यापार-व्यवसाय करता है उसी का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। संपत्ति में वे सभी वस्तुएं समावेशित हैं जो मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करें (यानी जो उपयोगी हों) और साथ ही परिमाण में परिमित हों। संपत्ति की इस परिभाषा के मुख्य आशय को समझ लेने पर यदि यह कहा जाय कि अर्थ-शास्त्र वह विद्या है जिस में संपत्ति पर विचार किया जाता है, तो इस से यह न समझा जाना चाहिए कि अर्थशास्त्र में मनुष्य को छोड़ कर केवल संपत्ति का ही विचार किया जाता है, क्योंकि वही वस्तु संपत्ति मानी जा सकेगी जिस से मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति हो। अस्तु, जब संपत्ति पर विचार किया जायगा तब मनुष्य की आवश्यकताओं पर विचार करना अनिवार्य हो जायगा, और जब मनुष्य की आवश्य-कताओं पर विचार किया जायगा तब मनुष्य का विचार किया जाना ज़रूरी है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में मनुष्य के संबंध में विचार ज़रूर ही किया जायगा, क्योंकि मनुष्य पर विचार किए बिना संपत्ति के संबंध में विचार किया ही नहीं जा सकता।

मनुष्य का अध्ययन दो तरह से किया जा सकता है। एक तो व्यक्ति-गत रूप से और दूसरे समाज के एक सदस्य के रूप में। अर्थशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन इन दोनों तरीक़ों से किया जाता है।

मनुष्य किस तरह से विचार और काम करता है; किस तरह से

धन कमाता है और किस तरह से उसे ख़र्च करता है. इन सब बातों का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। वर्तमान समय में अर्थशास्त्र का आधार मूल्य पर स्थित है, और मूल्य का प्रश्न आते ही विनिमय का प्रश्न सामने आ जाता है, क्योंकि मूल्य का विनिमय से घनिष्ट संबध है। विनिमय के लिए दो या दो से अधिक मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है। विनिमय तभी होगा जब विनिमय करने के लिए दो या अधिक मनुष्य हों। इस प्रकार मूल्य का प्रश्न आते ही एक संगठित समाज का होना ज़रूरी हो जाता है। इस का कारण यह है कि यदि समाज संगठित और नियमबद्ध न होगा तो नियमपूर्वक ख़ुशी से विनिमय और वितरण न हो सकेगा, क्योंकि न तो कोई क़ायदे-क़ानून मानेगा और न मनुष्य के जान-माल की हिफ़ाज़त ही हो सकेगी। ऐसी हालत में कोई भी व्यक्ति व्यवसाय, व्यापार, विनिमय आदि में न लग सकेगा। साथ ही नियम-क़ानून, संगठन-व्यवस्था, रक्षा आदि के न रहने पर कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ ख़ुशी से मिल कर न तो कार्य ही कर सकेगा और न उत्पन्न की हुई वस्तुओं का नियमपूर्वक वितरण ही कर सकेगा।

ऐसी दशा में वर्तमान समय में जो अर्थशास्त्र हमारे सामने उपस्थित है वह एक सामाजिक विद्या है, समाजशास्त्र की एक शाखा है।

जीविका उपार्जन करने और अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को समाज में रह कर कार्य करना और अनेक मनुष्यों से व्यवहार रखना पड़ता है, इस कारण अर्थशास्त्र का संबंध राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, आचार-नीति आदि अन्य सभी समाजशास्त्रों से है। इस का कारण यह है कि समाज के शासन-विधान, धार्मिक सिद्धांत, आचार-नीति, न्याय-क़ानून के अनुसार ही मनुष्य के कार्य, व्यवहार और उद्योग-धंधे होंगे। धार्मिक विचार, क़ानून, आदि का मनुष्य के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

इस कारण किसी भी आर्थिक पहलू पर विचार करते समय अन्य सभी सामाजिक बातों का विचार सामने रखना ही पड़ता है। अस्तु अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि अर्थशास्त्र से अन्य शास्त्रों का क्या-कैसा संबंध है।

राजनीति और अर्थशास्त्र

मनुष्य का राज्य के साथ जो संबंध रहता है उस का अध्ययन राजनीति में किया जाता है। नियम-क़ानून, आयात-निर्यात-कर, आय-कर तथा अन्य कर, कारख़ानों और मजदूरों संबंधी नियम-क़ानून, भूमि-संबंधी क़ानून आदि का मनुष्य की आर्थिक स्थिति, रीति-नीति तथा प्रगति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। संपत्ति का उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय, वाणिज्य-व्यवसाय आदि सभी आर्थिक कार्य राज्य-शासन की रीति-नीति पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। नियम-क़ानूनों तथा करों द्वारा देश भर की आर्थिक प्रगति बदल दी जाती है। यदि नियम-क़ानून किसी व्यवसाय के पक्ष में हितकर होंगे तो वह व्यवसाय अधिक उन्नति कर सकेगा। यदि नियम-क़ानून विरुद्ध पड़ गए तो उस व्यवसाय को भारी क्षति पहुँचेगी। यदि राज्य-व्यवस्था के कारण शांति स्थापित हो सकी, संपत्ति तथा धन-जन की रक्षा के उपाय किए गए, तो आर्थिक जीवन बहुत उन्नत अवस्था में पहुँच जायगा। इस प्रकार राजनीति का अर्थशास्त्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, दोनों का घनिष्ट संबंध रहता है। अर्थशास्त्री को आर्थिक स्थिति पर विचार करते समय इस बात पर भी विचार करना पड़ता है कि राज्य-व्यवस्था का मनुष्य के आर्थिक कार्यों पर क्या-कैसा प्रभाव पड़ता है, आर्थिक स्थिति में क्या-कैसा परिवर्तन हो जाता है। साथ ही राजनीतज्ञ को यह देखना पड़ता है कि राज्य-व्यवस्था के किस कार्य का प्रजा के किस आर्थिक पहलू पर क्या-कैसा प्रभाव पड़ता है और उस से राजनीतिक जीवन में कैसा-क्या रद्दोबदल होता है।

मनुष्य का ईश्वर के साथ क्या संबंध है इस का विचार धर्मशास्त्र

अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र

में किया जाता है। जब मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है, जब उस की भूख-प्यास आदि शांत हो चुकती हैं, तभी पूरी तरह से उस का चित्त शांत होकर धार्मिक बातों की ओर झुकता है, ईश्वर की तरफ़ लगता है। संसार के भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास से यह साबित हो चुका है कि जो देश सब से अधिक धन-धान्य से परिपूर्ण होते हैं, आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली होते हैं, वे ही सब से अधिक धार्मिक भावनाओं की ओर झुकते हैं, उन्हीं देशों में सब से अधिक आध्यात्मिक उन्नति होती है। मनुष्य-समाज की आर्थिक स्थिति का उस की आध्यात्मिक प्रगति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस के साथ ही समाज के धार्मिक आचार-व्यवहारों, धार्मिक विचारों और विश्वासों का उस के प्रति-दिन के आर्थिक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के धार्मिक विचारों के कारण उस की जीविका का निर्णय होता है। कोई भी कट्टर वैष्णव मांस के व्यवसाय से अपनी जीविका चलाने के लिए राज़ी न हो सकेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के धार्मिक विचारों का प्रभाव उस की आर्थिक प्रगति पर पड़ता है और उस की आर्थिक स्थिति का प्रभाव उस के धार्मिक जीवन पर पड़ता है।

अर्थशास्त्र और आचारनीति

आचारनीति में मनुष्य के आचार-व्यवहार, रीति-नीति का विचार किया जाता है। मनुष्य की आर्थिक स्थिति का बहुत कुछ प्रभाव उस की आचारनीति पर पड़ता है। मनुष्य की आमदनी का, उस काम या उन कामों का जिन के द्वारा वह अपनी जीविका पैदा करता है, उन साथियों का जिन के बीच में उसे जीविका उपार्जन करनी पड़ती है, उस वातावरण का जिस में रह कर उसे काम करना पड़ता है, उन तरीक़ों का जिन के द्वारा वह अपनी आमदनी को ख़र्च करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, मनुष्य के चरित्र, उस की आचारनीति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य

या समाज की आचारनीति बहुत अंशों में उस की जीविका के उपार्जन तथा उपभोग के द्वारा निश्चित होती है। समुद्र के तीर पथरीले भूभाग में बसनेवाले मछुहा समाज में मछली का शिकार उचित ही नहीं, आवश्यक समझा जाता है। किंतु उपजाऊ भूभाग में बस कर खेती से गुज़र करनेवाले समाज में मछली का शिकार नैतिक दृष्टि से अनुचित समझा जायगा क्योंकि उस समाज की गुज़र अन्न से भली-भाँति चल जाती है। इस के साथ ही आचारनीति का भी भारी प्रभाव मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। अनेक व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होने पर भी इस कारण छोड़ दिए जाते हैं कि वे नैतिक दृष्टि से उचित नहीं समझे जाते।

अर्थशास्त्र में सभी पहलुओं का अध्ययन

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न सामाजिक विद्याएं मनुष्य के भिन्न भिन्न पहलू को लेकर उस का स्वतंत्र रूप से अध्ययन करती हैं, तथापि प्रत्येक पहलू अन्य पहलुओं से ऐसा मिला हुआ रहता है कि उस के पूर्ण ज्ञान के लिए अन्य पहलुओं के ज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। बिना सभी बातों का विचार किए हुए किसी भी एक बात का विचार पूरी तरह से नहीं किया जा सकता। इस का कारण यही है कि प्रत्येक पहलू एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालता है तथा अन्य पहलुओं से स्वयं प्रभावित रहता है। अस्तु विभिन्न सामाजिक विद्याओं का आपस में इतना घनिष्ट संबंध रहता है कि एक-दूसरे की सहायता की आवश्यकता पड़ती रहती है, और यह कहना कठिन हो जाता है कि मनुष्य के कार्यों से संबंध रखनेवाली कोई एक ख़ास बात एक शास्त्र के अंतर्गत आती है अथवा दूसरे शास्त्र के।

ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ता है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य के हर पहलू का अध्ययन किया जाता है, क्योंकि उस का कार्य चाहे किसी भी विचार से क्यों न किया गया हो, उस का कुछ न कुछ आधार आर्थिक अवश्य होगा और उस कार्य से उस के आर्थिक जीवन पर कुछ न कुछ

प्रभाव ज़रूर पड़ेगा। प्रत्येक कार्य से, चाहे वह स्पष्ट रूप से आर्थिक हो, या आर्थिक न भी हो, मनुष्य के मन, मस्तिष्क, शरीर पर प्रभाव अवश्य पड़ता है और इस प्रभाव से उस के धनोपार्जन और धन-व्यय के कार्यों पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इस कारण मनुष्य के प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ आर्थिक पहलू तो रहता ही है। अस्तु, अर्थशास्त्र में मनुष्य के सभी पहलुओं का अध्ययन करना पड़ता है।

यही क्यों ? धार्मिक, राजनीतिक, जातिगत द्वेष, फ़ौजी लागडाँट तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से उत्पन्न होनेवाले विनाशकारी महायुद्धों से समाज और व्यक्ति के आर्थिक जीवन में भारी उलट-फेर उत्पन्न हो जाते हैं। भूकंप, बाढ़, सूखा, आग आदि उन प्राकृतिक कारणों का भी प्रभाव, जिन पर मनुष्य का बहुत अधिक वश नहीं चलता मनुष्य के आर्थिक जीवन पर पड़ता है। अस्तु, अर्थशास्त्र में इन सब बातों का अध्ययन करना पड़ता है, यद्यपि ये सब समस्याएं आर्थिक समस्याएं नहीं हैं।

इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की एक शाखा है और अर्थशास्त्र के सिद्धांत मनुष्य के सामाजिक कार्यों पर लागू होते हैं।

किंतु इस से यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र के सभी सिद्धांत ऐसे हैं जो तभी लागू हों जब मनुष्य समाज में रहे। इस में संदेह नहीं है कि विनिमय और वितरण संबंधी सिद्धांत तभी लागू होंगे जब मनुष्य समाज में रहे और अन्य व्यक्तियों से व्यवहार रक्खे, क्योंकि किसी वस्तु का वितरण या बटवारा तभी होगा जब वह अन्य व्यक्तियों के साथ कोई वस्तु बाँटने को तैयार हो, और यह समाज में ही संभव हो सकता है। इसी प्रकार विनिमय या अदला-बदला तभी होगा जब एक से अधिक व्यक्ति आपस में कुछ वस्तुओं का विनिमय या अदला-बदला करना चाहें। यहां भी समाज की आवश्यकता आ जाती है।

किंतु उत्पादन और उपभोग में कुछ ऐसे सिद्धांत ज़रूर हैं जो बिना

समाज की कल्पना किए ही, केवल एक व्यक्ति पर भी लागू हो सकते हैं, जैसे क्रमागत-उपयोगिता ह्रास नियम, प्रतिस्थापन नियम आदि। यदि एक मनुष्य एक निश्चित समय के अंदर लगातार दस लड्डू खाने लगे तो पहले लड्डू से उसे जो उपयोगिता प्राप्त होगी, दूसरे लड्डू के खाने से उस से कुछ कम प्राप्त होगी। तीसरे के खाने से उसे दूसरे की बनिस्बत कुछ कम। इस प्रकार वह जो भी आगे और लड्डू खायगा, उस से उसे जो उपयोगिता प्राप्त होगी वह ठीक उस के पहले वाले लड्डू की उपयोगिता से उत्तरोत्तर कम होती चली जायगी, यहां तक कि अंत वाले लड्डू से उसे सब से कम उपयोगिता प्राप्त हो सकेगी। इसी प्रकार एक मनुष्य दो या तीन ऐसी वस्तुओं में से जो एक ही तरह की आवश्यकता की पूर्ति करती हों, उसी वस्तु को चुनेगा, (और अन्य दो को छोड़ देगा) जिस से उसे संतोष तो अधिक (या उतना ही) मिले पर जिस के प्राप्त करने में श्रम कम करना पड़े या बदले में हानि कम उठानी पड़े। अब चाहे वह मनुष्य समाज में रहे या कि समाज के बाहर अकेला रहे, इस प्रकार के नियम उस के कामों में लागू होंगे।

इस दृष्टि से विचार करने पर अर्थशास्त्र का क्षेत्र समाजशास्त्र के क्षेत्र से अधिक विस्तृत तथा व्यापक सिद्ध होता है।

वर्तमान युग के प्रमुख अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र की व्यापकता इतनी अधिक बढ़ गई है कि प्रायः सभी मानवीय व्यापार आर्थिक कारणों से प्रभावित रहते हैं। इस कारण प्रायः सभी शास्त्रों के मूल में आर्थिक सिद्धांत काम करते देख पड़ेंगे, क्योंकि धनोपार्जन, संपत्ति की प्राप्ति, आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख-संतोष के लिए ही मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक आदि कार्य और प्रयत्न होते हैं। ऐसी दशा में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी कार्य अर्थशास्त्र के अंतर्गत समावेशित हो जाते हैं।

अध्याय २

अर्थशास्त्र और उस के सिद्धांत

अर्थशास्त्र में मनुष्यों के संबंधों का विचार किया जाता है। अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है जिस में मनुष्य के प्रति-दिन के कार्यों, विचारों, गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में मनुष्य के उन सामूहिक और पारस्परिक कार्यों पर विचार किया जाता है जिन का उस के प्रति दिन की जीविका के उपार्जन से संबंध रहता है। अर्थशास्त्र में उन सब कार्यों के प्रयोजनों तथा स्थितियों की छानबीन की जाती है, चालकों और उन के कारणों और परिणामों का निर्देश किया जाता है। चूँकि अर्थशास्त्र में उन मनुष्यों का विचार किया जाता है जिन के प्रयोजन स्थितियां, कार्य तथा संबंध आदि सभी समय-समय पर बदलते रहते हैं, इस लिए अर्थशास्त्र की कोई भी एक पद्धति ऐसी नहीं हो सकती जो सभी स्थानों, सभी समयों में सभी प्रयोजनों तथा कार्यों पर एक सी लागू हो सके। स्थिति के, प्रयोजनों के बदल जाने पर बहुत सी बातें बदल जायँगी।

किंतु यह बात केवल अर्थशास्त्र के ही संबंध में कही जाय सो बात नहीं है। न्यायशास्त्र, औषधि-विज्ञान आदि जिन शास्त्रों के संबंध परिवर्तनशील मनुष्य से हैं उन सब को इसी तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परिस्थिति बदल जाने से उन के सिद्धांतों में भी हेर-फेर आ जाता है। असल में सभी शास्त्रों तथा विज्ञानों के सिद्धांत उसी दशा में पूरी तरह से लागू हो सकते हैं जब यह मान लिया जाता है कि अन्य सभी बातें पूर्ववत् ही हैं, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि स्थिति में कोई परिवर्तन हो जाता है तो किसी भी शास्त्र या विज्ञान का सिद्धांत पूरी तरह से लागू नहीं हो सकता। आकर्षण शक्ति के

सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक ऐसी वस्तु को जो हवा से भारी हो, आधार के न रोकने पर ज़मीन पर गिर पड़ना चाहिए। किंतु हवाई जहाज़, पक्षी, गुब्बारे नीचे न गिर कर ऊपर उड़ते जाते हैं। इस का यही कारण है कि कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है जो आकर्षणशक्ति के काम में बाधा डाल कर हवाई जहाज़ आदि को नीचे गिरने से बचाती रहती है। इस का यह मतलब नहीं है कि आकर्षणशक्ति वाला सिद्धांत कुछ वस्तुओं पर लागू नहीं होता, इस कारण ग़लत है। असल बात यह है कि कुछ बाधाएं बीच में पड़ कर उस सिद्धांत के अनुसार कार्य नहीं होने देतीं। प्रत्येक शास्त्र तथा विज्ञान के लिए यही बात लागू होती है। प्रत्येक सिद्धांत एक ख़ास परिस्थिति में ही लागू हो सकता है। उस परिस्थिति के बदल जाने पर, बाधाओं के उपस्थित हो जाने पर, वह सिद्धांत लागू नहीं हो सकता। इस से उस सिद्धांत की सचाई में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। चूँकि अर्थशास्त्र को परिवर्तनशील स्वभाववाले मनुष्यों के कार्यों पर विचार करना पड़ता है, इस कारण अर्थशास्त्र के सिद्धांत सदा उतने ठीक नहीं बैठते जितना कि उन्हें बैठना चाहिए। यह इस कारण कि सिद्धांतों के बिलकुल ठीक और सच्चे होने पर भी आर्थिक परिस्थितियां इतनी जल्दी-जल्दी और इतनी तेज़ी से बदलती रहती हैं कि यह तय करना कठिन हो जाता है कि अर्थशास्त्र के किसी एक सिद्धांत के अनुसार बिचार करते समय अन्य किन-किन विरोधी परिस्थितियों तथा बाधाओं का विचार कर लेना चाहिए। अर्थशास्त्र के सिद्धांत तो सच्चे और ठीक हैं। पर परिस्थितियों के तेज़ी से जल्दी-जल्दी बदलते रहने से उन के अनुसार निर्णय के संबंध में भ्रम हो जाना संभव हो सकता है। इन सब बातों को अच्छी तरह से समझ लेने पर यही मानना पड़ेगा कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत उसी तरह निश्चित अथवा अनिश्चित माने जाने चाहिए जिस तरह कि किसी भी अन्य शास्त्र या विज्ञान के।

एक बात और है। अनेक ऐसे विज्ञान हैं जिन के सिद्धांतों की

परीक्षा करते समय प्रयोगशाला में बैठ कर विरोधी बातों और परिस्थितियों को बिलकुल दूर रक्खा जा सकता है, और इस बात की परीक्षा प्रयोग द्वारा की जा सकती है कि अमुक कारण उपस्थित करने पर अमुक परिणाम होगा। किंतु अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के संबंध में ऐसी न तो कोई प्रयोगशाला ही मिल सकती है और न इतनी आसानी से विरोधी परिस्थितियां तथा बाधाएं ही दूर की जा सकती हैं, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव बड़ा परिवर्तनशील है और अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का संबंध मनुष्यों की इच्छाओं से रहता है। और मनुष्य की इच्छाएं रोकी नहीं जा सकतीं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत उतने स्थिर और निश्चित नहीं माने जा सकते जितने कि उन अन्य शास्त्रों और विज्ञानों के सिद्धांत जिन का संबंध मानवीय इच्छाओं ऐसी अनस्थिर बातों से नहीं है।

अर्थशास्त्र के सिद्धांत अन्य सभी शास्त्रों और विज्ञानों के सिद्धांतों के अनुसार ही ठीक और सच्चे हैं और विरोधी परिस्थितियों तथा बाधाओं के न रहने पर पूरी तरह से लागू होते हैं। यही शर्त अन्य विज्ञानों के सिद्धांतों के संबंध में भी कही जाती है।

अर्थशास्त्र में मनुष्य के कार्यों का अध्ययन किया जाता है। किंतु मनुष्य के प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है। किसी-न-किसी इच्छा से प्रेरित होकर ही मनुष्य कोई कार्य करता है। अर्थशास्त्र में मनुष्य के उन कार्यों का विशेष-रूप से अध्ययन किया जाता है जिन का प्रयोजन प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक होता है, यानी जिन कार्यों का प्रयोजन जीविका या धन पैदा करना होता है।

आर्थिक प्रयोजन

मनुष्य की इच्छाएं प्रत्यक्ष रूप से मापी नहीं जा सकतीं। केवल इच्छाओं के उस प्रभाव को अप्रत्यक्ष रूप से मापा जा सकता है जिस से प्रेरित होकर किसी इच्छा की पूर्ति के लिए वह या तो कुछ देने को तैयार होता है या लेने या किसी प्रकार के उद्योग करने को तैयार होता है। यदि

कोई मनुष्य एक रूमाल के लिए चार आना देकर उसे ख़रीद लेता है तो यह माना जायगा कि एक रूमाल लेने की इच्छा का मूल्य उस के लिए चार आना के बराबर है, जो उस ने रूमाल ख़रीद करने में व्यय किया है। यदि एक आदमी एक रुपए रोज़ पर ८ घंटे काम करता है तो यह प्रगट हो जाता है कि उस के ८ घंटे काम करने की इच्छा की माप एक रुपया है, यानी एक रुपया प्राप्त करने के प्रयोजन से वह ८ घंटे काम करने को तैयार होता है। आर्थिक प्रयोजन की यह माप प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में किसी भी इच्छा को माप नहीं हो सकती। इस का कारण यह है कि एक ही वस्तु की इच्छा दो मनुष्यों के लिए प्रायः एक सी तीव्र नहीं रहती। एक लड्डू के खाने से हरि को जो तृप्ति होगी उस का केशव को होनेवाली तृप्ति से मिलान सीधे तौर पर किया ही नहीं जा सकता। केवल यह निर्णय निकाला जा सकता है कि यदि दोनों मनुष्य एक-एक लड्डू के एवज़ में एक एक आना देने को तैयार हों तो उन की इच्छा की तीव्रता एक बराबर मानी जायगी। दो मनुष्यों की तो बात ही नहीं, यदि एक ही मनुष्य उसी एक वस्तु की इच्छा विभिन्न समयों में करेगा तो इच्छा की तीव्रता भिन्न-भिन्न होगी। कभी वह उसी एक लड्डू के लिए एक आना देने को तैयार हो सकता है और कभी केवल दो पैसे ही। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य एक बार सिनेमा देखने के लिए एक रुपया ख़र्च करने को तैयार हो और सरकस देखने के लिए दो रुपए व्यय करने को तो इस से यही प्रकट होगा कि उस की सरकस देखने की इच्छा की तीव्रता दूनी है।

मनुष्य की इच्छाओं और कार्यों को इस प्रकार द्रव्य के रूप में मापा जाता है। प्रयोजन की इस माप द्वारा अर्थशास्त्र के अध्ययन में अधिक यथार्थता आ जाती है और इस माप के कारण अर्थशास्त्र के विचार तथा निर्णय में स्पष्टता और सुविधा हो जाती है।

किंतु यह माप बिलकुल ठीक-ठीक नहीं कही जा सकती। इस से इच्छाओं की तीव्रता और उस के लिए किए जानेवाले त्याग का अंदाज़ा

भर लगाया जा सकता है। इस का कारण यह है कि द्रव्य की एक इकाई यानी एक रुपए का मूल्य सभी आदमियों के लिए एक बराबर नहीं हो सकता। एक ग़रीब आदमी के लिए एक रुपए का मूल्य या महत्व किसी एक धनी मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक होगा, क्योंकि जिस के पास जितना ही अधिक द्रव्य या रुपया होगा उस के लिए एक रुपए का महत्व उतना ही कम होगा। अस्तु, यदि एक बार सिनेमा देखने के लिए एक धनी व्यक्ति एक रुपए ख़र्च करता है और उसी के लिए एक ग़रीब मनुष्य भी एक ही रुपया ख़र्च करता है तो इस से यह साबित न होगा कि दोनों की इच्छाओं की तीव्रता, तथा उन के कार्यों के चालकों का मूल्य बराबर बराबर है।

किंतु अन्य उपायों के न रहने पर प्रयोजनों की माप द्रव्य द्वारा ही की जाती है और इस माप के द्वारा अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में अधिक यथार्थता आ जाती है, तथा छान-बीन करने में सुभीता होता है।

मनुष्य दो उद्देश्यों से किसी विद्या का अध्ययन करता है, एक तो केवल ज्ञान के लिए और दूसरे उस विद्या से प्रति-दिन के जीवन में होनेवाले हित के लिए। वैद्यक, न्याय-शास्त्र आदि का अध्ययन इस लिए किया जाता है कि उन के प्रयोगों द्वारा रोगियों या मुक़दमे में फँसे हुए व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया जाय। खगोल विद्या का अध्ययन ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाता है। किंतु केवल ज्ञान के लिए पढ़े गए शास्त्रों से भी कुछ न कुछ व्यावहारिक लाभ उठा ही लिया जाता है। किंतु किसी अध्ययन में ज्ञान की मात्रा अधिक होती है और किसी में व्यावहारिक लाभ उठाने की।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य

अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य समाज के आर्थिक जीवन को अधिक हितकर बनाना है। असल में पश्चिमीय देशों की अत्यंत निर्धन, दीन दुःखी जनता के असह्य कष्टों के कारण ही उन देशों में अर्थशास्त्र का

जन्म हुआ है। यह देखा गया था कि निर्धन जनता को अनेक प्रकार के भीषण कष्ट सहने पड़ते हैं। कुछ दयालु, महानुभावों ने उन दीन दुखियों की दशा का अध्ययन किया और उन की अवनति के कारणों का पता लगाने की चेष्टा की। इन्हीं प्रयत्नों के फल-स्वरूप अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का पता चला और वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय रूप से अर्थशास्त्र कीस्थापना हुई।

दीन दुखी जनता की दशा का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद उस समय के कुछ विद्वान इस नतीजे पर पहुँचे कि उन की शारीरिक, मानसिक नैतिक, आध्यात्मिक अवनति और पतन का एक बड़ा ज़बरदस्त कारण उन की ग़रीबी ही है। इस से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य जनता की आर्थिक स्थिति सुधारना, जनता की ग़रीबी दूर कर उस के सुख-संतोष को बढ़ाना है।

अर्थशास्त्र से लाभ

अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है संपत्ति की वृद्धि के साधनों को सुलभ करके दरिद्रता और आर्थिक कष्टों को दूर कर सुख-समृद्धि की वृद्धि करना, और जनता का अधिक से अधिक कल्याण साधन करना।

अनेक विद्वानों का मत है कि संपत्ति और जन-हित दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। किंतु छान बीन करने पर यह मानना पड़ता है कि संपत्ति का प्रमुख गुण है मनुष्य की किसी न किसी इच्छा, आवश्यकता की पूर्ति करके उसे संतोष देना। और मनुष्य को संतोष से सुख प्राप्त होता है। उस की आवश्कताओं की पूर्ति होने पर ही उस का हित होता है। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएं तो ऐसी हैं जिन की पूर्ति होनी इसी लिए ज़रूरी है कि यदि उन की पूर्ति न हो सकी तो उस का जीवन ही न रह सकेगा। प्रत्येक मनुष्य को भोजन, वस्त्र, रहने के लिए सुरक्षित स्थान, ईंधन आदि की आवश्यकता होती ही है और बिना इन की पूर्ति के उस के प्राण तक नहीं बच सकते, और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है वे संपत्ति में समावेशित हैं।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि संपत्ति का एक ऐसा अंश है जिस का होना मनुष्य के हित के लिए, उस के प्राणों की रक्षा के लिए, उस की कुशलता और स्वाथ्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। यहां तक तो संपत्ति और जनता के आर्थिक हित एक साथ चलते हैं।

कहा जाता है कि अपार संपत्ति के साथ ही साथ अपार दरिद्रता. असह्य कष्ट जनता को सहने पड़ते हैं। थोड़े से स्वार्थी मनुष्य संपत्ति का एक बड़ा भाग छीन कर मौज उड़ाते हैं और अधिकांश जनता को असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं। अस्तु-संपत्ति और जनता के आर्थिक हित ये दो परस्पर-विरोधी बातें हैं। किंतु तनिक सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलेगा कि जनता के उसी भाग को इस प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं जिन के पास संपत्ति नहीं रहती, जो निर्धन होते हैं। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कष्टों से और संपत्ति से कोई लगाव नहीं है, वरन् जहां संपत्ति नहीं होती वहीं कष्ट होते हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, संपत्ति से मनुष्य के किसी अभाव की, उस-को किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है, और अभाव की, आवश्यकता की पूर्ति होने से सुख-संतोष का होना ज़रूरी है। अस्तु संपत्ति से जो संतोष होता है उस के कारण मनुष्य का कुछ न कुछ हित होता ही है। अस्तु, संपत्ति से जनता का हित होना अनिवार्य है।

कुछ स्वार्थी मनुष्य जनता के एक बड़े भाग से संपत्ति का अधिक भाग छीन कर जनता में दरिद्रता और कष्टों की वृद्धि करते हैं, इस में संपत्ति का कुछ दोष नहीं है। वरन् दोष उस प्रणाली का है जिस के द्वारा कुछ स्वार्थी मनुष्य संपत्ति से समाज के एक बड़े भाग को वंचित रखते हैं। अर्थशास्त्र द्वारा इन सब प्रवृत्तियों, गति-विधियों का ज्ञान प्राप्त करके ये दूषित कृत्य रोके जा सकते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र के द्वारा जनता के हितों की रक्षा होती है।

अर्थशास्त्र में संपत्ति के उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय

के सिद्धांतों का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि समाज के कल्याण के लिए किस प्रकार संपत्ति की अधिक से अधिक वृद्धि की जाय तथा उस के विनिमय तथा वितरण की कैसी व्यवस्था की जाय जिस से समाज का प्रत्येक प्राणी अधिक से अधिक संपत्ति का उपयोग करके अधिक से अधिक तृप्ति-संतोष प्राप्त कर सके, जिस से समाज का अधिक से अधिक हित हो। अर्थशास्त्र के द्वारा दरिद्रता और उस के मूल कारणों को जान कर उन के दूर करने और जनता में अधिक सुख-संतोष को फैलाने से ही समाज का हित-साधन हो सकता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से लाभ

अर्थशास्त्र के अध्ययन से जनता की ग़रीबी के कारण और उसे दूर करने के उपाय तथा जन साधारण के हितों की रक्षा तथा ख़ुशहाली के बढ़ाने में सहायता मिलती है। प्रत्येक देश के सब से महत्वपूर्ण प्रश्नों में से कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जो बिना अर्थशास्त्र की सहायता के हल हो नहीं सकते। अर्थशास्त्र के अध्ययन से दो तरह के लाभ होते हैं:— (१) सैद्धांतिक और (२) सैद्धांतिक।

(१) व्यावहारिक लाभ :—

अर्थशास्त्र संपत्ति से संबंध रखनेवाले मानव-जीवन और समाज के यथार्थ और जीवित तथ्यों का विचार करता है। उसे इन तथ्यों का सावधानी से निरीक्षण करना पड़ता है। तात्कालिक और महत्वपूर्ण दूरवर्ती कारणों की खोज करनी पड़ती है और तब किसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है। इस प्रकार इस शास्त्र के द्वारा सतर्क निरीक्षण, धैर्ययुक्त विश्लेषण और उचित तर्क का अभ्यास पड़ जाता है। सामाजिक जीवन और मानवीय चालकों की पेंचीदगी और इस शास्त्र के यथार्थ विषय के कारण मानवीय शक्तियों के शिक्षण और अभ्युन्नति की दृष्टि से अर्थशास्त्र का दर्जा बहुत ऊँचा हो गया है।

(२) व्यावहारिक लाभ :—

(क) अर्थशास्त्र से उपभोक्ता, उत्पादक, व्यापारी, राजनीतिज्ञ आदि सभी को व्यावहारिक कामों में बहुत अधिक सहायता मिलती है।

(ख) मज़दूरों को अपनी उन्नति और हित के लिए सहयोग, संगठन, पारस्परिक सहायता करने और निर्भरता का अभ्यास करने तथा अपने अधिकारों को समझने और उन के निमित्त देश-काल के अनुसार उचित शस्त्र से काम लेने की शिक्षा मिलती है।

(ग) बहुत ही गूढ़ सामाजिक प्रश्नों को हल करने में सहायता मिलती है। यथा :—(१) आर्थिक स्वतंत्रता से होनेवाले लाभ कैसे बढ़ाए जा सकते हैं और हानियां कैसे घटाई जा सकती हैं। (२) वर्तमान उद्योग-धंधों में व्यैयक्तिक और सामूहिक कार्य के उचित संबंध का प्रश्न जनता के हित की दृष्टि से कैसे हल किया जा सकता है। (३) संपत्ति के उपयोग के उचित रीति संबंधी प्रश्न कैसे हल हो सकते हैं। (४) संपत्ति के और अधिक समान वितरण के, और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के ऊपर कर के भार के प्रश्न कैसे सुलझाए जा सकते हैं। (५) ग़रीबी और उस से होनेवाले अनर्थों के क्या उपाय हो सकते हैं। (६) संसार-व्यापी तेज़ी-मंदी, व्यापारिक और औद्योगिक विशृंखलता, और अव्यवस्था के कारण और उपाय तथा बेकारी के प्रश्नों को कैसे सुलझाया जा सकता है।

अध्याय ३

आर्थिक जीवन का विकास

ऐसा तो बिरला ही मनुष्य होगा जिसे कोई आवश्यकता न हो। हर एक आदमी को किसी न किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती ही है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए काम या प्रयत्न करना पड़ता है। और इस प्रयत्न के परिणाम में तृप्ति और संतोष की प्राप्ति होती है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि आवश्यकता के कारण उद्योग करना पड़ता है और उद्योग के फलस्वरूप तृप्ति और संतोष मिलते हैं। यही अर्थशास्त्र के विषय का मूल आधार है।

आम तौर पर प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग करता है। उद्योग के फलस्वरूप उसे तृप्ति होती है। किंतु वर्तमान समय में प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता, उस के उद्योग और उस से होने-वाली तृप्ति में ऐसा सीधा संबंध नहीं देख पड़ता। एक लोहार लोहे के कीले बनाता है। एक क्लर्क दफ़्तर में लिखा-पढ़ी का काम करता है। किंतु उन को आवश्यकता होती हैं अन्न, वस्त्र, मकान आदि की। अस्तु, उन के उद्योग से और आवश्यकता की वस्तुओं से होनेवाली तृप्ति से कोई भी सीधा संबंध नहीं देख पड़ता।

एक समय था जब प्रत्येक मनुष्य—कुछ देशों में इस समय भी कुछ ऐसे मनुष्य हैं—अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु ख़ुद ही बना लेता था। किंतु अब अधिकतर मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु ख़ुद न बना कर अपनी बनाई हुई वस्तुओं से एक दूसरे की बनाई हुई वस्तुओं को अदल-बदल कर अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके तृप्ति और संतोष प्राप्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ख़ास उद्योग में लग जाता है और अपनी आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए दूसरे मनुष्यों के उद्योगों पर निर्भर रहता है। इस के विकास की कथा इस प्रकार है।

पहली स्थिति—सीधा उद्योग

मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था में आवश्यकताओं और उन की पूर्ति के लिए किए गए उद्योग तथा उस उद्योग से होनेवाली तृप्ति और संतोष में बिल्कुल सीधा संबंध स्पष्ट रूप से रहता है। किसी व्यक्ति को भूख लगती है। वह फल, शाक-पात, मूल, मांस आदि प्राप्त करने का उद्योग करता है, और इन वस्तुओं को खाकर तृप्ति और संतोष पाता है। जब-जब उसे भूख लगती है तब-तब वह इन वस्तुओं को प्राप्त करने और उन से तृप्ति तथा संतोष पाने का उद्योग करता है। प्रत्येक आवश्यकता उद्योग को जन्म देती है। इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं के संबंध में भी सीधे उद्योग और तृप्ति या संतोष का सीधा लगाव रहता है। उसे जब धूप, वर्षा आदि से बचने की आवश्यकता होती थी तो वह ख़ुद झोंपड़ी या गुफा आदि का प्रबंध करता था। इसी तरह उसे बर्तन, गहने, शस्त्रास्त्र, नाव आदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाना पड़ता था। आवश्यकता के कारण उद्योग करना पड़ता था, और उद्योग के फलस्वरूप सीधा संतोष प्राप्त होता था। इसे इस क्रम से व्यक्त कर सकते हैं—

आवश्यकता—उद्योग—संतोष

प्रथम स्थिति में आवश्यकता, उद्योग और संतोष का संबंध सीधा रहता है। बाद को स्थितियों में यह संबंध अप्रत्यक्ष होता है।

दूसरी स्थिति—अप्रत्यक्ष उद्योग

कारणवश किसी दल या जाति का कोई एक व्यक्ति पैर में चोट आने से अपने लिए फल, मूल, मांस, आदि लाने के लिए नहीं जा सकता। वह बैठ कर अपने हाथों से अपने दलवालों के लिए शस्त्र या औज़ार बना देता है। उन के बदले में उस के दलवाले उसे अपने उद्योग से प्राप्त फल आदि दे देते हैं। अस्तु, उस की भोजन की आवश्यकता शस्त्र, औज़ार

आदि के बनाने से पूरी हो जाती है। इस प्रकार आवश्यकता, उद्योग, संतोष का संबंध सीधा न होकर अप्रत्यक्ष होता है। यहीं से श्रम-विभाग प्रारंभ होता है। किसी एक जाति या दल के लोग एक-एक काम को अपना लेते हैं और अपना सारा श्रम और समय उसी में लगा देते हैं। वे अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सीधे उद्योग न कर, जाति के अन्य व्यक्तियों के उद्योग से उत्पन्न वस्तुओं को अपने उद्योग से उत्पन्न की हुई वस्तुओं के बदले में लेकर अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करके संतोष प्राप्त करते हैं। अब उद्योग और संतोष के बीच एक अंतर पड़ जाता है, जो एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु के अदला-बदला (यानी विनिमय) द्वारा पूरा किया जाता है। अस्तु इस स्थिति में नीचे लिखे क्रम से परिवर्तन हो जाता है।

आवश्यकता—उद्योग—विनिमय—संतोष

यानी आवश्यकता के कारण उद्योग किया जाता है। उद्योग से कोई वस्तु उत्पन्न की जाती है। उस वस्तु को किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा उत्पन्न की हुई किसी अन्य ऐसी वस्तु से बदल लिया जाता है, जिस से उस मनुष्य को आवश्यकता की पूर्ति होती है। और तब उस वस्तु के उपभोग द्वारा तृप्ति प्राप्त की जाती है। इस प्रकार उद्योग और तृप्ति के बीच में विनिमय का आ जाना ज़रूरी हो जाता है।

इस स्थिति में एक जाति के कुल व्यक्ति मिल कर सारी जाति के सभी व्यक्तियों की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग करते हैं। किंतु पृथक्-पृथक् प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रत्येक वस्तु नहीं उत्पन्न करता।

तीसरी स्थिति—औद्योगिक दल

इस स्थिति में किसी एक ही काम को एक के अलावा अनेक व्यक्ति सम्मिलन तथा सहयोग से करने लगते हैं। अस्तु, श्रम-विभाग और भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है। कोई एक व्यक्ति अपने हिस्से में पड़े हुए किसी एक

काम को आदि से अंत तक ख़ुद न करके उस के केवल एक भाग को करता है। बाक़ी अन्य भागों को पूरा करने के लिए अन्य व्यक्ति क्रमशः उद्योग करते हैं। एक कुर्सी बनाने के लिए इस स्थिति में एक व्यक्ति पेड़ काट कर लकड़ी तैयार करेगा। दूसरा आदमी उस के पाए वग़ैरः बनाएगा। कोई अन्य व्यक्ति उसे बिनेगा। अन्य उस में पालिश करेगा। इस प्रकार एक कुर्सी तैयार करने के लिए अनेक व्यक्तियों के सहयोग की योजना की जायगी। यहां, कुर्सी तैयार हो जाने पर उस के बदले में मिलने वाली वस्तु या वस्तुएं, उस के बनाने में सहयोग देनेवाले सभी व्यक्तियों में बाँटी जाँयगीं। अस्तु, यहां यह सवाल पैदा हो जायगा कि किस को कितना दिया जाय। इस प्रकार उद्योग और संतोष के बीच में विनिमयवाले अंतर के साथ ही वितरण-संबंधी एक और अंतर जुड़ जाता है। संतोष के पहले विनिमय होगा, फिर वितरण होगा, तब अंत में संतोष की पारी आ सकेगी। अब स्थिति इस प्रकार होगी—

आवश्यकता—	उद्योग—	विनिमय—	(संतोष)—	वितरण—	संतोष
(व्यक्ति की)	दल के सदस्य के रूप में		दल की आवश्यकताओं का		व्यक्ति की आवश्यकता का

इस स्थिति में व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो उद्योग भिन्न-भिन्न व्यक्ति करेंगे वह दल के सदस्य के रूप में एक साथ सम्मिलन तथा सहयोग से होगा। उस उद्योग के फल-स्वरूप जो वस्तु या वस्तुएं उत्पन्न होंगी उन का सामूहिक रूप में विनिमय किया जायगा। उन के बदले में जो वस्तु या वस्तुएं प्राप्त होंगी वे उद्योग करनेवालों में बाँटी जायँगीं; और अंत में प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से की वस्तु का उपभोग करके संतोष प्राप्त करेगा।

किंतु वर्तमान समाज में वस्तुओं का अदला-बदला या विनिमय वस्तुओं से न होकर रुपए-पैसे के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक दल और व्यक्ति के उद्योग का हिस्सा रुपए-पैसे के रूप में प्रकट किया जाता है और संतोष के प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति जो वस्तुएं लेता है, उस के बदले में रुपए-पैसे देता है। इस प्रकार इस चौथी स्थिति में अंतिम संतोष के पहले कम से कम तीन अंतर पड़ जाते हैं। पहले उद्योग द्वारा तैयार वस्तुओं को बेचना पड़ता है, फिर जो उस बिक्री से प्राप्त होता है उसे सहयोगियों में वितरित करना पड़ता है, और अंत में इस हिस्से के विनिमय से वे वस्तुएं प्राप्त की जाती हैं जिन के उपयोग द्वारा तृप्ति और संतोष प्राप्त किए जाते हैं।

चौथी स्थिति : रुपए-पैसे का उपयोग

कहीं-कहीं कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उद्योग करके वे वस्तुएं सीधे उत्पन्न कर लेते हैं जिन के सीधे उपभोग से उन्हें संतोष प्राप्त होता है, और इस प्रकार आवश्यकता उद्योग, और संतोष का सीधा या प्रत्यक्ष संबंध रहता है। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने बग़ीचे में कुछ फूल और तरकारियां उत्पन्न कर लेते हैं। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि इस सीधे संबंध में भी अप्रत्यक्ष संबंध का पलड़ा अधिक भारी पड़ेगा। इस उद्योग में भी बीज, औज़ार आदि प्राप्त करने पड़ते हैं जिन का संबंध अप्रत्यक्ष उद्योग से बहुत अधिक है। इस प्रकार देखने में सीधा संबंध होने पर भी आजकल के उद्योग और संतोष का संबंध अप्रत्यक्ष रहता है।

इस प्रकार वर्तमान स्थिति में उद्योग और संतोष के बीच में एक और स्थिति जोड़ दी गई है; वह है आमदनी। अस्तु अब स्थिति इस प्रकार होगी—

उद्योग—आमदनी—ख़र्च—संतोष

इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग से आमदनी होती है और उसे ख़र्च

करके संतोष प्राप्त किया जाता है। आमदनी ही ख़र्च करने की शक्ति होती है और यह ख़र्च करने की शक्ति आमदनी के परिमाण पर अवलंबित होती है। अस्तु, कहा जा सकता है कि—(१) आमदनी ही अर्थशास्त्र का केंद्रीय विषय है; और (२) (अ) उद्योग के विषय तथा काल में और आमदनी के परिमाण में (आ) और किसी ख़ास समय और स्थान में उस से प्राप्त होने वाली आय तथा आय से प्राप्त होनेवाले संतोष के परिमाण में घनिष्ट संबंध है।

अर्थशास्त्र में इन्हीं सब बातों का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक शास्त्र में कुछ ख़ास शब्द कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक शास्त्र के विषय को समझने के लिए उस शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को समझ लेना बहुत ज़रूरी होता है। इस कारण अगले अध्याय में कुछ परिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है।

अध्याय ४

कुछ पारिभाषिक शब्द

जिन भौतिक चीज़ों पर किसी व्यक्ति का स्वत्व या क़ब्ज़ा होता है उसे वस्तु कहते हैं। जिन चीज़ों को प्राप्त करने की मनुष्य को चाह होती है, जिन से उसे तृप्ति और संतोष होता है उन्हें अर्थशास्त्र में 'वस्तु' कहते हैं। ऐसी वस्तुएं दो तरह की होती हैं—(१) भौतिक और (२) अभौतिक। जिन चीज़ों को हम देख-छू सकते हैं और जिन का हम विनिमय कर सकते हैं उन्हें भौतिक कहते हैं, जैसे ज़मीन, जल, अन्न, फल, मकान, मशीन आदि। किसी वस्तु के रखने, प्राप्त करने, उपयोग और उपभोग में लाने, उस से लाभ उठाने, उसे भविष्य में प्राप्त करने आदि के स्वत्व और अधिकारों की भी गणना भौतिक वस्तुओं में की जाती है। अस्तु, क़र्ज़ के बांड, तमस्सुक, पब्लिक और प्राइवेट कंपनियों के हिस्से, ठेके और एकाधिकार, पेटेंटराइट, कापी-राइट, सड़क, पुल आदि के इस्तेमाल के अधिकार, यात्रा करने, उत्तम दृश्यों से आनंद प्राप्त करने आदि के अधिकार और अवसर आदि भी भौतिक वस्तुओं में सम्मिलित माने जाते हैं।

वस्तु

जिन वस्तुओं को हम देख-छू नहीं सकते उन वस्तुओं को अभौतिक (वैयक्तिक) कहते हैं, जैसे गुडविल, सौहार्द्र, मित्रता, प्रसिद्धि।

अभौतिक वस्तुओं के दो विभाग हैं, आभ्यंतरिक और बाह्य। आभ्यंतरिक में उन सब गुणों और शक्तियों का समावेश हो जाता है जो प्रत्येक मनुष्य के अंदर पाई जाती हैं, जैसे काम करने, गाने, गाना सुनने और उस से आनंद उठाने की शक्ति आदि। मित्रता, गुडविल, व्यापारिक संबंध और इसी तरह के अन्य संबंध जिन से दूसरों का संबंध होता है

बाह्य वस्तुओं के अंतर्गत आ जाते हैं।

विनिमय की दृष्टि से वस्तुएं दो तरह की होती हैं, विनिमय-साध्य और अविनिमय-साध्य। जो वस्तुएं बेची और ख़रीदी जा सकती हैं; वे विनिमय-साध्य कही जाती हैं, और वे हस्तांतरित होकर, एक व्यक्ति के क़ब्ज़ा से निकल कर, दूसरे के क़ब्ज़ा में जा सकती हैं। खेती की उपज, कारख़ानों में बनने वाली चीज़ें, कंपनियों के हिस्से, व्यापार की गुडविल विनिमयसाध्य हैं। जो वस्तुएं खरीदी-बेची नहीं जा सकती उन्हें अविनिमय-साध्य कहते हैं; जैसे मनुष्य की आभ्यंतरिक शक्तियां आदि।

वस्तुओं का विभाजन एक और दृष्टि से किया जा सकता है, यानी नैसर्गिक और स्वत्व-साध्य। जो वस्तुएं प्रकृति की देन हैं, और जिन में मनुष्य के श्रम का कुछ भी हाथ नहीं है, जिन पर किसी को मिल्कियत और स्वत्व स्थापित नहीं रहता, वे नैसर्गिक वस्तुएं कहलाती हैं, जैसे प्रारंभिक स्थिति में प्राप्त भूमि, जंगल, बन, पर्वत, नदी, झरने। जिन पर मनुष्य की मिल्कियत और स्वत्व हो, जो वस्तुएं मनुष्य के श्रम के कारण प्राप्त हों, उन्हें स्वत्व-साध्य वस्तुएं कहते हैं; जैसे कृषि, कारख़ाने आदि के पदार्थ।
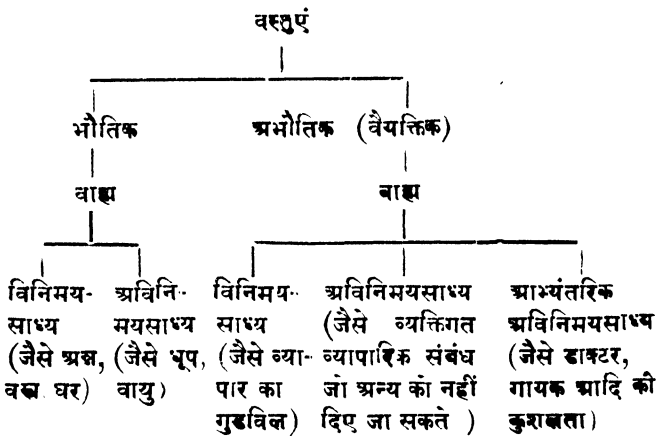
संपत्ति

आम तौर पर अर्थशास्त्र के अनुसार संपत्ति में उन सभी वस्तुओं की गणना की जाती है जो उपयोगी हों (जिन से आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति हो) और जिन की संख्या या परिमाण अपरिमित न हो, यानी जिन का विनिमय हो सके।

अर्थशास्त्र में 'संपत्ति' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है—

(१) वे सभी वस्तुएं जो उपयोगी हों और जिन से आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति हो, संपत्ति में समावेशित होती हैं। अस्तु वायु, अन्न, नमक, धातुएं, जवाहिरात आदि पदार्थ और डाक्टरों, गायकों, वकीलों, गृह-सेवकों आदि की सेवाएं जिन से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति होती है, संपत्ति मानी जायँगी।

(२) वे सब वस्तुएं जिन से आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति हो और जो संख्या या परिमाण में परिमित हों संपत्ति मानी जायँगी। यहां उपयोगिता के साथ ही परिमाण में परिमितता और जोड़ दी गई है।

(३) वे ही वस्तुएं संपत्ति मानी जाती हैं जो भौतिक पदार्थ हों, जिन पर मनुष्य की मिल्कियत और स्वत्व हो, और जो मालिक से बाह्य हों। मिल्कियत और स्वत्व में उपयोगिता समावेशित है, क्योंकि बिना उपयोगिता के कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को अपनाने की चेष्टा न करेगा; और जिन भौतिक पदार्थों पर मिल्कियत क़ायम की जायगी वे परिमाण में परिमित होंगे। अस्तु इस परिभाषा के अनुसार संपत्ति में उन सभी पदार्थों का समावेश नहीं किया जाता जो (अ) अभौतिक हैं और (आ) जिन पर किसी को मिल्कियत न हो, जैसे गल्फ़स्ट्रीम, वर्षा, वायु, आदि।

(४) बहुत ही संकुचित भाव से संपत्ति में केवल उन्हीं वस्तुओं का समावेश किया जाता है जो (अ) भौतिक हों, और (आ) विनिमयसाध्य हों। विनिमयसाध्यता में उपयोगिता, परिमाण में परिमितता, और हस्तांतरितता तथा मिल्कियत-स्वत्व का समावेश हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार वे सब पदार्थ जो अभौतिक तथा अविनिमय-साध्य हों संपत्ति में

सम्मिलित होने से छूट जाते हैं।

संपत्ति का विचार करते समय आवश्यकताओं का ध्यान रखना बहुत ही ज़रूरी है। वही एक वस्तु आवश्यकता के कारण एक समय और एक स्थान में संपत्ति होगी और दूसरे में संपत्ति न हो सकेगी। एक जंगली, अपढ़ मनुष्य के हाथ में पड़ कर एक बढ़िया से बढ़िया पुस्तक संपत्ति नहीं मानी जायगी, क्योंकि उस पुस्तक का उस अपढ़, जंगली मनुष्य को कुछ भी उपयोग न जान पड़ेगा। किंतु यदि वह उसे बदल कर उस के स्थान में कुछ खाने के पदार्थ या शिकार के सामान पा सके तो ज़रूर ही वह पुस्तक उस के लिए भी संपत्ति ठहरेगी। हिमालय पर का बर्फ़ और रेगिस्तान में पड़ी हुई बालू संपत्ति न होगी किंतु यदि वही बर्फ़ और बालू बंबई शहर में लाई जा सके तो निस्संदेह संपत्ति मानी जायगी।

(५) किसी भी वस्तु के संपत्ति होने के लिए चार बातें जरूरी हैं:— (अ) उपयोगिता, (आ) स्वत्व-साध्यता, (इ) वाह्य होना, और (ई) परमाण में परिमित होना। वर्तमान युग में ये सब बातें विनिमय-साध्यता में समावेशित हो जाती हैं। अस्तु जो भी वस्तु विनिमय-साध्य होगी वही संपत्ति में समावेशित हो सकेगी। यदि कोई वस्तु उपयोगी न होगी तो कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त करना ही न चाहेगा। यदि वह स्वत्व-साध्य न होगी तो कोई उसे प्राप्त ही न कर सकेगा। यदि वह वाह्य न होगी तो कोई भी व्यक्ति उसे अपने से पृथक् करके हस्तांतरित न कर सकेगा। यदि वह वस्तु परिमाण में परिमित न होगी तो कोई भी व्यक्ति उस के बदले में कोई भी दूसरी वस्तु देने के लिए तैयार न होगा।

(६) संपत्ति में दो तरह की वस्तुएं समावेशित हैं :—(अ) वे भौतिक पदार्थ जिन पर किसी व्यक्ति का क़ानूनन या प्रथा के अनुसार व्यक्तिगत स्वत्व हो या स्वामित्व का अधिकार हो, जैसे ज़मीन, घर, अन्न, वस्त्र, मशीन, जवाहिरात, कंपनियों के हिस्से, तमस्सुक, दस्तावेज़ आदि। (आ) वे अभौतिक पदार्थ जो किसी व्यक्ति के बाहर के (वाह्य) हों

और जो उसे भौतिक वस्तुओं के प्राप्त करने में प्रत्यक्ष रूप से सहायता दें, जैसे गुडविल, व्यावसायिक प्रेक्टिस आदि। किंतु इन अभौतिक पदार्थों में उन व्यक्तिगत गुणों और शक्तियों का भी समावेश न होगा जो प्रत्यक्ष रूप से जीविकोपार्जन में उस को सहायक होती हैं, क्योंकि वे उस के अंदर की चीज़ें हैं।

व्यक्तिगत संपत्ति में उन सभी गुणों, शक्तियों, विभूतियों, योग्यताओं, स्वभावों का समावेश माना जाता है जो मनुष्य को औद्योगिक क्षमता प्रदान करती हैं। किंतु इन गुणों को वह हस्तांतरित नहीं कर सकता। इन के द्वारा वह ऐसी वस्तुएं तैयार कर सकता है जो दूसरों के उपयोग में आ सकें। अस्तु इन गुणों को वह उपयोगी पदार्थों के उत्पादन के निमित्त काम में ला सकता है। इस प्रकार उस के ये आभ्यंतरिक गुण उसे संपत्ति प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। किंतु ये गुण ख़ुद संपत्ति नहीं हैं। जो वस्तुएं संपत्ति में समावेशित हो सकती हैं वे सदा बाह्य होती हैं, मनुष्य के अंदर नहीं।

प्रत्येक समाज के प्रत्येक व्यक्ति की संपत्ति दो तरह की होती है:—

व्यक्तिगत और सामूहिक संपत्ति

(अ) वे भौतिक और अभौतिक वस्तुएं जिन पर उन का निजी व्यक्तिगत स्वत्व और अधिकार होता है और जिन पर उस के किसी पड़ोसी का कोई भी अधिकार नहीं माना जाता। (आ) वे भौतिक और अभौतिक वस्तुएं जिन पर दूसरों के साथ उस का साझे का स्वत्व होता है, और जिन का उपयोग और उपभोग वह दूसरों के साथ समान रीति से कर सकता है। इन वस्तुओं पर किसी भी एक व्यक्ति का निजी व्यक्तिगत अधिकार या स्वामित्व नहीं रहता। जैसे सड़कें, पुल, नदियां, जंगल, पहाड़, सड़क पर की रोशनी, जलवायु, प्राकृतिक सौंदर्य, गैसवर्क्स, वाटरवर्क्स, नहर, पार्क। इस तरह के साझे के स्वत्ववाली वस्तुएं सामूहिक या सामाजिक संपत्ति मानी जाती हैं।

यदि दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति ऐसे स्थान में रहता है जहां का जलवायु, सड़कें, रोशनी, सफ़ाई, जल, सैर-मनोरंजन का प्रबंध उत्तम हो; जहां अख़बार सस्ते हों, पुस्तकें आसानी से प्राप्त हो सकें तो यह निश्चित है कि समान संपत्ति के मालिक होने पर भी ऐसा व्यक्ति अधिक संपत्तिवाला माना जायगा। क्योंकि उसे अधिक तृप्ति-संतोष के साधन प्राप्त होते हैं।

राष्ट्रीय संपत्ति

किसी देश के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की निजी व्यैयक्तिक संपत्ति और जनता की सम्मिलित सामूहिक संपत्ति मिल कर राष्ट्रीय संपत्ति मानी जाती है। राष्ट्रीय संपत्ति में नीचे लिखी वस्तुएं समावेशित हैं: (१) समस्त जनता की व्यैयक्तिक निजी संपत्ति तथा सम्मिलित सामूहिक संपत्ति। (२) सभी तरह की सार्वजनिक, भौतिक वस्तुएं, जैसे पार्क, म्युनिसिपल गैस-वर्क्स तथा वाटर-वर्क्स आदि। (३) देश भर की नैसर्गिक वस्तुएं, जैसे, नदियां, पर्वत, समुद्र, बन। (४) स्वतंत्र, सुसंगठित, सुव्यवस्थित राष्ट्रीय तथा सामाजिक संगठन सरीखी अभौतिक वस्तुएं तथा वे आभ्यंतरिक गुण तथा शक्तियां और योग्यता-क्षमता जो किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र के मुक़ाबिले में अधिक क्षमताशील साबित करती हैं। (५) व्यापारिक, व्यावसायिक तथा अन्य औद्योगिक संबंध, सुख्याति, साख आदि जिन के द्वारा राष्ट्र के व्यापार, व्यवसाय, उत्पादन आदि में सहायता मिलती है।

राष्ट्रीय संपत्ति की गणना करते समय उन सब ऋणों और लेन-देनों का ख़याल न किया जायगा जो उस राष्ट्र के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का एक-दूसरे पर देना-पावना रहता है। क्योंकि ऐसे देने-पावने आपस में कटकुट कर बराबर हो जाते हैं। किंतु यदि उस राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से कुछ पाना है तो उसे राष्ट्रीय संपत्ति में जोड़ना पड़ेगा और उस राष्ट्र को जो कुछ भी अन्य राष्ट्रों के देना है उसे राष्ट्रीय संपत्ति में से घटाना पड़ेगा।

संसार के समस्त भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की संपत्ति तथा वह संपत्ति जो

सार्वभौमिक संपत्ति

उन राष्ट्रों में से सभी या कुछ के सम्मिलित अधिकार में है सार्वभौमिक संपत्ति मानी जायगी।

उपयोगिता

किसी वस्तु के उस गुण को जो मनुष्य की आवश्यताओं की पूर्ति और तृप्ति करके संतोष दे उपयोगिता कहते हैं। उपयोगिता के कारण ही किसी वस्तु की चाह होती है। जिस वस्तु की जितनी ही अधिक उपयोगिता प्रतीत होगी उतनी ही अधिक उस की चाह होगी, और उसी हिसाब से अन्य वस्तुएं उस के बदले में ली-दी जा सकेंगी। अस्तु, किसी वस्तु के विनिमय में उपयागिता का विचार प्रधान-रूप से किया जाता है। उपयोगिता ही अदले-बदले या विनिमय का निपटारा करती है।

मूल्य

जब दो वस्तुओं का विनिमय या अदला-बदला किया जाता है तो एक वस्तु का जितना परिमाण दूसरी वस्तु के बदले में दिया जायगा उसे (परिमाण) को दूसरी वस्तु का मूल्य कहते हैं। यदि एक कटहल के बदले में २५ आम दिए जायँ तो एक कटहल का मूल्य २५ आम माना जायगा। यह तभी होगा जब एक कटहल की उपयोगिता २५ आम की उपयोगिता के बराबर मानी जाय। कभी-कभी मूल्य का अर्थ उपयोगिता भी लगाया जाता है, पर अर्थशास्त्र में यह प्रयोग उचित नहीं है।

द्रव्य, रुपया-पैसा

द्रव्य वह वस्तु है जो आम तौर पर वस्तुओं के विनिमय के निमित्त माध्यम के काम में लाया जाय। पूर्वकाल में वस्तुओं के अदला-बदला करने के लिए बड़ी परेशानी उठानी पड़ती थी। यदि किसी के पास गायें होतीं और वह खाने की वस्तु प्राप्त करना चाहता तो उसे ऐसे मनुष्य को खोजना पड़ता जिसे उस की गाय की चाह होती और जो गाय के बदले में इच्छित खाने की वस्तु दे सकता। और ऐसे मनुष्य के मिल जाने पर भी कौन कितनी वस्तु बदले में दे इन परिमाणों के तय करने में बड़ी अड़चन पड़ती। इन सब कठिनाइयों को

दूर करने के लिए, विनिमय की सरलता और सुभीते के लिए एक ऐसी वस्तु का व्यवहार किया जाने लगा जिस के बदले में सभी चीज़ें ली और दी जा सकें और जिस के दिए जाने से कोई भी वस्तु प्राप्त की जा सके। इसी को द्रव्य कहते हैं। वर्तमान समय में संसार के व्यापारिक, व्यावसायिक तथा व्यावहारिक कार्य और विनिमय द्रव्य द्वारा होते हैं, और वस्तुओं का मूल्य द्रव्य में प्रकट किया जाता है।

क़ीमत

जब किसी वस्तु की इकाई का मूल्य द्रव्य में प्रकट किया जाता है तो उसे क़ीमत कहते हैं। किसी एक किताब का मूल्य दो रुपया है तो कहा जायगा कि उस किताब की क़ीमत दो रुपया है।

संपत्ति में जिन वस्तुओं का समावेश किया जाता है वे चार प्रकार की मानी जाती हैं, यथा—(१) आवश्यक वस्तुएं, (२) आराम की वस्तुएं, (३) विलासिता की वस्तुएं, और (४) कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएं।

आवश्यक वस्तुए वे वस्तुएं हैं जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़रूरी हैं जिन का पूरा किया जाना किसी तरह से टाला ही नहीं जा सकता, जैसे भूख, प्यास, रक्षा।

इन के भी दो विभाग हैं। एक तो वे आवश्यकताएं जो जीवन के लिए जरूरी हैं, जैसे भूख के लिए भोजन। ऐसी आवश्यकताएं जीवन-रक्षक आवश्यकताएं कहलाती हैं और इन की पूर्ति करने वाली वस्तुएं जीवन-रक्षक आवश्यक वस्तुएं कहलाती हैं, जैसे अन्न, पेय, वस्त्र आदि।

किंतु ऐसी भी आवश्यकताएं हैं जिन की पूर्ति से मनुष्य की निपुणता क़ायम रहती और बढ़ती है। यदि उन की पूर्ति न की गई तो निपुणता घट जाती है और उत्पादन में कमी आ जाती है। ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली वस्तुओं को निपुणतादायक आवश्यक वस्तुएं कहते हैं।

कुछ ऐसी भी वस्तुएं हैं जो जीवन या निपुणता के लिए तो ज़रूरी नहीं हैं, किंतु किसी ख़ास समाज में चलने के कारण वे इतनी ज़रूरी

समझी जाती हैं कि जीवन-रक्षक और निपुणतादायक आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी करके भी उन वस्तुओं के उपभोग का प्रयत्न किया जाता है। ये वस्तुएं कृत्रिम आवश्यक वस्तुएं कहलाती हैं; जैसे, ख़ास तरह की पोशाक, तंबाकू आदि।

ऐसी वस्तुएं जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं जो जीवन, निपुणता के लिए तो जरूरी नहीं हैं पर जिन से आराम मिलता है और शारीरिक-मानसिक सुख-संतोष के कारण कुछ निपुणता बढ़ती है, आराम की वस्तुएं कही जाती हैं।

वे वस्तुएं जिन के उपयोग से आनंद तो आता है पर निपुणता घटती है विलासिता की वस्तुएं कही जाती हैं।

अध्याय ५

आर्थिक कार्य और अर्थशास्त्र के विभाग

मनुष्य न तो किसी भौतिक पदार्थ को उत्पन्न ही कर सकता है और न नष्ट ही। वह किसी भौतिक पदार्थ के रूप या उस की बनावट के क्रम को इस तरह बदल सकता है कि उस पदार्थ की उपयोगिता कम या ज़्यादा हो सके। वह मिट्टी को लेकर उस की बनावट के क्रम को इस तरह बदल सकता है कि बर्तन के रूप में वह आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो। इस के अलावा वह किसी वस्तु को इस प्रकार रख सकता है कि प्रकृति द्वारा उस के रूप आदि में परिवर्तन हो जाय और वह अधिक उपयोगी हो सके, जैसे बीज को ऐसे समय में ऐसे स्थान में डाल दे कि प्राकृतिक शक्तियां उसे पेड़-पौधे के रूप में पहले से अधिक उपयोगी बना दें। अर्थशास्त्र में इसी को उत्पत्ति या उत्पादन कहते हैं।

उत्पत्ति में नीचे लिखे परिवर्तन समावेशित हैं :-

(१) आकार तथा रूप-संबंधी परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं का उत्पादन, जैसे मिट्टी से घड़ा या लकड़ी से टेबिल-कुर्सी बना कर मिट्टी या लकड़ी के आकार में ऐसा परिवर्तन कर देना जो अधिक उपयोगी हो।

(२) समय-संबंधी परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं को उत्पन्न करना। जिस समय कोई एक वस्तु कम उपयोगी हो उस समय उसे सुरक्षित रख कर ऐसे समय तक क़ायम रखना कि वह वस्तु अधिक उपयोगी हो सके। जैसे फ़सल के समय फलों और अन्न को रख छोड़े और ऐसे समय के लिए सुरक्षित रक्खे जब वे वस्तुएं कम प्राप्त होती हैं।

(३) स्थान-संबंधी परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं को उत्पन्न करना। ऐसे स्थान से जहां कोई एक वस्तु कम उपयोगी हो ऐसे दूसरे स्थान में ले जाना जहां वह अधिक उपयोगी हो। रेगिस्तान से बालू ऐसे स्थान में ले जाय जहां वह मकान, शीशा आदि बनाने के लिए ज़रूरी हो।

(४) अधिकार-परिवर्तन—व्यापार, विनिमय, वितरण, हस्तांतरितकरण आदि के द्वारा ऐसे मनुष्यों के पास से जिन के पास वस्तुएं कम उपयोगी हैं, ऐसे मनुष्यों के पास कर दी जायँ जिन के पास वे वस्तुएं अधिक उपयोगी हों।

(५) विज्ञप्ति करना। वस्तुओं के संबंध में लोगों को ज्ञान कराना।

(६) सेवाओं द्वारा उपयोगिता प्रदान करना। घरेलू नौकर, मास्टर, डाक्टर, गायक, वकील, जज, सिपाही, पुलिसमैन तमाशा दिखानेवाले आदि अपनी-अपनी सेवाओं द्वारा दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते और उन्हें उत्पत्ति करने के लिए अधिक उपयुक्त बनाते हैं, इस कारण इन सब के कार्य उत्पत्ति में समावेशित होते हैं। किंतु इन के कार्यों के द्वारा वस्तुओं के रूप आदि में किसी प्रकार का भौतिक परिवर्तन नहीं होता, इस कारण सेवा के कार्यों द्वारा जो उपयोगिता-वृद्धि होती है उसे अभौतिक उत्पत्ति कहते हैं। रूप, स्थान आदि के परिवर्तन द्वारा जो उत्पत्ति होती है उसे भौतिक उत्पत्ति कहते हैं।

उत्पत्ति यानी उपयोगिता के उत्पादन में नीचे लिखे कार्य सम्मिलित हैं:—(१) भूमि, खान, समुद्र नदी से उन वस्तुओं का प्राप्त करना जो वहां पाई जाती या उत्पन्न होती हैं; (२) कारखानों आदि में वस्तुओं का निर्माण; (३) वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले आना ले जाना; (४) व्यापार-व्यवसाय द्वारा वस्तुओं का वितरण; (५) उपभोक्ताओं को सीधे सेवाएं समर्पित करना, जैसे गाना।

उपर्युक्त उत्पादन कार्यों में से किसी के लिए भी प्रयत्न या उद्योग

श्रम करना श्रम कहलाता है।

दिमाग़ या शरीर का कोई भी उद्योग जो पूर्णतः या अंशतः उस उद्योग से प्रत्यक्ष रूप में होनेवाली तृप्ति और संतोष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के लाभ के उद्देश्य से किया जाय, श्रम कहलाता।

जो खिलाड़ी केवल आनंद, मनोरंजन या समय काटने के लिए शतरंज अथवा फ़ुटबाल खेलेगा, उस का उद्योग अर्थशास्त्र के विचार से 'श्रम' न होगा। पर जो खिलाड़ी पुरस्कार या तनख़्वाह लेकर जीविका के लिए खेलेगा उस का उद्योग श्रम माना जायगा।

इस परिभाषा के अनुसार प्रायः सभी उद्योगों की गणना किसी न किसी रूप में 'उत्पादक श्रम' में होगी। केवल वे उद्योग जिन से किसी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति न हो सकी हो 'अनुत्पादक श्रम माने जायँगे। कुछ अर्थशास्त्री गृह-सेवकों, गायकों, अध्यापकों, व्यापारियों आदि के श्रम को 'उत्पादक श्रम' नहीं मानते थे। पर अब इन सब के उद्योगों को 'उत्पादक श्रम' माना जाता है, क्योंकि प्रत्येक के उद्योग से किसी न किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न होती है, जो किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति और तृप्ति करके संतोष देती है।

उत्पादन का ठीक उलटा उपभोग है। मनुष्य केवल उपयोगिता का

उपभोग

उपभोग करता है। वह किसी वस्तु को नष्ट नहीं कर सकता, किंतु उपभोग द्वारा किसी वस्तु की उपयोगिता को नष्ट कर देता है। उपयोगिता का उपयोग करने में वह वस्तु की बनावट के क्रम को इस प्रकार उलट-पलट देता है कि उस की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। ऐसा भी होता है कि कुछ वस्तुओं के उपभोग करते समय मनुष्य ख़ुद तो उन की बनावट के क्रम में अधिक परिवर्तन नहीं करता, किंतु उस के उपभोग के अवसर में 'काल' या 'समय' उस वस्तु की बनावट के क्रम को नष्ट करके उस की उपयोगिता नष्ट कर देता है।

अर्थशास्त्र में मुख्यतः मनुष्यों की आवश्यकताओं और उन आवश्य-

अर्थशास्त्र के विभाग

कताओं की पूर्ति के लिए किए गए उद्योगों पर विचार किया जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पत्ति की जाती है। उत्पन्न वस्तुओं के उपभोग द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति कर के तृप्ति, संतोष और सुख प्राप्त किए जाते हैं। विभिन्न मनुष्य अपने-अपने उद्योगों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का आपस में विनिमय या अदला-बदला करके उपभोग की विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। एक साथ मिल कर उत्पादन कार्य करनेवाले अनेक व्यक्ति उत्पादन या प्राप्त वस्तुओं को आपस में बाँटते या वितरण करते हैं; और तब बाद में वितरण की हुई वस्तुओं का उपभोग करते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र में मुख्यतः उत्पत्ति, विनिमय, वितरण, उपभोग पर विचार किया जाता है। इस कारण अर्थशास्त्र के मुख्य चार विभाग किए जा सकते हैं।

प्राचीन पंडितों के अनुसार अर्थशास्त्र के मुख्य चार विभाग माने जाते हैं: (१) उत्पत्ति; (२) उपभोग ; (३) विनिमय; (४) वितरण। किंतु वर्तमान समय में; (५) द्रव्य तथा बैंकिंग; (६) अंतरराष्ट्रीय व्यापार; (७) क्रय-विक्रय; (८) राजस्व; (९) औधोगिक संगठन, आदि भी अर्थशास्त्र के विभाग माने जाने लगे हैं। इस का कारण यही है कि व्यावहारिक रूप से ये सभी विषय अर्थशास्त्र के अंतर्गत आ जाते हैं। वर्तमान काल में प्रत्येक विषय के अंगों तथा उपांगों के संबंध में इतनी अधिक खोज, इतना गहरा अध्ययन किया जा रहा है कि प्रत्येक विषय के अंग अपना स्वतंत्र, शास्त्रीय रूप प्राप्त कर रहे हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक का पृथक् प्रतिपादन अनिवार्यरूपेण आवश्यक हो गया है। इसी कारण इस पुस्तक में मुख्य रूप से उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय तथा वितरण का ही सविस्तर अध्ययन किया गया है। वैसे तो द्रव्य तथा बैंकिंग, अंतराष्ट्रीय व्यापार और क्रयविक्रय अर्थशास्त्र के विनिमयवाले विभाग में समावेशित हो जाते हैं और औद्योगिक संगठन उत्पत्ति के अंतर्गत आ जाता है।

उत्पत्ति

अध्याय ६

उत्पत्ति और उत्पत्ति के साधन

इस का वर्णन किया जा चुका है कि मनुष्य किसी भौतिक पदार्थ को न तो बना ही सकता है और न नष्ट ही कर सकता है। वह प्रत्येक पदार्थ की केवल उपयोगिता बढ़ा-घटा सकता है। अर्थशास्त्र में उपयोगिता-वृद्धि को ही उत्पत्ति कहते हैं।

उत्पत्ति के लिए कुछ साधनों की ज़रूरत पड़ती है। उत्पत्ति के साधनों से अभिप्राय उन वस्तुओं से है जिन का उत्पादन-कार्य के लिए होना ज़रूरी है, यानी जिन के बिना उत्पादन-कार्य हो ही न सके।

कोई भी काम बिना श्रम के नहीं किया जा सकता। श्रम मनुष्य करता है। साथ ही श्रम करनेवाले के लिए यह ज़रूरी है कि वह किसी स्थान पर श्रम करे। उसे आधार की ज़रूरत होती है। उसे बैठने आदि के लिए भूमि की ज़रूरत होती है। फिर काम करने के लिए औज़ार और सहायक वस्तुओं की ज़रूरत होती है जो पूँजी कहलाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रकार के काम के लिए कम से कम भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों की ज़रूरत तो पड़ती ही है। पूर्वकाल के अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति के लिए भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों को ज़रूरी मानते थे। प्रत्येक प्रकार के उत्पादन के लिए भूमि, श्रम और पूँजी तीनों की ज़रूरत पड़ती है।

स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि

एक घसियारा बन से बस्ती में घास लाता है। बन से बस्ती में लाए जाने के कारण घास अधिक उपयोगी हो जाती है क्योंकि बस्ती में घास जानवरों के खिलाने के काम में आती है। घसियारे को घास लाने में श्रम करन

पड़ता है। साथ ही उसे बन में घास प्राप्त होती है। वन भूमि का भाग है। बन से बस्ती में घास लाने के लिए उसे बाँधने के लिए रस्सी या कपड़ा चाहिए। साथ ही घास काटने के लिए हँसिया या छीलने के लिए खुरपी की ज़रूरत पड़ेगी, जिस से थोड़े समय और श्रम में वह अधिक से अधिक घास ला सके। घसियारा अपनी आमदनी में से थोड़े-थोड़ा बचा कर रस्सी, कपड़ा, हँसिया आदि लेगा। अस्तु, रस्सी, कपड़ा, हँसिया उस की पूँजी होगी। इस प्रकार उसे स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि के लिए भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों की आवश्यकता होगी।

रूप-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि

कच्चे माल के पैदा करने और तैयार माल के बनाने में भी भूमि, श्रम, पूँजी इन तीन साधनों की ज़रूरत पड़ती है। यदि कृषि द्वारा कच्चा माल तैयार किया जायगा तो बोने के लिए भूमि की ज़रूरत होगी ही। साथ ही बोने-काटने आदि में श्रम करना ही पड़ेगा। फिर बीज, हल आदि के रूप में पूँजी की भी ज़रूरत पड़ेगी। इसी तरह तैयार माल के बनाने में भी माल बनाने के लिए कारख़ाना स्थापित करने के निमित्त स्थान की ज़रूरत होगी, बनानेवाले मनुष्यों के रूप में श्रम की और औज़ार और कच्चे माल के रूप में पूँजी की ज़रूरत पड़ेगी। अस्तु, यहां भी भूमि, श्रम, पूँजी इन तीन साधनों की ज़रूरत पड़ेगी। एक लोहार कीलें बनाता है। उसे एक स्थान की ज़रूरत होगी, जहां बैठ कर वह कीलें गढ़े। साथ ही उसे श्रम करके बनाना पड़ेगा। और कीलें बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में लोहे और औज़ारों के रूप में पूँजी की ज़रूरत होगी।

इसी प्रकार आवागमन के कामों में भी एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में उस भूमि की जिस पर से जाया जायगा ज़रूरत होगी। कोई ऐसी सवारी आदि की ज़रूरत होगी जिस पर रख कर या जिस के द्वारा वस्तु ले जाई जाय। अस्तु, वह पूँजी होगी। और कोई मनुष्य श्रम करके ले जाने के काम को करेगा, जो श्रम होगा। इस प्रकार आवागमन में

में भी श्रम, भूमि, पूँजी, इन तीन ही साधनों की ज़रूरत है।

एक सितार बजाने-वाला सितार बजा कर लोगों को ख़ुश करता है। उस की इस सेवा के लिए उसे धन प्राप्त होता है। यह अभौतिक उत्पत्ति है। इस के लिए भी उसे बैठने के लिए स्थान के रूप में भूमि, बाजे के रूप में पूँजी और प्रयत्न के रूप में श्रम की ज़रूरत पड़ती है। अस्तु, अभौतिक उत्पत्ति में भी भूमि, श्रम, पूँजी इन तीन ही साधनों की आवश्यकता होती है। अध्यापक, डाक्टर, न्यायाधीश, गायक, सिपाही आदि के सेवा-कार्य इसी प्रकार की अभौतिक उत्पत्ति में सम्मिलित हैं।

अभौतिक उत्पत्ति

आजकल के अर्थशास्त्री इन तीन साधनों में प्रबंध और साहस या जोखिम इन दो और साधनों को जोड़ कर उत्पत्ति के साधनों की पूरी संख्या पाँच मानते हैं। कभी-कभी प्रबंध और साहस को एक में मिला कर व्यवस्था अथवा संगठन शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर अधिकतर प्रबंध तथा साहस का वर्णन पृथक्-पृथक् ही रहता है।

आजकल उद्योग-धंधों तथा कल-कारख़ानों का युग है। बहुत से आदमी एकत्र कर कारख़ानों में धनोत्पत्ति का कार्य संचालित किया जाता है। एक कारख़ाने में काम करने-वाले अनेक मनुष्यों के भिन्न-भिन्न कामों को निर्धारित करना; कब, कौन, कहां, कैसे, कितना और क्या काम करेगा; किस मशीन, किस कच्चे माल आदि का कैसा, कब, किस प्रकार उपयोग किया जायगा; किस स्थान पर किस समय क्या कैसे होगा; पूँजी कौन, कितनी, किस प्रकार की और किस तरह काम में लाई जायगी; माल कैसा, कितना, कब, कहां बनेगा और कब, कहां, किस प्रकार, कितने में बिकेगा; उस के लिए कैसे, कब और किस के द्वारा विज्ञापन किया जायगा; रेल, मोटर, गाड़ी आदि किस सवारी से, किस मंडी में, कैसे भेजा जायगा आदि-आदि के संबंध में सब बातें तय करना उत्पत्ति में प्रबंध कहलाता है। किसी एक मनुष्य को इन

प्रबंध

सब बातों का प्रबंध करना पड़ता है। उसी को प्रबंधक कहते हैं। यद्यपि प्रबंध एक प्रकार से श्रम का ही एक विभाग है, तथापि आजकल के उत्पादन-कार्य में इस का महत्व इतना बढ़ गया है कि इसे एक स्वतंत्र और पृथक् साधन ही मान लिया गया है। प्रबंध द्वारा भूमि, श्रम, पूँजी के उपयोग का निरीक्षण और नियंत्रण किया जाता है।

साहस

आजकल के औद्योगिक जीवन के कारण यह ज़रूरी हो गया है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के कारण होनेवाले लाभ-हानि के जोखिम की ज़िम्मेदारी लेने के लिए कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह तैयार हो। यह इस लिए कि उत्पत्ति तथा अंतिम उपभोग के बीच में बहुत लंबा अंतर पड़ जाता है, जो पहले नहीं था। और इस लंबे अंतर के कारण यह ज़रूरी नहीं है कि जो भी वस्तु उत्पन्न की जाय वह ठीक दामों पर बिके ही और उस का अंतिम उपभोग किया ही जाय। अस्तु यदि वस्तु न विकी या जितना खर्च उत्पन्न करने में लगा है उस से बिक्री के दाम कम खड़े हुए तो किसी न किसी को इस हानि का जोखिम उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। जिस ने कारख़ाने के लिए भूमि दी है वह तो उस का किराया ले ही लेगा। जिन मज़दूरों ने श्रम किया है वे अपना वेतन या मज़दूरी लेंगे ही। जिस की पूँजी लगी है उसे उस की पूँजी के लिए व्याज देना ही पड़ेगा। और जो प्रबंधक होगा वह भी प्रबंध के लिए अपना वेतन ले लेगा। अस्तु, अंत में कोई एक ऐसा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (कंपनी आदि) ज़रूर ही होना चाहिए जो इस उत्पादन कार्य को चलाने का साहस करे और लाभ-हानि उठाने का जोखिम सहने को तैयार हो। आजकल इस का महत्व इतना बढ़ गया है कि उत्पत्ति के साधनों में साहस या जोखिम का अपना पृथक्, स्वतंत्र और महत्वपूर्ण स्थान माना जाने लगा है।

अस्तु, भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस ये ही मुख्यतः धनोत्पत्ति के पाँच साधन माने जाते हैं।

कभी-कभी बिक्री को स्वतंत्र और पृथक् साधन मानने के पक्ष में ज़ोर दिया जाता है। प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति का अंतिम लक्ष उपभोग ही है। अस्तु, यह ज़रूरी है कि प्रत्येक प्रकार की वस्तु जो उत्पन्न की जाय अंत में उपभोक्ता के पास पहुँचा दी जाय। उत्पत्ति के स्थान से वस्तु को उपभोक्ता के पास तक पहुँचाने में भी उपयोगिता में वृद्धि होती है। अस्तु, बिक्री की क्रिया भी उत्पत्ति में सम्मिलित है।

बिक्री

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उत्पत्ति के पाँच साधन घट कर केवल दो ही रह जाते हैं, यानी भूमि और श्रम। भूमि प्रकृति की देन है। मनुष्य के श्रम और प्रकृति की देन से जो वस्तु या वस्तुएं प्राप्त होती हैं उन्हीं में से कुछ उपभोग से बचा कर जब फिर आगे के उत्पादन में सहायक के रूप में काम में लाई जाती हैं तो उन्हें पूँजी कहते हैं। इस प्रकार श्रम और भूमि का संयुक्त फल ही पूँजी है। अस्तु, पूँजी का साधन के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता। प्रबंध और साहस श्रम के विशेष रूप मात्र हैं। अस्तु, ये दो साधन भी श्रम में समावेशित किए जा सकते हैं। इस प्रकार, इस दृष्टि से देखने पर, उत्पत्ति के केवल दो ही मुख्य साधन रह जाते हैं, भूमि और श्रम।

उत्पत्ति के साधन केवल दो

भूमि और श्रम में भूमि निष्क्रिय है। वह बिना श्रम के किसी भी वस्तु को उपभोक्ता के पास नहीं पहुँचा सकती। एक अच्छे फल या मीठे जल को अंतिम उपभोग के लिए लेने में कुछ न कुछ श्रम करना ही पड़ेगा। फल और जल के लेने और खाने-पीने के अंतिम उपभोग में लाने के लिए श्रम करना पड़ेगा। अस्तु, उपयोगिता-वृद्धि के लिए श्रम अनिवार्य है। इस प्रकार श्रम (अथवा श्रम करनेवाला मनुष्य) ही अधिक महत्वपूर्ण ठहरता है। प्रत्येक दृष्टि से देखने पर यह मानना पड़ता है कि संसार में उत्पत्ति तथा उपभोग का एकमात्र

श्रम की महत्ता

केंद्र मनुष्य ही है।

उत्पत्ति के साधन पाँच हैं, भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस। उत्पत्ति के लिए जिन व्यक्तियों से इन पाँचों साधनों की प्राप्ति होती है उन्हें उत्पत्ति के साधक कहते हैं। साधनों के अनुसार साधक भी निम्नलिखित पाँच ही होते हैं :—

उत्पत्ति के साधक

(१) भूमि जिस के कब्ज़े में हो; भू-स्वामी (२) श्रम करनेवाला; श्रम-जीवी या श्रमी (३) पूँजीवाला; पूँजीपति (४) प्रबंध करनेवाला; प्रबंधक; (५) साहस करने या जोखिम उठाने वाला; साहसी।

उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में चाहे वह छोटा हो या बड़ा, ऊपर लिखे पाँच साधन और पाँच साधक ज़रूरी हैं। पर यह ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक कार्य में ये पाँच साधन तथा पाँच साधक स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् देख पड़ें। कभी तो प्रत्येक साधन के लिए अलग-अलग साधक स्वतंत्र रूप से रहेंगे और कभी एक साधक का अनेक साधनों पर या सभी साधनों पर पूरा अधिकार होगा। अस्तु साधनों के पाँच रहते हुए भी साधक केवल दो-तीन ही होंगे या कभी एक ही होगा।

कोई एक किसान अपनी भूमि में अपने आप खेती करता है। उस के अपने हल, बैल, बीज आदि हैं, यानी उस की अपनी पूँजी है, जिस को वह अपनी खेती के काम में लगाता है। इस का वह स्वयं ही प्रबंध कर लेता है कि कब, कैसा, कितना क्या, करना चाहिए। साथ ही उस खेती से होने वाले हानि-लाभ का वह ख़ुद ही जोखिम उठाता है। ऐसी दशा में वह अकेला एक किसान ही भू-स्वामी, श्रमी, पूँजीपति, प्रबंधक तथा साहसी है। अस्तु, साधनों के पाँच रहते हुए भी साधक देखने में केवल एक है।

इसी प्रकार एक लोहार अपने निज के घर में कारख़ाना बना कर कीलें बनाता है। ख़ुद काम करता है। अपना लोहा और औजार अपने काम में लाता है। ख़ुद ही सारे काम का प्रबंध करता है। और उस काम से होने

वाले जोखिम को ख़ुद ही उठाता है। ऐसी दशा में वह स्वयं ही सभी साधनों का स्वामी होने से एक अकेला साधक है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि यह ज़रूरी नहीं है कि प्रत्येक काम में साधक पाँच ही देख पड़ें। किंतु आजकल के औद्योगिक जीवन और बड़े पैमाने के उत्पादन-कार्य में यह संभव नहीं है कि एक ही व्यक्ति सभी साधनों पर पूरा कब्ज़ा रख सके। प्रायः देखा जाता है कि कारख़ाने की भूमि का स्वामी एक होता है, जिसे किराया दिया जाता है। काम करनेवाले श्रमी अनेक होते हैं, जो मज़दूरी पाते हैं। पूँजी किसी दूसरे की लगी रहती है, जिस के लिए ब्याज देना पड़ता है। प्रबंध के लिए और ही मनुष्य रहते हैं जो प्रबंध के कार्य के लिए वेतन पाते हैं। तथा उत्पादन-कार्य से होने वाले हानि-लाभ के जोखिम का ज़िम्मा दूसरे ही व्यक्ति उठाते हैं जो साहसी होने के कारण लाभ उठाते हैं।

इस प्रकार वर्तमान औद्योगिक युग में साधनों, साधकों और उन को मिलनेवाली उजरत का विवरण इस प्रकार है :—

साधन		साधक		उजरत
(१) भूमि	...	भू-स्वामी	...	किराया या लगान
(२) श्रम	...	श्रमी	...	मज़दूरी
(३) पूँजी	...	पूँजीपति	...	ब्याज
(४) प्रबंध	...	प्रबंधक	...	वेतन
(५) साहस (जोखिम)		साहसी	...	लाभ (हानि)

आगे के अध्यायों में भूमि, श्रम आदि साधनों के संबंध में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया जायगा।

अध्याय ७

भूमि

भूमि प्रकृति की देन है। अर्थशास्त्र में भूमि में वे सब वस्तुएं समावेशित हो जाती हैं जो मनुष्य के श्रम के कारण उत्पन्न न की गई हों और जो धनोत्पत्ति के काम में ज़रूरी हों। समुद्र, नदी, झील, तालाब, झरने, वन, पर्वत, मैदान, खान, उपत्यका तथा इन सब में पाए जानेवाले पदार्थ, वनस्पतियां, जीव-जंतु आदि और साथ ही धूप, प्रकाश, गर्मी, सर्दी, वर्षा, जलवायु, ऋतु आदि सभी भूमि के अंतर्गत आ जाते हैं। किंतु ये वस्तुएं तभी भूमि मानी जायँगी जब कि इन की उत्पत्ति में मनुष्य के श्रम का कोई भी अंश न लगा हो।

भूमि किसे कहते हैं?

मनुष्य न तो किसी पदार्थ को नए सिरे से पैदा ही कर सकता और न नष्ट ही। वह पदार्थ के क्रम, रूप आदि में इस प्रकार परिवर्तन कर सकता है कि उस की उपयोगिता बढ़ (या घट) जाय। जिन उपयोगिताओं को मनुष्य उत्पन्न करता है यदि उन की माँग बढ़ जाय तो वह उन्हें अधिक अधिक परिमाण में उत्पन्न करने लगे और उन की पूर्ति भी बढ़ जाय। किंतु कुछ ऐसी उपयोगिताएं हैं जिन के बढ़ाने-घटाने में मनुष्य का कोई वश नहीं चलता। ये उपयोगिताएं एक निश्चित मात्रा में प्रकृति द्वारा दी जा चुकी हैं। इन उपयोगिताओं के स्थायी कारण को ही अर्थशास्त्र में भूमि कहते हैं। इस में स्थान, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, जलशक्ति, वायुशक्ति, सूर्य का प्रकाश, वर्षा, ऋतु-परिवर्तन, समुद्र, झील, नदी, वन, पर्वत, मैदान, आदि सभी शामिल हैं।

भूमि में ऐसी कौन सी विशेषताएं हैं जिन से वह उन वस्तुओं से

भूमि के लक्षण

भिन्न की जा सके जो मनुष्य के परिश्रम से उत्पन्न होती है ? भूमि की ये विशेषताएं हैं उस की परिमितता, अक्षयता, निष्क्रियता, उर्वरता, स्थिरता, आधार और उस के उत्पादक व्यय (लागत ख़र्च) का न होना, क्योंकि वह प्रकृति की देन है।

आधार-स्थानत्व

भूमिका सब से मुख्य गुण है मनुष्य को रहने और काम करने के लिए स्थान और आधार देना। प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ स्थान की आवश्यकता पड़ती है। बिना स्थान के वह कुछ भी काम नहीं कर सकता। प्रत्येक स्थान के साथ ही मनुष्य को वायु, प्रकाश, गर्मी, वर्षा, ऋतु आदि के उपभोग का अवसर प्राप्त होता है जो प्रकृति द्वारा उस स्थान के लिए नियत कर दिया जाता है। इस के अलावा प्रत्येक स्थान के साथ ही दूरी का सवाल लगा हुआ रहता। इस कारण एक ख़ास स्थान पर रहने से मनुष्य के लिए अन्य वस्तुओं और मनुष्यों के साथ दूरी तथा अन्य अनेक प्रकार के संबंधों के प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं।

परिमितता

भूमि का परिमाण निश्चित और परिमित है। वह घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। मनुष्य भूमि उत्पन्न नहीं कर सकता। जितनी भूमि प्रकृति ने दे रक्खी है उसी पर मनुष्य को संतोष करना पड़ता है। भूमि के प्रत्येक क्षेत्र के लिए प्रकृति द्वारा जो भी वायु, वर्षा, प्रकाश, धूप आदि की मात्रा निश्चित कर दी गई है वह उतनी ही मिलती है। यदि कोई किसान वर्षा, प्रकाश, धूप, वायु की और अधिक मात्रा अपने खेत के लिए चाहेगा तो उसे न मिल सकेगी। इसी प्रकार एक प्रकार से प्रत्येक स्थान के लिए खनिज पदार्थ आदि की मात्रा भी निश्चित ही है। इस प्रकार भूमि का परिमाण प्रकृति द्वारा परिमित कर दिया गया है।

यह सच है कि मनुष्य श्रम के द्वारा समुद्र, झील आदि को पाट कर या बाँध आदि बाँध कर बहुत-सी नई भूमि पानी से निकाल लेता है।

डेनमार्क देश में बहुत-सी भूमि इस प्रकार समुद्र के भीतर से निकाल कर काम में लाई जा रही है। साथ ही दलदलों को सुखा कर, रेगिस्तानों को सींच कर, पहाड़ों को काट कर भी बहुत-सी भूमि प्राप्त कर ली जाती है। पर कुल भूमि के मुक़ाबिले में इस प्रकार से प्राप्त भूमि का परिमाण अनुपात में इतना कम बैठता है कि उस का कुल भूमि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। अस्तु, आम तौर पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं आती कि भूमि परिमित है।

अक्षयता

भूमि का तल (स्तर या सतह) अक्षय है। वह नष्ट नहीं होता, सदा बना रहता है। भूमि वैसी ही बनी रहती है। बाढ़, भूकंप आदि से कभी-कभी भूमि का कोई एक भाग कुछ का कुछ हो जाता है, जल के स्थान पर स्थल और स्थल की जगह जल हो जाता है। पर कुल भूमि के ख़याल से यह सब परिवर्तन बहुत ही नगण्य होते हैं। असल में भूमि के तल का क्षय नहीं होता। मनुष्य के श्रम के कारण उत्पन्न सभी वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं। पर भूमि नष्ट नहीं होती।

भूमि की उर्वरा शक्ति फ़सलों आदि द्वारा नष्ट होती और खाद आदि द्वारा फिर पूरी होती रहती है। इस दृष्टि से भूमि अक्षय न ठहरेगी, क्योंकि उस की उर्वरा शक्ति नष्ट हो सकती है। पर अक्षयता उस के तल का गुण है, उर्वरता नहीं।

स्थिरता

मनुष्य या मनुष्य के परिश्रम से उत्पन्न बहुत-सी वस्तुएं एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा सकती हैं। वे चर हैं। पर भूमि स्थिर है। वह जहां है वहीं रहेगी। उस की जगह नहीं बदली जा सकती। भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं ले जाया जा सकता।

निष्क्रियता

धन की उत्पत्ति में भूमि एक ऐसा साधन है जिस के बिना काम ही नहीं चल सकता। पर वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। मनुष्य श्रम द्वारा उस से धनोत्पत्ति में सहा-

यता ले लेता है। मनुष्य सक्रिय है, ख़ुद काम कर सकता है। भूमि निष्क्रिय है, ख़ुद कुछ नहीं कर सकती। पर भूमि के बिना, स्थान और आधार के बिना उत्पत्ति का कोई भी काम नहीं चल सकता।

उर्वरता

भूमि में वह शक्ति है जिस के द्वारा वह पेड़-पौधों, वनस्पतियों को अपने में स्थिर रख कर ख़ूराक देती और बढ़ाती तथा जीवित रखती है। पेड़-पौधे उस से अपनी ख़ूराक पाकर जीवित रहते और फलते-फूलते हैं। मनुष्य को अपने लिए सारे पदार्थ पृथ्वी ही से प्राप्त होते हैं। फल-मूल, शाक-पात, अन्न-औषधियां, लकड़ी, खनिज धातु, जल आदि सभी भूमि ही से मिलते हैं।

मनुष्य फ़सलें बोकर भूमि के एक भाग की उर्वरता को नष्ट कर सकता है। पर परती छोड़ देने पर प्राकृतिक रूप से वह भू-भाग फिर अपनी उर्वरता प्राप्त कर लेता है। कभी-कभी उर्वरता इतनी नष्ट हो जाती है कि वह साधारण रीति से परती छोड़ने पर भी जल्दी पूरी नहीं हो सकती। ऐसी दशा में मनुष्य खाद आदि द्वारा उसे फिर पहले ही की तरह या उस से भी अधिक उर्वर बना सकता है। कभी-कभी वह प्राकृत रूप से अनुर्वर अथवा कम उर्वर भूमि के भाग को खाद आदि द्वारा बहुत अधिक उर्वर बना लेता है।

भूमि की उर्वरा शक्ति को मनुष्य बहुत कुछ घटा-बढ़ा सकता है। एक प्रकार से देखा जाय तो संसार के पुराने देशों की भूमि की उर्वरा शक्ति मनुष्य के श्रम का ही फल है। खान आदि की उर्वरा शक्ति को मनुष्य बहुत नहीं बढ़ा सकता।

भूमि का उत्पादन नहीं होता

मनुष्य के श्रम के कारण जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन में कुछ न कुछ तो लागत ख़र्च ज़रूर ही लगता है। पर भूमि प्रकृति की देन है। उस के उत्पादन में कुछ भी लागत ख़र्च नहीं पड़ता, क्योंकि मनुष्य को प्राकृतिक भूमि के उत्पन्न करने के लिए कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता। पर यह नियम

प्रारंभिक स्थिति के लिए ही लागू होगा। जब एक बार किसी भू-भाग पर किसी मनुष्य का क़ब्ज़ा हो जाता है तो वह उस के उपयोग के लिए दूसरे से कुछ न कुछ उजरत लेता ही है। इसी को भूमि का लगान या किराया कहते हैं। यदि कोई उस भूमि के अधिकार को लेना चाहे तो उसे उस की क़ीमत देनी पड़ेगी। क़ब्ज़े में आने पर भूमि को सुधारने, अधिक उपजाऊ या लाभदायक बनाने के लिए मनुष्य को श्रम और पूँजी लगानी पड़ती है। ऐसी दशा में जो भूमि प्राप्त होती है वह असल में प्रकृति की स्वतंत्र देन, असली भूमि न रह कर पूँजी का एक रूपांतर मात्र रहती है। आज-कल जो भी भूमि खेती आदि के काम में आती है उस में मनुष्य का श्रम तथा पूँजी भी शामिल हैं। वैसे भी प्राकृतिक भूमि को काम में लाने योग्य बनाने के लिए मनुष्य को श्रम करना और पूँजी लगानी पड़ती है। जंगलों, पहाड़ों को काट कर भूमि को समतल, चौरस बनने और गड्ढे आदि पाट कर बराबर करने आदि में श्रम तथा पूँजी लगानी पड़ती है।

भूमि के गुण

भूमि की उपयोगिता उस के (१) आंतरिक गुणों और (२) बाह्य परिस्थिति के कारण होती है। आभ्यंतरिक गुणों में वे सब बातें सम्मिलित हैं जिन के कारण भूमि उपजाऊ होती है। बाह्य परिस्थिति उन सब कारणों पर निर्भर है जिन के कारण कोई एक भू-भाग बस्ती के पास, मंडी के क़रीब, रेल या सड़क के किनारे हो ताकि आसानी और जल्दी से वहां से दूसरे स्थानों पर पहुँचाया जा सके।

खेती और खान के लिए भूमि का उपजाऊ होना बहुत ज़रूरी है। यदि भूमि उपजाऊ न हो, उस में पेड़-पौधे जम और पनप न सकें, मिट्टी इतनी मुलायम न हो कि उन की जड़ें नीचे तक जाकर अपनी ख़ूराक ले सकें और जीवित रह सकें, अथवा मिट्टी इतनी अधिक मुलायम हो कि जड़ें ठीक से पेड़ को खड़ा न रख सकें, तो भूमि उपजाऊ न मानी जायगी। उस भू-भाग में जल आदि का भी इतना होना ज़रूरी है कि

पेड़-पौधे सूख न जायँ । पर इतना अधिक भी न हो कि वे सड़ जायँ । साथ ही वह समतल और ऐसी होनी चाहिए कि यथेष्ठ धूप, ताप, वर्षा प्राप्त होती रहे । फिर उसे ऐसे स्थान में होना ज़रूरी है कि वहां से बस्ती, मंडी, सड़क आदि इतनी दूर न हो कि खाद, बीज आदि लाने और फ़सल काट कर ले जाने में अड़चन पड़े, नहर आदि पास हों ताकि सिंचाई ठीक वक्त से हो सके और ऐसे स्थान में न हो कि जंगली जानवरों, लुटेरों से रक्षा न की जा सके । वह उपजाऊ होने के साथ ही मौक़े पर भी हो ।

इसी प्रकार खान की भूमि उपजाऊ हो ताकि खनिज पदार्थ ठीक परिमाण में निकलते रहें । पर साथ ही ऐसे स्थान पर हो कि श्रमियों, मशीनों आदि को ले जाने तथा खनिज पदार्थों को मंडी में ले जाने में अड़चन न पड़े । यदि खान में खनिज पदार्थ बहुत हों पर उन के मंडी में ले जाने में इतना ख़र्च पड़े कि बेचने पर लागत के दाम भी न उठें तो खनिज पदार्थ निकालने वाले को हानि होगी, खान न चलेगी ।

उद्योग-धंधों, कल-कारख़ानों तथा व्यापारिक कामों के लिए जो भूमि लगती है उस की उर्वरा शक्ति का कोई विशेष उपयोग नहीं रहता । ऐसे कामों के लिए तो बाह्य स्थिति ही सब कुछ होती है । स्थान ऐसा होना चाहिए जहां श्रमी, पूँजी, कच्चा माल आदि आसानी से मिल सकें और तैयार माल मंडी में, बाज़ारों में, उपभोक्ताओं के पास आसानी से भेजा जा सके ।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि खेती में उर्वरा शक्ति बहुत महत्व की होती है । पर बाह्य परिस्थितियों का भी काफ़ी महत्व रहता है । खान के लिए दोनों गुणों का क़रीब-क़रीब बराबर ही महत्व रहता है, हालां कि खान का उर्वरा होना अधिक ज़रूरी है । कल-कारख़ानों और व्यापारिक कामों के संबंध में केवल बाह्य परिस्थिति ही सब कुछ है । उर्वरा शक्ति से उस का कोई भी संबंध नहीं रहता ।

अध्याय ८

श्रम—उस के भेद और लक्षण

मनुष्य के वे सभी मानसिक और शारीरिक प्रयत्न और कार्य जो वह मनोरंजन के लिए न करके धनोपार्जन के उद्देश्य से करता है, श्रम कहलाते हैं ।

श्रम क्या है ?

श्रम में उद्देश्य मुख्य है । धनोपार्जन के लिए किए गए प्रयत्न में भी मनोरंजन होना संभव है, और होता ही है । पर जो भी काम धनोपार्जन के उद्देश्य को सामने रख कर किया जायगा, उस से काम करने वाले का मनोरंजन होने पर भी वह काम श्रम कहलाएगा । एक गायक किसी को गाना सुनाता है, फ़ुटबाल का या शतरंज का एक खिलाड़ी खेलता है । इन कामों में प्रत्येक को कुछ न कुछ आनंद आता ही है, अपने-अपने काम से प्रत्येक का मनोरंजन होता है । पर यदि रुपए पैदा करने के लिए वे काम किए जायँगे तो प्रत्येक का काम श्रम माना जायगा । इस के विपरीत यदि ये ही काम रुपए पैदा करने के ख़याल से न करके केवल मन-बहलाव या आनंद के लिए किए जायँ तो ये श्रम न माने जायँगे, चाहे उन में कितनी ही मेहनत क्यों न पड़े । कुश्ती लड़ने, दौड़ लगाने, नाल उठाने, फ़ुटबाल खेलने, घोड़ा दौड़ाने में बहुत मेहनत पड़ती है । पर यदि इन में से कोई भी काम धनोपार्जन के उद्देश्य से न करके केवल मनोरंजन के लिए किया जायगा तो अर्थशास्त्र में वह श्रम न माना जायगा । श्रम के लिए यह ज़रूरी है कि वह धनोपार्जन के उद्देश्य से किया जाय । श्रम के संबंध में दो बातें जान लेना ज़रूरी है । एक तो यह कि रुपए पैदा करने के उद्देश्य से जो काम किया जाता है उस में उस समय भी लगा रहना पड़ता है जब कि उस काम से आनंद न आकर वह कुछ कष्ट-साध्य, दुःख-जनक जान पड़ने लगता है, और मन होता है, कि उसे बंद कर दे ।

मनुष्य उसे कष्टदायक होने पर भी इसी लिए जारी रखता है कि उस के बदले में उसे रुपए की प्राप्ति होती है। मनोरंजन के लिए जो भी काम किया जायगा उस से जब मन-बहलाव न हो कर कष्ट होने लगेगा तो वह फ़ौरन ही बंद कर दिया जायगा।

श्रम के संबंध में दूसरी बात यह है कि वह मनुष्य के द्वारा ही किया गया हो। जो काम पशुओं अथवा मशीनों के ज़रिये किया जाता है वह श्रम में शामिल नहीं किया जाता। रुपए के लिए किया गया केवल मनुष्य का काम ही श्रम माना जाता है। पशुओं और मशीनों के द्वारा जो काम होता है उस की गिनती श्रम में नहीं होती क्योंकि पशुओं और मशीनों की गिनती पूँजी में की जाती है। वह इस लिए कि मनुष्य के श्रम से जो वस्तुएं उत्पन्न होती हैं उन्हें उपभोग से बचा कर पशुओं और मशीनों के प्राप्त करने में लगाया जाता है। अस्तु पशुओं और मशीनों के काम को श्रम नहीं माना जाता। केवल मनुष्य के उस काम की गिनती श्रम में होती है जिस से धनोपार्जन हो।

मानसिक तथा शारीरिक श्रम

कुछ मनुष्य मुख्यतः अपने शरीर से काम करते हैं, जैसे किसान, मज़दूर, कारीगर, बढ़ई, लुहार, आदि। कुछ मनुष्य मुख्यतः अपने मस्तिष्क से काम करते हैं जैसे वकील, डाक्टर, अध्यापक, कवि आदि। कुछ ऐसे हैं जो साथ ही साथ दोनों ही तरह से काम करते हैं जैसे कुशल कारीगर, शिल्पी आदि। अर्थशास्त्र में मानसिक तथा शारीरिक दोनों ही तरह के काम की गिनती श्रम में होती है और मानसिक तथा शारीरिक श्रम करने वाले दोनों ही श्रमजीवी या श्रमी कहलाते हैं।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रम करता है। जिस श्रम से धनोत्पत्ति अथवा किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि हो उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। वही श्रम अनुत्पादक होगा जिस से किसी वस्तु की

उपयोगिया में वृद्धि न हो, जिस से धनोत्पत्ति न हो सके। श्रम से उपयोगिता की उत्पत्ति अथवा वृद्धि होती है। अस्तु, जिस श्रम से किसी वस्तु में उपयोगिता उत्पन्न हो सके अथवा उस वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि हो सके उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। जिस श्रम से किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न न हो या उपयोगिता में वृद्धि न हो उसे अनुत्पादक श्रम कहते हैं। इस का अर्थ यह है कि जो श्रम व्यर्थ गया हो वह अनुत्पादक श्रम कहलाता है।

एक मनुष्य एक मकान बनाना शुरू करता है, किंतु मकान बन कर पूरे होने के पहले ही वह अपना विचार बदल देता है और उस मकान का बनाना बंद कर देता है। जो श्रम उस मकान के बनाने में लगा वह व्यर्थ गया। अस्तु इस प्रकार का श्रम अनुत्पादक श्रम होगा।

एक मनुष्य बड़ी मेहनत से एक मशीन तैयार करता है। पर मशीन के तैयार होने पर न तो कोई उसे ख़रीदने के लिए तैयार होता और न उस का कुछ उपयोग ही होता। अस्तु मशीन पर किया गया श्रम अनुत्पादक श्रम कहलाएगा।

एक ही तरह का काम एक साथ किए जाने पर भी भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न होगा। दो मनुष्य एक साथ कुछ दर्शनीय स्थानों को देखने जाते हैं। एक मनोरंजन के लिए दूसरा उस के पथ-प्रदर्शक के रूप में। पथ-प्रदर्शक को स्थानों के देखने के कारण पहला मनुष्य कुछ मज़दूरी देता है। अस्तु वही काम पथ-प्रदर्शक के लिए उत्पादक श्रम हुआ क्योंकि उसे उस से धन प्राप्ति होती है। मनोरंजन के लिए गए हुए आदमी के लिए वही काम अनुत्पादक श्रम ठहरता है क्योंकि उसे उस से कुछ धन-प्राप्ति नहीं होती। पर यदि वह उसी का वर्णन लिख कर कुछ धन पैदा कर लेता है तो बाद में उस के लिए भी वह कार्य उत्पादक श्रम होगा।

पूर्वकाल के पश्चमीय अर्थशास्त्री उत्पादक श्रम को बहुत ही संकुचित अर्थ में लेते थे। उत्पादक श्रम के व्यापक अर्थ का क्रम-विकास

इस प्रकार है:—

(१) पहले केवल खेती-बारी, शिकार तथा मछली मारना, खान से वस्तुएं निकालना ही उत्पादक श्रम माना जाता था क्योंकि उस समय के अर्थशास्त्रियों के मत में केवल इन्हीं कामों में प्रकृति मनुष्य की सहायता करती थी, और इन्हीं कामों से पदार्थों की उपयोगिता में वृद्धि होती थी। उद्योग-धंधे, तैयार माल बनाने, व्यापार-व्यवसाय आदि के काम बिल्कुल अनुत्पादक श्रम माने जाते थे।

(२) बाद में कारख़ानों, उद्योग-धंधों द्वारा माल की तैयारी भी उत्पादक श्रम में शामिल कर ली गई, क्योंकि लोग मानने लगे कि उद्योग-धंधों से भी वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि होती है।

(३) बाद में भारबरदारी, आयात-निर्यात आदि भी उत्पादक श्रम में शामिल कर लिए गए क्योंकि यह माना जाने लगा कि वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले आने व ले जाने से भी उन की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है।

(४) वर्तमान समय में वह सभी श्रम उत्पादक माना जाता है जिस से किसी भी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि हो। अब डाक्टरों, बैरिस्टरों, न्यायाधीशों, घरेलू नौकरों, व्यापारियों, इंजीनियरों, मास्टरों, पुलिस और फ़ौजवालों, व्यवसायियों, गायकों, ऐक्टरों, उद्योग-धंधेवालों आदि सभी का श्रम उत्पादक श्रम माना जाता है।

उत्पादक श्रम — प्रत्यक्ष तथा परोक्ष

उत्पादक श्रम के मुख्यतः दो भेद होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिस काम से किसी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि प्रत्यक्ष रूप में हो (किसी वस्तु का अंतिम रूप तैयार हो) उसे प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम कहते हैं। एक आदमी कपड़े से कुरता तैयार करता है। यह श्रम प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम होगा क्योंकि उस से कपड़े का कुरता तैयार होता है जो एक उपयोगी वस्तु का अंतिम रूप है। इस के पहले रुई से सूत तैयार किया गया था,

और सूत से कपड़ा बुनकर तैयार हुआ था। सूत कातने और कपड़ा बुनने में जो श्रम पड़ा वह भी उत्पादक श्रम है। पर कुरते के ख़याल से वह परोक्ष उत्पादक श्रम है, क्योंकि वह उस के पूर्व-रूप को बनाने यानी सूत और कपड़े के तैयार करने में लगा है।

व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से

कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक श्रम माने जाते हैं. पर सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक ठहरते हैं। एक मनुष्य ठग कर, चोरी करके या धोखा देकर या जालसाज़ी कर के या आतिशबाज़ी की वस्तुएं बना कर धन प्राप्त करता है। उस व्यक्ति की दृष्टि से उस का कार्य उत्पादक ठहरता है। पर सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार के कार्य अनुत्पादक श्रम माने जाते हैं, क्योंकि समाज को उन से कोई लाभ नहीं होता, किसी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती।

कुछ ऐसे भी काम हैं जो व्यक्तिगत दृष्टि से अनुत्पादक होकर भी सामाजिक दृष्टि से उत्पादक होते हैं। एक मनुष्य चिकित्सा, उपदेश, शिक्षा, गायन द्वारा दूसरों को लाभ पहुँचाता है, पर अपने काम के बदले में लेता कुछ नहीं। अस्तु, उसे उस श्रम से कुछ भी धन नहीं प्राप्त होता। पर समाज के अन्य व्यक्तियों को बड़ा लाभ होता है। ऐसी दशा में व्यक्तिगत दृष्टि से उस का कार्य अनुत्पादक श्रम ठहरता है, पर सामाजिक दृष्टि से उत्पादक श्रम माना जाता है।

श्रम के लक्षण

श्रम के मुख्य लक्षण हैं, सक्रियता, नाशमानता, गतिशीलता (परिवर्तनशीलता), श्रमी से पृथक् न हो सकना, अभिभावक या माता-पिता पर बहुत कुछ उपयोगिता तथा कुशलता का निर्भर रहना।

सक्रियता

उत्पत्ति के साधनों में श्रम ही सक्रिय है। भूमि तो बिल्कुल निष्क्रिय है, वह अपने से कुछ भी नहीं कर सकती। और पूँजी श्रम पर निर्भर है। एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण है।

भूमि और पूँजी तो केवल उत्पत्ति में सहायक होकर उपयोगिता का उत्पादन या वृद्धि मात्र करती हैं। श्रम उत्पत्ति करनेवाला भी है और साथ ही उत्पन्न वस्तुओं, उपयोगिताओं का उपभोग करनेवाला भी है। असल में श्रमी के उपभोग के लिए ही उत्पत्ति की जाती है। वह उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी। उसी की सक्रियता पर उत्पत्ति निर्भर है। बिना उस के न तो भूमि ही उत्पत्ति कर सकती न पूँजी ही कुछ पैदा कर सकती।

नाशमानता

जिस क्षण श्रम का प्रादुर्भाव होता है उसी क्षण भर में वह नष्ट भी हो जाता है। वह दूसरी बार काम में नहीं लाया जा सकता। भूमि और स्थायी पूँजी से अनेक बार काम लिया जा सकता है, वे अधिक काल तक संचित की जा सकती हैं। पर श्रम इस प्रकार संचित करके नहीं रक्खा जा सकता। एक मनुष्य यदि एक दिन काम न करे तो दूसरे दिन वह दूना काम नहीं कर सकता। श्रमी का जितना समय बीतता जाता है उतना ही उस के श्रम का ह्रास होता जाता है जो फिर कभी भी पूरा नहीं किया जा सकता।

गतिशीलता

भूमि एकदम स्थिर है। कुछ पूँजी भी स्थिर होती है। अन्य तरह की पूँजी तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकती है जब श्रम उस में सहायक हो। केवल श्रम ही एक ऐसा साधन है जो गतिमान है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को और एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जा-आ सकता है।

श्रम की गतिशीलता दो तरह की होती है :—(१) स्थान-परिवर्तन। (२) व्यवसाय-परिवर्तन।

स्थान-परिवर्तन

आवश्यकता पड़ने पर श्रमजीवी एक स्थान से जाकर दूसरे स्थान पर काम करते हैं। जिस स्थान पर श्रम की माँग अधिक होगी उस स्थान पर मज़दूरी ज़्यादा दी जायगी, अस्तु ऐसे स्थानों से जहां श्रम की माँग कम होने से मज़दूरी कम होती है श्रमजीवी उस स्थान को जाते हैं जहां माँग अधिक होने से मज़दूरी

ज़्यादा दी जाती है। पर अनेक कारणों से स्थान परिवर्तन में रुकावट पड़ती है। कुटुंबियों, घर-बार, देश-स्थान का प्रेम, दूसरे स्थान पर जाने का ख़र्च और रास्ते की कठिनाइयां, नए स्थान के आचार-व्यवहार, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक वातावरण का भिन्न होना और अनुकूल न होना, भाषा का न जानना, अनजान मनुष्यों में रहने की कठिनाइयां, आवागमन के साधनों की कठिनाइयां आदि स्थान-परिवर्तन में बाधक होते हैं।

व्यवसाय-परिवर्तन

श्रमजीवी अपने व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय को करने लगता है। इस व्यवसाय-परिवर्तन संबंधी श्रम को गतिशील कहते हैं। एक लोहार अपना काम छोड़ कर बढ़ई या कंपोज़िटर का काम करने लगे तो कहा जायगा कि उस ने व्यवसाय-परिवर्तन किया। प्रायः एक व्यवसाय में लगे हुए व्यक्ति की संतान उसी व्यवसाय के लिए आसानी से तैयार होती है। पर ऐसा भी होता है कि श्रमी के मातापिता अथवा अभिभावक उसे किसी दूसरे ही कार्य की शिक्षा दे-दिला कर दूसरे व्यवसाय के लिए तैयार करें। ऐसा भी होता है कि एक व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक श्रमियों के आ जाने अथवा उस व्यवसाय से उत्पन्न होनेवाली वस्तु की माँग में कमी पड़ने के कारण उस व्यवसाय में प्राप्त होनेवाली मज़दूरी की दर कम हो जाती है, और संघर्ष बढ़ जाने के कारण कम लोगों को काम मिल सकता है। ऐसी दशा में कुछ श्रमी विवश हो कर ख़ुद ही उस व्यवसाय को छोड़ कर किसी ऐसे दूसरे व्यवसाय में जाने का प्रयत्न करेंगे जिस में मज़दूरी ज़्यादा मिलती होगी और काम कुछ आसानी से मिलता होगा।

पर यह परिवर्तन उन्हीं श्रमियों के लिए अधिक सुविधाजनक और हितकर होगा जिन के काम में योग्यता और कुशलता की अधिक ज़रूरत न पड़ती होगी, क्योंकि कुशल श्रमियों को अपने पहले व्यवसाय में

कुशलता और योग्यता प्राप्त करने के लिए जो समय, व्यय, मेहनत लगानी पड़ती है, वह नए व्यवसाय में व्यर्थ जायगी और नए व्यवसाय के लिए कुशलता और योग्यता प्राप्त करने के लिए नए सिर से समय, व्यय मेहनत की ज़रूरत पड़ेगी। इस कारण व्यावसायिक परिवर्तन उन्हीं श्रमियों के लिए अधिक संभव होता है जिन की कुशलता-योग्यता अपेक्षाकृत कम होती है या जिन व्यवसायों में कम योग्यता तथा कुशलता की आवश्यकता पड़ती है।

स्थान तथा व्यवसाय की गतिशीलता

स्थान तथा व्यवसाय की गतिशीलता एक साथ भी हो सकती है और अलग-अलग भी। कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान में जा कर अपने पुराने व्यवसाय में न लग कर दूसरे नए व्यवसाय में भी काम कर सकता है। इस प्रकार दोनों प्रकार की गतिशीलता एक साथ ही होगी। यदि वह अपने स्थान में रह कर किसी दूसरे व्यवसाय में लग जाय अथवा दूसरे स्थान में जाकर अपने पहले वाले व्यवसाय ही में लगे तो गतिशीलता एक ही प्रकार की होगी।

एक व्यवसाय से बराबर वाले दूसरे व्यवसाय में जाने को समान गतिशीलता कहते हैं, जैसे एक बढ़ई अपना काम छोड़ कर लोहार का या सोनार का काम करने लगे। एक ही व्यवसाय में नीचे दर्जे के काम से उन्नति करते हुए उसी व्यवसाय में ऊँचे दर्जे का काम करने लगने पर जो परिवर्तन होगा वह उन्नतिमूलक गतिशीलता कहलाता है। जैसे एक ईंटा-गारा देने वाला मज़दूर राज का काम सीख कर राज का काम करने लगे और बाद में इसी प्रकार धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ ओवरसियर या इंजीनियर हो जाय।

श्रम का श्रमी से अलग न हो सकना

भूमि और पूँजी भू-स्वामी तथा पूँजीपति से अलग की जा सकती हैं। यदि भू-स्वामी या पूँजीपति चाहे तो अपनी भूमि या पूँजी किसी भी दूसरे व्यक्ति को दे सकता है। पर श्रमी से श्रम अलग नहीं किया जा सकता। यदि कोई मनुष्य

श्रम करने के लिए तैयार है तो उसे ख़ुद जाकर श्रम करना पड़ेगा। श्रम और श्रमी एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। इस कारण श्रमी को इस बात का विचार करना पड़ता है कि जो काम करना है, जिस स्थान पर, जिन अन्य मनुष्यों के साथ, जिस के लिए काम करना है वे सब कैसे हैं, उस स्थान का जलवायु, परिस्थिति आदि कैसी है, वहां का रहन-सहन, आचार-व्यवहार कैसे हैं। क्योंकि उस सब का प्रभाव श्रमी पर पड़ता है।

श्रमी की योग्यता-कुशलता

श्रमी की योग्यता-कुशलता बहुत कुछ उस को तैयार करनेवाले अभिभावक, संरक्षक, माता-पिता आदि की संपन्नता, दूरदर्शिता, विचार, प्रकृति, योग्यता, उदारता आदि पर निर्भर रहती है। यदि संरक्षक उदार, शिक्षित, संपन्न, दूरदर्शी हुए तो श्रमी को अच्छी शिक्षा दिला कर बहुत योग्य और कुशल बना सकते हैं। कभी-कभी श्रमी ख़ुद अपनी योग्यता-कुशलता बढ़ाने के लिए प्रयत्न करता है। परंतु अधिकांश में ऐसा बहुत कम कर सकते हैं। एक ख़ास बात यह है कि श्रमी के शिक्षण आदि में जो व्यय किया जाता है वह सदा के लिए उस में लग जाता है और बहुत ही धीरे-धीरे निकलता है। वह पूँजी या भूमि की तरह न तो रेहन रक्खा जा सकता है न बेचा ही जा सकता है।

अस्तु जो व्यक्ति अपने से भिन्न किसी और व्यक्ति की (चाहे वह उस का अपना सगा ही क्यों न हो) योग्यता तथा कुशलता बढ़ाने में सहायता, व्यय आदि करता और योग देता है उसे उस कार्य का आमतौर पर उचित और जल्दी प्रतिफल नहीं मिला करता।

किसी देश में श्रम की पूर्ति नीचे लिखी दो बातों पर निर्भर रहती है:—

श्रम की पूर्ति

(१) श्रमियों की संख्या; (२) श्रमियों की योग्यता।

श्रमियों की संख्या देश की जन-संख्या पर निर्भर रहती है। देश की जन-संख्या (१) नैसर्गिक वृद्धि—जन्म-संख्या के मृत्यु-संख्या से अधिक होने—पर और (२) आवास-प्रवास पर निर्भर रहती है।

नैसर्गिक वृद्धि (१) जलवायु (२) सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक कारणों (३) रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है।

श्रमियों की योग्यता-कुशलता (१) उन की शारीरिक, मानसिक, नैतिक शक्ति और स्वास्थ्य पर तथा (२) संगठन पर निर्भर है।

इन का सविस्तर वर्णन आगे के अध्यायों में किया गया है।

अध्याय ९

श्रमियों की संख्या और देश की जनसंख्या

उत्पत्ति के प्रमुख साधन श्रम और भूमि दो ही हैं। इन में से भूमि निष्क्रिय है। श्रम यानी मनुष्य उत्पत्ति का प्रमुख साधन भी है और साथ ही सारी उत्पत्ति उसी के उपभोग के लिए ही की जाती है, क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सब वस्तुओं की उत्पत्ति की जाती है।

धनोत्पादन में मनुष्य की महत्ता समझने के लिए इस बात के अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है कि जनता की संख्या-शक्ति क्या है। और उस उत्पत्ति के अन्य सभी साधनों और बातों के समान रहने पर जिस देश में श्रमियों की संख्या अधिक होगी उस देश में धनोत्पादन अधिक होगा।

जनसंख्या-संबधी सिद्धांत

बहुत प्राचीन काल ही से प्रत्येक देश के सामने जन-संख्या का सवाल किसी न किसी रूप में तो अवश्य ही रहा है। युद्ध के समय जन-संख्या का महत्व बहुत अधिक हो जाता है, क्योंकि जितनी ही अधिक जन-संख्या होगी उतनी ही आसानी से बड़ी से बड़ी सेना युद्ध के लिए तैयार की जा सकेगी। किंतु यदि किसी देश में खाद्य सामग्री कम होगी तो उस देश के लिए जन-संख्या की वृद्धि चिंताजनक होगी। अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थितियों के बदलने पर जन-संख्या संबंधी प्रश्न बदलते रहते हैं।

१७९८ ई० में इंगलैंड के पादरी माल्थस ने "जन-संख्या के सिद्धांत

माल्थस और जन-संख्या के सिद्धांत

पर निबंध" नामक एक गवेषणापूर्ण पुस्तिका प्रकाशित की थी। उस समय के इंगलैंड और आयरलैंड की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति के गंभीर अध्ययन के अनंतर माल्थस इस नतीजे पर पहुँचा था कि 'संसार में जन-संख्या, मनुष्य के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक खाद्य वस्तुओं के उत्पन्न करने की शक्ति से कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है। अस्तु, भविष्य के समाज के हित के लिए जन-संख्या की इस प्रकार की वृद्धि बहुत हानिकारक है। माल्थस के जन-संख्या संबंधी सिद्धांतों का निचोड़ इस प्रकार है :—

श्रम की पूर्ति

संसार के भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास से पता चलता है कि यदि रोक थाम न की जाय तो उस देश की जन-संख्या, वहां उत्पन्न होनेवाली खाद्य सामग्री की अपेक्षा बहुत शीघ्र और बड़ी तेज़ी से बढ़ जाती है। अस्तु, खाद्य सामग्री कम पड़ जाती है। संघर्ष बढ़ जाता है।

श्रम की माँग

किसी एक देश में प्रकृति जितनी खाद्य सामग्री दे सकती है उस देश के लिए उतने ही श्रम (मनुष्यों) की प्राकृतिक माँग समझना चाहिए। जितनी संख्या उस खाद्य सामग्री में अपना जीवन निर्वाह कर सके वही प्राकृतिक जन-संख्या है। इसी तरह श्रम के लिए प्राकृतिक माँग उस देश में उत्पन्न होने वाली खाद्य सामग्री है।

यदि जन-संख्या की अधिक वृद्धि रोकी न जाय तो जितनी प्राकृतिक माँग उस देश के लिए श्रम की होगी उस से पूर्ति कहीं अधिक होगी, क्योंकि जन-संख्या, खाद्य सामग्री से अधिक शीघ्रता और तेज़ी से बढ़ जाती है। इस कारण खाद्य सामग्री कम पड़ जायगी। ऐसी दशा में—

संघर्ष

जन संख्या की वृद्धि (अ) नैसर्गिक और (आ) प्रतिबंधक उपायों द्वारा रोकी जायगी। मृत्यु-संख्या बढ़ जायगी। और अंत में जन-संख्या छीजती-छीजती केवल उतनी ही रह जायगी जितनी के निर्वाह के लिए उस देश में खाद्य सामग्री पर्याप्त हो सकेगी।

जन-संख्या की वृद्धि रोक के नैसर्गिक उपाय प्रकृति द्वारा काम में लाए जाते हैं। नैसर्गिक उपाय ये हैं :—बच्चों की बहुत अधिक मृत्यु होना, प्लेग, हैज़ा, इंफ्लुएंज़ा, चेचक, बेरी-बेरी आदि महामारियों के प्रकोप; अकाल, सूखा, अतिवृष्टि, ओला-पाला, बूड़ा; युद्ध की प्रवृत्ति आदि जिन के कारण बहुत से मनुष्यों का नाश हो।

इन नैसर्गिक उपायों से होनेवाले कष्टों और दुःखों से बचने के उद्देश्य से प्रतिबंधक उपायों का अवलंबन करना अधिक उत्तम होता है, क्योंकि जन-संख्या की वृद्धि इन प्रतिबंधक उपायों द्वारा भी कम होती है, पर कष्ट कम होता है। प्रतिबंधक उपाय इस प्रकार हैं—बड़ी उम्र में विवाह करना, संयम-ब्रह्मचर्य से रहना, कम संतान उत्पन्न करना, संतान-निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाना, आदि।

यदि प्रतिबंधक उपायों द्वारा जन-संख्या की वृद्धि रोकी न जायगी तो नैसर्गिक उपाय प्रकृति के द्वारा काम में लाए जायँगे।

मालथस के सिद्धांतों की जाँच

अपने देश की उस समय की स्थिति के अध्ययन तथा निरीक्षण के बाद मालथस ऊपर लिखे नतीजे पर पहुँचा था। उस समय न तो रेल, जहाज़, तार बेतार के तार आदि यातायात आदि के साधनों का इतना विकास था और न इतने आविष्कार और सुधार ही उत्पादन के लिए हो सके थे। अस्तु, एक देश दूसरे देशों से खाद्य सामग्री इस प्रकार प्राप्त न कर सकता था जैसे वह अब कर सकता है। वर्तमान समय में खाद्य सामग्री में कमी पड़ने की उतनी आशंका नहीं है। साथ ही नवीन-नवीन उपायों द्वारा उत्पादन शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ती जाती है। अस्तु, मालथस के सिद्धांत सब देशों और सब काल के लिए लागू नहीं हो सकते और न निर्भ्रांत सत्य ही ठहर सकते हैं। इस के अतिरिक्त मालथस के सिद्धांत पर और भी आक्षेप किए जा सकते हैं और किए गए हैं जिन पर विचार करना उचित होगा।

माल्थस के सिद्धांतों पर किए गए कुछ आक्षेप निम्न हैं—

(१) क्रमागत ह्रास नियम की अपूर्णता

माल्थस के निर्णय में इस बात की उपेक्षा की गई है कि सुधारों, आविष्कारों आदि के द्वारा उत्पत्ति-संबंधी क्रमागत-ह्रास नियम रोका जा सकता है और उद्योग-धंधों में आमतौर पर क्रमागत वृद्धि का नियम लागू होता है। यानी सुधार और उपाय करने से खाद्य सामग्री की उत्पत्ति में भी बहुत अधिक वृद्धि की जा सकती है। अस्तु, माल्थस ने किसी एक देश में खाद्य सामग्री की कमीवाली बात बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रतिपादित की है। अब खाद्य सामग्री में कमी पड़ने की उतनी आशंका नहीं है।

(२) प्राणिशास्त्र की अवहेलना

माल्थस ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि मनुष्य जैसे-जैसे अधिकाधिक सभ्य होता जाता है संतान उत्पन्न करने की उस की शक्ति वैसे ही वैसे कम होती जाती है। अस्तु, संसार के देशों में सभ्यता के बढ़ने के साथ ही साथ जन-संख्या की वृद्धि में उतनी तेज़ी नहीं रह सकती।

(३) सामाजिक आर्थिक सिद्धांतों की अवहेलना

सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों के बदल जाने के कारण अब बड़े बड़े परिवारों का होना उतनी गौरव की बात नहीं समझी जाती जितनी कि पहले मानी जाती थी। अस्तु, लोग कम संतान चाहते हैं। पहले ग़रीब अपने छोटे-छोटे बच्चों को कारख़ानों में काम में लगा कर कुछ पैसे पा जाते थे। अस्तु वे बहुत से बच्चों के इच्छुक रहते थे, क्योंकि जितने ही अधिक बच्चे होते थे उतनी ही अधिक आमदनी हो सकती थी। पर अब क़ानूनन छोटे बच्चों का कारख़ानों में काम करना बंद कर दिया गया है। दूसरे क़ानूनन प्रत्येक बच्चे को स्कूल भेजना ज़रूरी है। ऐसी दशा में ग़रीब भी ज़्यादा बच्चे नहीं चाहते।

साथ ही, रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने की सभी की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। और रहन-सहन के ऊँचे दर्जे को क़ायम रखने के लिए छोटे

परिवार का होना ज़रूरी है। अस्तु, लोग अधिक संतान के उतने इच्छुक नहीं रह गए हैं।

(४) संपत्ति के प्रभाव की उपेक्षा

आमतौर पर देखा जाता है कि जो भी श्रेणी जितनी ही अधिक संपत्तिशाली होगी उस श्रेणी में प्रत्येक परिवार की दृष्टि से जन-संख्या उतनी ही कम होगी। संपत्ति की वृद्धि से जन-संख्या की वृद्धि में कमी आ जाती है। पश्चिमीय देशों में जन-संख्या वहां की संपत्ति की उत्पत्ति के बराबर भी नहीं बढ़ सकी है, उस से अधिक बढ़ना तो बहुत दूर की बात है। मशीनों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के उपयोग तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन किए जाने के कारण संपत्ति के उत्पादन में बेहद वृद्धि हुई है। पर जन-संख्या अनुपात में कम रही है। अस्तु, जन-संख्या संपत्ति की अपेक्षा कम बढ़ती है।

(५) जनसख्या-वृद्धि संबंधी भ्रम

माल्थस का कथन है कि जन-संख्या की वृद्धि ज्यामितिक-वृद्धि के अनुसार (यानी १,२,४,८,१६,३२,६४) और खाद्य सामग्री की वृद्धि अंक-गणित की वृद्धि के अनुसार (यानी १, २,३,४,५,६,७) होती है। पर उस का यह सिद्धांत निराधार और भ्रमात्मक है। असल में जन-संख्या की वृद्धि और खाद्य सामग्री की वृद्धि में ऐसा कोई भी अनुपात तथा नियम नहीं सिद्ध किया जा सकता।

माल्थस के सिद्धांत में सत्य

ऊपर के आक्षेपों के होते हुए भी माल्थस के सिद्धांत सर्वथा निराधार नहीं हैं। कुछ अंशों में उन में सत्यता अवश्य है और कुछ ख़ास परिस्थित में वे लागू भी हैं। जैसे—

(१) अमरीका, इगलैंड आदि उन्नतिशील और धनी देशों में जन-संख्या बढ़ी तो है, पर संपत्ति की वृद्धि के मुक़ाबिले में जन-संख्या की वृद्धि कम ही रही है। अस्तु, इन देशों में माल्थस के सिद्धांत लागू नहीं होते और न इन देशों में जन-संख्या के अधिक हो जाने की वैसी आशंका ही है। पर इन देशों में भी जन-संख्या की वृद्धि के रोकने के लिए नैसर्गिक

(युद्ध, महामारी आदि) तथा प्रतिबंधक (अधिक उम्र में शादी करना, संतान-निग्रह आदि) उपाय काम में लाए गए हैं। और सभ्यता की वृद्धि के साथ ही साथ इन देशों में प्रतिबंधक उपायों का महत्व भी दिन पर दिन बढ़ रहा है।

(२) भारत, चीन आदि ग़रीब और कृषि-प्रधान, तथा कला-कौशल, उद्योगधंधों से हीन देशों में आज भी जनसंख्या की वृद्धि देश में होनेवाली खाद्य सामग्री की वृद्धि से कहीं अधिक है, अस्तु इन देशों में जनाधिक्य का सवाल आज भी मौजूद है। अस्तु, माल्थस के सिद्धांत इन देशों में लागू हैं। इन देशों में एक तो रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे न होने से, दूसरे सामाजिक, धार्मिक कारणों से छोटी उम्र में शादी हो जाने से तथा प्रतिबंधक उपायों के काम में न लाए जाने से जन-संख्या बेतरह बढ़ रही है। अस्तु, नैसर्गिक उपायों द्वारा जन-संख्या में कमी होती है।

(३) कुछ विद्वानों का मत है कि आज संसार में जनाधिक्य का प्रश्न भले ही लागू न हो पर भविष्य में वह प्रश्न उठेगा ही, क्योंकि जब संसार के सभी देशों की जन-संख्या अधिक होती जायगी, तब उस के निर्वाह के लिए खाद्य सामग्री न अँट सकेगी। इस का कारण यह है कि भूमि परिमित है और उस से जो भी खाद्य सामग्री उत्पन्न की जायगी वह भी परिमित ही होगी। ऐसी दशा में जनसंख्या की वृद्धि खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक शीघ्र तथा तेज़ी से होगी। अस्तु, माल्थस का सिद्धांत भविष्य में संसार पर लागू होगा।

इस संबंध में बहुत मतभेद है। नवीन आविष्कारों, सुधारों आदि से बहुत कुछ परिस्थिति सुधरती रह सकती है। और खाद्य सामग्री की कमी पड़ने की आशंका वैसा भयंकर रूप धारण नहीं कर सकती।

किसी देश की जन-संख्या दो प्रकार से बढ़ती है—(१) प्राकृतिक वृद्धि यानी जन्म-संख्या के मृत्यु-संख्या से अधिक होने से; और (२) मनुष्य-कृत यानी आवास के प्रवास से

जनसंख्या की वृद्धि,

अधिक होने से ।

जन्म-संख्या देश के जल-वायु, रीति-रस्म, आचार-विचार तथा वैवाहिक नियमों पर निर्भर है ।

जलवायु

गर्म देशों में विवाह जल्दी और छोटी उम्र में होते हैं । अस्तु, जन्म-संख्या अधिक होती है । पर मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है । शीत-प्रधान देशों में विवाह देर से होते हैं, अस्तु, प्रत्येक विवाह पीछे कम संतान होती है । अस्तु, मृत्यु-संख्या भी वहां कम रहती है ।

सामाजिक-धार्मिक कारण

भारत ऐसे देशों में सामाजिक-धार्मिक कारणों से बहु-विवाह, कम उम्र में विवाह, प्रत्येक लड़की का अनिवार्यतः विवाहित होना सो भी छोटी ही उम्र में, प्रचलित है; अस्तु जन्म-संख्या अधिक होना ज़रूरी है और साथ ही मृत्युसंख्या भी उसी प्रकार बढ़ी-चढ़ी रहती है । पश्चिमी देशों में सामाजिक-धार्मिक कारणों से एक पुरुष एक से अधिक स्त्री से विवाह नहीं कर सकता, विवाह बड़ी उम्र में होते हैं, तथा अनेक स्थानों में एक पिता के अनेक लड़कों में केवल एक-दो ही विवाह कर सकते हैं । अस्तु, वहां जन्म-संख्या और साथ ही मृत्यु-संख्या भी कम रहती है ।

रहन-सहन का दर्जा

रहन-सहन के दर्जे पर जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या बहुत कुछ निर्भर रहती है । नीचे दर्जे के रहन-सहनवाले बहुत जल्दी विवाह करते हैं तथा उन के सामने कम संतान पैदा करने का वैसा कोई विचार नहीं रहता । अस्तु जिन श्रेणियों के रहन-सहन का दर्जा नीचा होता है उन में जन्म-संख्या अधिक होती है तथा मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है । इस के विपरीत जिन के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है वे देर में शादी करते हैं तथा अपने दर्जे को ऊँचा रखने के ख़याल से कम संतान पैदा करते हैं ताकि वे अपने बच्चों को उचित शिक्षा दिला कर ऊँचे दर्जे में रख सकें । अस्तु, जन्म-संख्या और मृत्यु-

संख्या दोनों ही इन लोगों में कम होती है। अस्तु, एक ही देश में भिन्न-भिन्न श्रेणियों में जन्म और मृत्यु-संख्या भिन्न-भिन्न रहती है।

जनसंख्या-वृद्धि और मृत्यु-संख्या

जन-संख्या की वृद्धि केवल जन्म-संख्या पर ही निर्भर नहीं है। वरन् मृत्यु-संख्या का विचार बहुत ज़रूरी है। अन्य बातों के समान रहने पर जितनी ही कम मृत्यु-संख्या होगी वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। जन्म-संख्या में से मृत्यु संख्या निकाल देने पर जो बचेगा वही वृद्धि होगी। जहां और जिन श्रेणियों में स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि के साधन अधिक उपलब्ध होते हैं उन में मृत्यु-संख्या कम होती है।

आवास-प्रवास

जन-संख्या की वृद्धि आवास-प्रवास पर भी बहुत कुछ निर्भर रहती है। जन्म-संख्या के मृत्यु-संख्या से अधिक होने पर भी यदि देश से बहुत से मनुष्य दूसरे देशों के चले जायँ तो जन-संख्या में वृद्धि न होगी। अमरीका में यूरोप के बहुत से स्त्री-पुरुष जाकर बस गए इस कारण वहां (अमरीका) की जन-संख्या बहुत बढ़ गई। पर आधुनिक समय में अनेक देश प्रतिबंध लगा कर तथा जाति-द्वेष और वर्ण-द्वेष के कारण अनेक अड़चनें खड़ी करके आवास-प्रवास को रोकने में लगे हुए हैं। अस्तु, आवास-प्रवास द्वारा जन-संख्या में रद्दोबदल अब उतना आसान नहीं रह गया है।

राजनीतिक स्थिति

जिन देशों में शिक्षा का विशेष प्रचार है तथा उद्योग-धंधों, वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा आजीविका के अनेक साधन जनता के लिए खुले हुए हैं और आर्थिक स्थिति अच्छी होने से रहन-सहन का दर्जा ऊँचा है और स्वास्थ्य चिकित्सा के साधन सुलभ हैं, वहां जन्म-संख्या कम होती है। पर मृत्यु-संख्या भी अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। अस्तु, जन-संख्या की वृद्धि उन देशों से अधिक ही होती है। जिन देशों में शिक्षा का प्रचार कम है, आजीविका के साधन परिमित हैं, धन-संपत्ति वैसी बहुत नहीं है और रहन-सहन का दर्जा नीचा है तथा

स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि के साधन वैसे उपलब्ध नहीं हैं, उन ग़रीब अशिक्षित देशों में जन-संख्या ज़्यादा होती है। पर मृत्युसंख्या भी अपेक्षाकृत बहुत बढ़ी-चढ़ी रहती है। अस्तु, जन-संख्या की वृद्धि भी अपेक्षाकृत कम ही होती है। एक बात और है। सुशिक्षित देशों में सरकार द्वारा क़ानून, इनाम आदि के ज़रिए से ऐसे उपाय किए जाते हैं जिस से आवश्यकता होने पर जन-संख्या की वृद्धि कम या अधिक की जा सकती है। अस्तु, इन देशों में जन-संख्या के ऊपर बहुत कुछ सरकारी नियंत्रण रहता है।

प्रतिबंधक उपायों से हानियां

जन-संख्या की वृद्धि रोकने के लिए जिन प्रतिबंधक उपायों का अवलंबन आमतौर पर किया जाता है उन में आत्मसंयम तथा ब्रह्मचर्य अधिक उत्तम है। किंतु यूरोप, अमरीका आदि देशों में आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य के ऊपर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। वरन् संतान-निग्रह के कृत्रिम उपाय बहुत अधिक काम में लाए जाते हैं। यहां तक कि इन कृत्रिम उपायों का उपयोग इस चरम सीमा तक पहुँच गया है कि उस से राष्ट्र को हानियां उठानी पड़ रही हैं; जनता के मानसिक-शारीरिक ह्रास तथा जन-संख्या के नाश का और उस से जातीय-आत्मघात का भय है।

मानसिक-शारीरिक ह्रास

धनवान और ऊँची श्रेणी के लोगों में बड़ी उम्र में शादी करने तथा कम बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति होती है। इस कारण उन के जो बच्चे होते हैं वे बहुत ही सुकुमार, कम साहसी होते हैं और उन में धनोत्पादन की योग्यता तथा कुशलता की कमी रहती है। इस का कारण है उन का ख़ासतौर का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और धनी के पुत्र होने से भविष्य की चिंता से मुक्ति। इस से राष्ट्र को भारी हानि उठानी पड़ती है, इस के अलावा ऊँचे दर्जे के लोगों और धनवानों में कम बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति से समाज को संपन्न व्यक्तियों की अधिक संख्या से वंचित रहना पड़ता है, जिस से सुसंस्कृत तथा सुशिक्षित जनता की संख्या में कमी आती है।

कृत्रिम उपायों द्वारा संतान-निग्रह के कारण किसी-किसी देश में तो यह भय उठ खड़ा हुआ है कि कहीं समाज का अंत न हो जाय। देश की जन-संख्या कम होने से उस देश की आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति कम हो जाती है और उस के सामने प्रबल शत्रु द्वारा हानि उठाने का भय खड़ा हो जाता है। अनेक यूरोपीय देशों के सामने इस समय यह सवाल है।

सर्वोत्तम जन-संख्या

किसी एक ख़ास समय तथा परिस्थिति में वही जन-संख्या सर्वोत्तम जन-संख्या होगी जिस में प्रति व्यक्ति पीछे औसत दर्जे सब से अधिक धनोत्पत्ति हो और जन-संख्या के तनिक भी घटने या बढ़ने से प्रति व्यक्ति पीछे औसत दर्जे धनोत्पत्ति कम हो जाय। अस्तु, केवल जन-संख्या को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि देश में जन-संख्या अधिक है अथवा कम।

अध्याय १०

श्रम की कुशलता

श्रम दो तरह का होता है—(१) साधारण श्रम, और (२) कुशल श्रम। साधारण श्रम वह श्रम है जिस के द्वारा कोई ऐसा कार्य किया जाय जिस के करने में किसी अभ्यास, शिक्षा, योग्यता की ज़रूरत न हो। कुशल श्रम वह है जिस के द्वारा कोई ऐसा कार्य किया जाय जिस के करने में अभ्यास, शिक्षा, योग्यता की ज़रूरत पड़े। पर समय और परिस्थिति के अनुसार कुशल श्रम साधारण श्रम माना जा सकता है और साधारण श्रम कुशल माना जा सकता है। जो श्रम देहात कुशल श्रम समझा जायगा वही श्रम औद्योगिक नगरों में साधारण श्रम में माना जा सकता है। औद्योगिक कुशलता श्रमियों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक गुणों तथा उन की योग्यता-क्षमता पर निर्भर रहती है।

श्रम के भेद

किसी एक श्रमी की कुशलता उस के शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति पर निर्भर रहती है और उस के शारीरिक, मानसिक, नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहती हैं :—

पश्चिमी अर्थशास्त्रियों का मत है कि देश की जलवायु का श्रम की कुशलता पर, मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। उन की राय में अधिक गर्म और अधिक ठंढे देशों के मनुष्य उतने कुशल नहीं हो सकते क्योंकि अधिक गर्मी या सर्दी से शारीरिक, मानसिक, नैतिक गुणों का ह्रास हो जाता है और उन की कार्यकुशलता घट जाती है। केवल समशीतोष्ण देशों के मनुष्य ही सब से अधिक कुशल होते हैं।

(१) जलवायु

पर यह धरणा अकाट्य नहीं है। सारा दारोमदार अभ्यास और स्थिति पर रहता है। अभ्यास और परिस्थित के कारण एक गर्म देश का लोहार आग की भट्टी के सामने लगातार दिन भर गर्मी के दिनों में भी काम करता रहता है। किंतु एक समशीतोष्ण देशवाला बिना अभ्यास के या बिना परिस्थिति द्वारा मजबूर किए गए उसी भट्टी के सामने एक घंटे भी नहीं ठहर सकेगा। अस्तु, कुशलता किसी व्यक्ति के स्वभाव, अभ्यास, परिस्थिति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है।

एक व्यक्ति के लिए किस प्रकार के और कितने परिमाण में जीवनोपयोगी पदार्थों की (भोजन, वस्त्र स्थान आदि की) ज़रूरत पड़ेगी इस का निर्णय बहुत कुछ जलवायु पर रहता है, और इस प्रकार कुशलता पर जलवायु का प्रभाव पड़े बिना नही रहता।

(२) जातिगत गुण

पश्चिमी अर्थशास्त्रियों का यह भी मत है कि कुछ जातिगत गुण ऐसे होते हैं जिन के कारण एक जाति के मनुष्य दूसरी जाति के मनुष्यों से अधिक परिश्रमी और कुशल होते हैं। कुछ अंशों में यह मत ठीक है। पर प्रत्येक जाति प्रयत्न करने पर कुशल और अध्यवसायी हो सकती है। जापानी इस के नमूने हैं।

(३) जीवनोपयोगी पदार्थ तथा रहन-सहन का दर्जा

प्रत्येक देश में किसी भी व्यक्ति के लिए उचित मात्रा में पौष्टिक भोजन, स्वच्छ, सुखद वस्त्र तथा हवादार, साफ़, सुथरे, स्वास्थ्यवर्धक स्थान में मकान तो ज़रूरी हैं ही। यदि इन की मात्रा और गुण में कमी होगी तो कुशलता में भी कमी पड़ जायगी, क्योंकि रोग, चिंता, कमज़ोरी आदि के कारण मनुष्य ठीक से काम करने लायक़ न रह जायगा। मनुष्य के रहन-सहन के दर्जे पर भी स्वास्थ्य, शक्ति तथा कुशलता निर्भर रहती है। अन्य सब बातों के समान रहने पर ऊँचे दर्जे के रहन-सहनवालों की कुशलता नीचे दर्जेवाले से अधिक होगी।

अन्य बातें समान रहने पर दो मनुष्यों में से जो भी अधिक बुद्धिमान्

(४) मानसिक शक्तियां और शिक्षा - दीक्षा

और शिक्षित होगा वही दूसरे से अधिक कुशल होगा। बुद्धिमान और श्रमी से ये लाभ होते हैं— (अ) काम सीखने में कम समय लगेगा, (आ) उस की निगरानी कम या बिल्कुल न करनी पड़ेगी; (इ) उस से वस्तुओं की कम हानि और बरबादी होगी; (ई) वह नाज़ुक से नाज़ुक और पेंचीदा से पेंचीदा मशीन को चलाना जल्दी से जल्दी सीख लेगा और उसे अच्छी तरह से काम में लाता रहेगा।

जिस मनुष्य का दिमाग़ जितना ही साफ़ होगा, याददाश्त जितनी ही अच्छी होगी और जो जितना ही जल्दी और गहराई से सोच कर निर्णय कर सकेगा वह उतना ही अधिक कुशल उत्पादक हो सकेगा।

बुद्धि और निर्णय के गुण बहुत-कुछ शिक्षा पर निर्भर रहते हैं। शिक्षा दो तरह की होती है, साधारण और विशेष। साधारण शिक्षा मानसिक, चारित्रिक, नैतिक आदि गुणों के विकास के लिए सभी मनुष्यों के लिए ज़रूरी है। भिन्न-भिन्न औद्योगिक और व्यावसायिक कार्यों के लिए भिन्न प्रकार की विशेष शिक्षा और अभ्यास ज़रूरी हैं। औद्योगिक शिक्षा के कारण मनुष्य की कुशलता और योग्यता बहुत बढ़ जाती है।

(५) नैतिक गुण

ईमानदारी, दृढ़ता, धैर्य, निर्भरता आदि नैतिक गुणों का भी कुशलता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जो आदमी मन लगा कर, ईमानदारी से काम करेगा वह निरीक्षक के भय से बेमन कार्य करनेवाले से कहीं अच्छा और अधिक कार्य कर सकेगा। अपने मन से स्वतंत्रतापूर्वक जो काम किया जायगा वह जबरन कराए गए कार्य से कहीं अच्छा और अधिक होगा।

(६) उन्नति की आशा आदि

इसी प्रकार उन्नति तथा लाभ की आशा होने से भी अच्छा और अधिक कार्य होगा। साथ ही किसी एक कार्य में बराबर लगे रहने से मन ऊब उठता है और कार्य में शिथिलता आ जाती है। यदि कार्य के बीच में विश्राम दिया

जाय और उसी तरह के दूसरे कार्य बीच-बीच में बदल कर किए जायँ तथा कार्य के बाद मनबहलाव के साधन रहें तो कार्य अधिक और अच्छा होता है।

(७) पारिश्रमिक की व्यवस्था

यदि किसी को यह आशा और विश्वास हो जाय कि जो कार्य वह कर रहा है उस के बदले में उसे जल्दी और सीधे (प्रत्येक रूप से) पारिश्रमिक मिल जायगा तो वह उसी कार्य को अधिक अच्छी तरह से और जल्दी समाप्त करने की चेष्टा करेगा।

(८) संगठन

श्रमजीवियों के समुचित संगठन से भी उन की कुशलता बहुत बढ़ जाती है। जब श्रमजीवी असंगठित रहते हैं तब उन्हें एक तो बहुत सस्ते में अपना श्रम बेंचना पड़ता है, जिस से वे अपना और अपने बच्चों का सुधार नहीं कर सकते; दूसरे वे अपनी शिक्षा-दीक्षा आदि का भी समुचित प्रबंध नहीं कर सकते।

अध्याय ११

श्रम-विभाग

श्रम-विभाग का विकास-क्रम

समाज की पूर्वावस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु ख़ुद ही उत्पन्न करनी पड़ती थी। उस अवस्था में श्रम-विभाग नहीं था। हर एक व्यक्ति को सभी तरह का श्रम करके अपनी सभी छोटी-बड़ी आवश्यकताओं की ख़ुद ही पूर्ति करनी पड़ती थी। प्रत्येक को फल-फूल तोड़ कर, मूल खोद कर, जानवरों का शिकार करके या मछली पकड़ कर ख़ुद ही भोजन की वस्तुएं जुटानी पड़ती थीं। ख़ुद ही वस्त्र तैयार करने पड़ते थे। ख़ुद ही अपने लिए ज़रूरी शस्त्रास्त्र और औज़ार-बर्तन बनाने पड़ते थे। और ख़ुद ही झोंपड़ी या गुफा तैयार करनी पड़ती थी। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने लिए शिकारी, किसान, कपड़ेवाला, कुम्हार, कारीगर, मिस्त्री, बढ़ई आदि होता था। धीरे-धीरे ज्ञान और अनुभव बढ़ने के साथ ही कामों में बँटवारा होने लगा। यह देखा गया कि यदि एक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति और सारा समय किसी एक ख़ास काम में लगाता है, तो वह उस एक वस्तु को अधिक अच्छी और अधिक परिमाण में बना सकता है। अस्तु, अपनी-अपनी कार्य-क्षमता, रुचि, सुविधा तथा परिस्थिति, के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न पेशे अपना लिए। कोई केवल बर्तन बनाने लगा, कोई कपड़ा, कोई औज़ार, कोई मकान। इन लोगों ने अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं दूसरों से लेनी शुरू कीं। सभ्यता के और अधिक बढ़ने पर प्रत्येक पेशे के काम भी कई-कई विभागों में बँट गए। पहले कपड़े बनाने वाला ख़ुद ही कपास से रुई निकालता, उसे धुनता, कातता और

कते सूत को बुन कर कपड़ा तैयार करता था। बाद में एक व्यक्ति ने केवल कपास से रुई निकालना शुरू किया, दूसरा उसे केवल धुनने लगा, तीसरा सूत कातने लगा और चौथा कते सूत से कपड़ा बिनने लगा। इस प्रकार एक ही पेशे में सूक्ष्मश्रम-विभाग हो गए।

बाद में और भी सूक्ष्म विभाजन किया गया। कपड़े बिनने ही में प्रायः ८० से १०० सूक्ष्म विभाग हो गए। आलपीन बनाने का काम लगभग २० उपविभागों में बँट गया, जिस में से प्रत्येक उपविभाग का कार्य-क्रम से अलग-अलग एक-एक व्यक्ति के द्वारा किया जाने लगा।

श्रम-विभाग का विकास-क्रम इस प्रकार है :—

(१) प्रथम स्थिति—श्रम विभाग की सब से पहली स्थिति वह है जब पुरुष और नारी में सुविधा का ख़याल करके काम का बँटवारा किया गया। पुरुष युद्ध, शिकार आदि अपने ज़िम्मे लेता है और नारी को बाल-बच्चों और घर के कामों को सँभालने का काम मिलता है।

(२) दूसरी स्थिति में भिन्न-भिन्न काम पेशे के अनुसार बँट जाते हैं। समाज का एक व्यक्ति केवल बर्तन बनाने का कुल काम अपने ज़िम्मे लेकर दूसरे काम दूसरों के लिए छोड़ देता है। दूसरा व्यक्ति केवल औज़ार बनाने का काम लेता है। तीसरा केवल लकड़ी का काम अपने ज़िम्मे लेता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न पेशे अख़्तियार करके श्रम-विभाग शुरू करते हैं और अपनी आवश्यकता की अन्य सभी वस्तुएं दूसरों से बदले में प्राप्त करते हैं। यहीं से जाति-भेद शुरू होता है।

(३) तीसरी स्थिति तब आती है जब एक ही पेशे का काम भिन्न-भिन्न उपविभागों में बँट जाता है और श्रम-विभाग और भी जटिल और सूक्ष्म हो जाता है। आलपीन के काम को लगभग २० उपविभागों में इस क्रम से बाँटना कि एक आदमी तार खींचे, दूसरा उस के टुकड़े काटे, तीसरा उन्हें घिस कर बराबर करे, चौथा नोक निकाले पाँचवा उन के सिरे जोड़े, छठा उन में पालिश करे आदि-आदि। इस स्थिति में एक व्यक्ति

द्वारा किए गए कार्य से कोई भी वस्तु पूरी नहीं बनती। उसे क्रम से एक-एक करके कई मनुष्यों के हाथों से गुज़रना पड़ता है और प्रत्येक मनुष्य क्रम से अपने हिस्से का काम करके उसे आगे क्रम के लिए दूसरे को देता जाता है और अंत में वह इसी क्रम से पूर्णता को पहुँचती है।

(४) चौथी स्थिति है स्थानीय या अंतर-राष्ट्रीय श्रम-विभाग। इस स्थिति में आवागमन तथा यातायात आदि के साधनों की सुगमता, सस्तापन, शीघ्र-गामिता तथा सुसंगठन होने तथा अंतर-राष्ट्रीय व्यापार-व्यवसाय के सुचारु रूप से संचालित होने के कारण संसार के भिन्न-भिन्न देश अथवा स्थान-केवल उन्हीं वस्तुओं या निर्माण-क्रमों को विशेष रूप से अपना रहे हैं जिन के उत्पादन के लिए वे जलवायु, प्राकृतिक कारणों तथा अपने अधिवासियों की विशेष औद्योगिक क्षमता, कार्यकुशलता, तथा योग्यता के कारण सब से अधिक उपयुक्त ठहरते हैं।

साधारण तथा सूक्ष्म जटिल-श्रम विभाग

जब सुभीते के लिए किसी समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न पेशों को श्रम-विभाग के अनुसार इस प्रकार अलग-अलग करने लगते हैं कि एक पेशे का कुल काम शुरू से आख़िर तक प्रायः एक ही व्यक्ति करता है तो उसे साधारण-श्रम-विभाग कहते हैं, जैसे कपड़ा बिननेवाला या जुलाहा बुनाई का कुल कार्य शुरू से आख़िर तक ही ख़ुद करता है। किंतु जब एक ही काम में भिन्न-भिन्न क्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न उपविभाग हो जाते हैं तो उसे सूम जटिल श्रम-विभाग कहते हैं, जैसे बिनाई के काम को क्रम से अनेक उपविभागों में बाँटना।

श्रम-विभाग की मोटे तौर पर तीन स्थितियां होती हैं :—

(१) जुदा-जुदा पेशों का होना।

(२) एक-एक पेशे के कई ऐसे उपविभाग होना जो अपने-अपने तौर पर पूर्ण हों।

(३) एक-एक पेशे के अनेक ऐसे विभाग होना जिस में से प्रत्येक

अपने में पूर्ण हो।

नीचे लिखी दशाओं में ही श्रम-विभाग संभव और लाभदायक हो सकता है:—

(१) जब मंडी बड़ी हो और उस वस्तु की खपत अधिक हो। यदि वस्तु की माँग अधिक होगी तभी वह वस्तु बड़े पैमाने पर बनाई जा सकेगी और उस के बनाने में अधिक मनुष्य लगाए जा सकेंगे तथा उस के बनाने के क्रम में विभाग किए जा सकेंगे। श्रम-विभाग तभी संभव है जब अनेक व्यक्ति उस काम के करने में लगें और कार्य के क्रम को इस प्रकार बाँटा जा सके कि प्रत्येक विभाग का कार्य अलग-अलग हो और क्रम के अंत में सब विभिन्न विभागों के श्रम का फल वही एक काम या वस्तु हो। यदि क्रम-विभाग न होगा तो श्रम-विभाग न माना जायगा चाहे अनेक आदमी मिल कर ही कोई काम क्यों न करें। यदि एक बड़े पत्थर को अनेक आदमी उठाने में लगते हैं तो वह श्रम-विभाग न होगा, क्योंकि पत्थर उठाने के कार्य में क्रम-विभाग कुछ भी नहीं है।

(२) श्रम-विभाग उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में हो सकता है जिन का उत्पादन कार्य बराबर लगातार होता रहे, ऋतु-विशेष आदि के अनुसार समय-समय पर बदलता न रहे। यदि काम लगातार न होता रहेगा तो श्रमी अपने एक ख़ास क्रम-विभाग को क़ायम न रख सकेगा। अस्तु श्रम-विभाग न हो सकेगा। इसी कारण उद्योग-धंधों में कृषि की अपेक्षा बहुत अधिक श्रम-विभाग की गुंजायश है। श्रम-विभाग में सब से अधिक लाभ तभी हो सकेगा जब प्रत्येक श्रमी काम के कम से कम क्रम में बराबर लगातार लगा रहे और प्रत्येक क्रम ऐसा हो कि प्रत्येक श्रमी को अपनी सब से अधिक कार्यकुशलता तथा शक्ति लगाना पड़े; और वह क्रम ऐसा हो कि वह श्रमी की योग्यता, कुशलता, क्षमता, शिक्षा के उपयुक्त हो तथा उस क्रम के निमित्त अच्छी से अच्छी मशीन, औज़ार आदि ठीक से श्रमी के उपयोग के लिए दिए जायँ।

श्रम-विभाग से श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है।

श्रम विभाग से लाभ

अन्य बातों के समान रहने पर जितना ही अधिक श्रम-विभाग होगा उतना ही अधिक धनोत्पत्ति की योग्यता बढ़ जायगी। श्रम-विभाग से उत्पादन की योग्यता नीचे लिखे अनुसार बढ़ती है :—

(१) शारीरिक और मानसिक शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग—श्रम विभाग के कारण देश के बलवान, निर्बल; छोटे, बड़े; मूर्ख, बुद्धिमान; कुशल, अकुशल; यहां तक कि लूले लंगड़े, अंधे-काने, बहरे आदि सभी तरह के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्धों को उत्पादन कार्य में लगाया जा सकता है; क्योंकि श्रम-विभाग के कारण जो जिस योग्य होगा उस को उसी काम में लगा कर उस का उपयोग उत्पादन-कार्य में कर लिया जायगा। यदि एक ही व्यक्ति को उत्पादन-कार्य का आदि से अंत तक सभी क्रम निबाहना पड़े तो देश के बहुत से व्यक्तियों का उपयोग नहीं हो सकेगा। अस्तु राष्ट्र की बहुत सी शक्ति व्यर्थ जायगी। श्रम-विभाग के बिना एक कुशल श्रमी को बहुत-सा ऐसा काम करना पड़ेगा जिसे एक अकुशल श्रमी आसानी से और सस्ते में कर सकता है, अस्तु कुशल श्रमी की कुशलता का पूरा लाभ न उठाया जा सकेगा। साथ ही अकुशल श्रमी को कुछ ऐसा कार्य भी करना पड़ेगा जिस में कुशलता की ज़रूरत है, इस लिए काम ख़राब होगा। श्रम-विभाग से इस तरह की अड़चन दूर हो जाती है। यह बात नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है।

फ़ोर्ड के मोटर के कारख़ाने में हर एक मोटर के बनाने में कम से कम ७८८२ क्रम-विभाग थे। इन में से ९४९ ऐसे थे जिन में केवल मज़बूत आदमी काम कर सकते थे, और ३३३८ ऐसे थे जिन को साधारण व्यक्ति भी कर सकते थे। शेष ३५९५ ऐसे थे जिन में कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति भी आसानी से योग दे सकता था। इन ३५९५ क्रमों में से ६७० ऐसे थे जिन्हें ऐसे आदमी भी कर सकते थे जिन की दोनों टाँगें तक न हों; २६-

३७ क्रम ऐसे थे जिन्हें एक टाँग वाले व्यक्ति कर सकते थे। दो कार्य ऐसे थे जिन्हें ऐसे व्यक्ति भी कर सकते थे जिन के दोनों हाथ तक न हों, ७१९ ऐसे थे जिन्हें एक हाथ वाला भी कर सकता था; तथा १० क्रम ऐसे थे जिन्हें बिल्कुल अंधा व्यक्ति भी आसानी से कर सकता था। इस से स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म श्रम-विभाग के कारण सभी तरह के मनुष्यों से काम लिया जा सकता है।

(२) निपुणता की वृद्धि—एक ही काम के एक अंश को बार बार करते रहने से मनुष्य उस में खूब मँज जाता है और उस की निपुणता बहुत बढ़ जाती है। यदि उसे पूरा काम आदि से अंत तक करना पड़े तो वैसी निपुणता नहीं आ सकती।

(३) समय की बचत—(अ) चूँकि एक ही कार्य अथवा एक कार्य का एक ही अंश सीखना पड़ता है, अस्तु, सीखने में कम समय लगाना पड़ता है। इस से समय की बचत होती है, साथ ही निपुणता अधिक होती है। (आ) यदि एक ही मनुष्य को किसी पूरे काम को करना पड़े तो उसे एक क्रम से दूसरे क्रम में लगने और एक प्रकार के औज़ारों, मशीन आदि को छोड़ कर दूसरे प्रकार के औज़ारों या मशीन को लेकर काम शुरू करने में बहुत-सा समय नष्ट करना पड़ता है। यदि उसे एक ही अंश में बराबर लगा रहना पड़े तो औज़ारों, मशीन आदि को बार-बार बदलने में व्यर्थ समय नष्ट न करना पड़ेगा। स्थान, वस्तु आदि के बदलने में जो समय नष्ट होता है उस में भी बचत होगी।

(४) मितव्ययिता—श्रम-विभाग से औज़ारों के उपयोग तथा कच्चे माल आदि में बहुत मितव्ययिता होती है। जब एक ही आदमी को अनेक कार्य अथवा एक ही कार्य के अनेक उपविभागों के कार्य करने पड़ते हैं तो उसे अनेक तरह के औज़ारों से काम लेना पड़ता है जिन में कुछ न कुछ हर समय फ़ालतू पड़े रहते हैं और सब औज़ारों में ख़र्च भी ज़्यादा लगता है। उन्हें वह उतनी सावधानी से रख भी नहीं सकता। यदि एक

व्यक्ति को किसी कार्य के एक ही उपविभाग का काम करना पड़े तो औज़ार कम लगेंगे, ख़र्च कम होगा, उन औज़ारों का बराबर उपयोग होता रहेगा तथा थोड़े होने के कारण वे अच्छी तरह से रक्खे जा सकेंगे। दूसरे, जब एक आदमी किसी काम के एक उप-विभाग के कार्य को करेगा तो अधिक निपुण होने के कारण कच्चे माल को उतना ख़राब न करेगा तथा जो कच्चा माल या वस्तु तैयार होने पर छीज या व्यर्थ के हिस्से के रूप में बचेगा उस का भी उचित उपयोग हो सकेगा।

(५) यंत्रों का अधिक उपयोग—जब कोई काम कई उपविभागों में बाँट दिया जाता है तो प्रत्येक उपविभाग की क्रिया सरल हो जाती है, अस्तु उस के लिए यंत्र बन जाते हैं जो मनुष्य के काम को करने लगते हैं। इस से उत्पादन-कार्य की क्षमता बढ़ जाती है।

(६) आविष्कारों तथा सुधारों के लिए आसानी—प्रत्येक उपविभाग की क्रिया सरल, सुबोध और परिमित होती है। इस कारण प्रत्येक क्रिया में सुधार और उस कार्य से संबंध रखनेवाले आविष्कार करना आसान हो जाता है।

(७) सहयोग तथा सभ्यता की वृद्धि—श्रम-विभाग के कारण उत्पादन-कार्य अनेक उपविभागों में बँट जाता है, और प्रत्येक उपविभाग का कार्य अन्य उपविभागों पर परस्पर निर्भर रहता है। क्योंकि जब तक क्रम से अंतिम उपविभाग का कार्य समाप्त न हो जाय तब तक वह वस्तु उपयोग में लाने योग्य नहीं होती। अस्तु, श्रमजीवी एक दूसरे पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। दूसरे, श्रम-विभाग के कारण उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है, लागत ख़र्च कम पड़ने से वस्तु सस्ती होती है। अस्तु अधिक मनुष्य उसे ख़रीद कर उस का उपभोग कर सकते हैं। इस प्रकार रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जाता है और सभ्यता की वृद्धि होती है।

(८) उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है—बिना श्रम-विभाग के जहां एक आदमी प्रतिदिन केवल दस-बीस आलपीनें बना सकता था, सो भी

बहुत ही भद्दी और बेमेल, वहां श्रम-विभाग के कारण फ़ी आदमी प्रतिदिन ५००० से ऊपर आलपीनें बना सकता है और वह भी बहुत ही बढ़िया और एक-सी।

श्रम-विभाग से हानियाँ

ऊपर श्रमविभाग से होनेवाले लाभों का वर्णन किया गया है। किंतु श्रमविभाग से केवल लाभ ही नहीं होते। उस से होनेवाली कुछ हानियां भी विचारणीय हैं। श्रम-विभाग के समर्थक इन हानि-संबंधी तर्कों का उत्तर देते हैं। हम हानियों का वर्णन उन के उत्तरों सहित नीचे देते हैं—

(१) आदमी मशीन बन जाता है—श्रमविभाग के कारण प्रत्येक मनुष्य को केवल एक उपविभाग में मशीन की तरह काम करते रहना पड़ता है। उसे अपने दिमाग़ या बुद्धि से वैसा काम नहीं लेना पड़ता। अस्तु उस के मस्तिष्क तथा बुद्धि के विकास के लिए कोई अवसर नहीं मिलता। निपुण, कुशल व्यक्ति की कम आवश्यकता होती है। अस्तु उन का क्षेत्र घट गया है। यदि उसे आलपीनों को बराबर-बराबर काटना है तो दिन भर उसी काम में लगा रहना पड़ेगा। काम में कुछ विभिन्नता न होने से नीरसता आ जाती है, जो जीवन के लिए हानिकर होती है। वह निर्जीव मशीन-सा बन जाता है।

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि काम के एक विभाग के सीखने में कम समय और शक्ति तथा व्यय लगते हैं। और अधिक कुशलता-निपुणता जल्दी आ जाती है। इस से उत्पादन अधिक और अच्छा हो सकता है। अस्तु, मज़दूरी ज़्यादा मिलती है और कारख़ाने में कम घंटे काम करना पड़ता है। काम में मँज जाने से मेहनत भी कम पड़ती है। अस्तु, श्रमी अपने जीवन का बाक़ी और अधिक समय मनोरंजन, आत्मोन्नति के साधनों में स्वच्छंद होकर लगा सकता है। इस से जीवन में एक ही ढंग में डूबे रहना नहीं पड़ता और नीरसता नहीं आने पाती। इस कारण श्रम-विभाग श्रमजीवी के लिए अधिक हितकर है।

काम सरल होने पर भी प्रत्येक कार्य के कुछ उपविभागों में विशेष योग्यता-निपुणता की ज़रूरत पड़ती है। दूसरे नित नए पदार्थों, मशीनों की उत्पत्ति के कारण बुद्धि की तथा निपुणता-कुशलता की अधिकाधिक आवश्यकता हो गई है। उस का क्षेत्र बढ़ गया है।

(२) बेकारी—(अ) श्रम-विभाग के कारण काम के सरल और परिमित होने से मनुष्यों के स्थान पर स्त्रियां और बच्चे कम मज़दूरी पर रख लिए जाते हैं। इस से कुछ पुरुषों को बेकारी का सामना करना पड़ता है। (आ) श्रम-विभाग के कारण प्रत्येक व्यक्ति काम के एक ही भाग को सीखता और जानता है और उसी में लगा रहता है। उसे दूसरे काम को सीखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। किंतु यदि किसी कारण उस के काम की माँग न रहे या घट जाय तो उसे बेकार हो जाना पड़ता है। और चूँकि उस को अन्य कामों की शिक्षा नहीं मिली है, इस लिए वह किसी दूसरे काम में नहीं लग सकेगा। दूसरे, मज़दूर एक दूसरे के कामों पर इतने निर्भर कर दिए गए हैं कि यदि एक प्रकार के काम करनेवाले मज़दूर किसी कारण बेकार हो जायँ तो उसी काम के अन्य उपविभागों में काम करने वाले सभी मज़दूर भी बेकार हो जायँगे। अस्तु, श्रम-विभाग से बेकारी का प्रश्न और भी भीषण हो गया है।

ऊपर के आक्षेपों का उत्तर भी है। यह मानना पड़ेगा कि श्रमविभाग के कारण प्रत्येक उपविभाग का काम सरल कर दिया गया है और शीघ्र ही, आसानी से और कम समय तथा थोड़े व्यय में सीखा जा सकता है। अस्तु, बेकार मनुष्य जल्दी दूसरे काम को सीख कर उस में लग सकता है। श्रम-विभाग के कारण अब श्रमियों को अपने एक काम में डूबे रहने के लिए मजबूर नहीं होना पड़ता। वे जल्दी ही दूसरा काम सीख कर काम को आसानी से बदल सकते हैं।

(३) स्वास्थ्य की हानि—श्रमविभाग के कारण प्रत्येक व्यक्ति को काम के पूरे समय भर एक ही प्रकार से लगे रहना पड़ता है। दूसरे, कारख़ाने

की प्रथा का बोलवाला हो गया है। अस्तु, एक ही स्थान पर सैकड़ों, हज़ारों व्यक्तियों को एक साथ काम में लगना पड़ता है। इन कारणों से उन के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस संबंध में अनेक सुधार किए जा रहे हैं।

मनुष्य प्रगतिशील प्राणी है। उन्नति करते रहना उस का स्वभाव है।

श्रमविभाग का परिणाम

श्रमविभाग उन्नतिशीलता और प्रगति का फल है। इस से मनुष्य की उत्पादन-शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ गई है, और मनुष्य भारी, हानिकर, अरुचिकर, गंदे, नीरस, कष्टदायक कामों से छुटकारा पा गया है, क्योंकि ऐसे काम अब मशीनों से लिए जाते हैं, जो श्रमविभाग की प्रमुख देन है। श्रम-विभाग के कारण देश के प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति को उस की योग्यता, निपुणता, शिक्षा, सामर्थ्य के अनुसार काम में लगाया जा सकता है। इस कारण शक्ति का ह्रास नहीं होने पाता। कार्य का समय घट गया है और मज़दूरी बढ़ गई है। श्रमियों को विश्राम, मनोरंजन, आत्मोन्नति के लिए बहुत अधिक समय बचने लगा है। धनोत्पादन अधिक से अधिक हो सकता है तथा ज्ञान की, आविष्कारों की, और सभ्यता की वृद्धि हो रही है। जो कुछ हानियां हैं वे श्रम-विभाग के दुरुपयोग के कारण हैं और उन का प्रतिकार तेज़ी से किया जा रहा है।

अध्याय १२

पूँजी

संपत्ति दो तरह की होती है—(१) एक तो वह जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीधे (प्रत्यक्ष रूप से) काम में आए। इसे उपभोग्य संपत्ति कहते हैं। (२) दूसरी वह जो सीधे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपभोग में न आ सके, वरन् और अधिक संपत्ति उत्पादन करने के काम में आवे। इसे उत्पादक संपत्ति कहते हैं।

संपत्ति के भेद

उत्पादक संपत्ति के भी दो भेद होते हैं—(अ) एक तो वह जो मनुष्य द्वारा उत्पन्न न की गई हो वरन् प्रकृति की देन हो जैसे भूमि और अन्य प्राकृतिक देन। (आ) दूसरे वह जो मनुष्य के द्वारा उत्पन्न की गई हो, जैसे मशीन, कारख़ाने, औज़ार, रेल, तार, जहाज़ कच्चा माल, मकान, हल, बैल, बीज, श्रमियों को दिया जानेवाला वेतन आदि। इसे पूँजी कहते हैं।

सब पूँजी धन होती है। पर सब धन पूँजी नहीं होता। केवल वही धन जो और अधिक धनोत्पादन में काम आए पूँजी माना जायगा। एक आदमी के पास कुछ धन है। यदि वह उसे खाने-पीने, दान-भेंट में लगाता है तो वह पूँजी न माना जायगा। पर यदि वह उसे ब्याज पर उधार देता है या एक कारख़ाना खोल कर उसे किसी वस्तु के उत्पादन में लगाता है तो वही धन पूँजी माना जायगा।

धन और पूँजी

प्रारंभिक अवस्था में धनोत्पत्ति के लिए केवल श्रम और भूमि अनिवार्य हैं। पूँजी अधिक उत्पत्ति में सहायक ज़रूर होती है, पर अनिवार्य नहीं होती। यदि पूँजी न हो तो भी मनुष्य धनोत्पत्ति कर ही लेता है। पूँजी की सहायता

धनोत्पत्ति और पूँजी

से धनोत्पत्ति की मात्रा और शक्ति बहुत बढ़ जाती है। एक किसान हल-बैलों के ज़रिए अधिक शीघ्रता और आसानी से खेतों को जोत-बोकर अन्न उत्पन्न कर सकता है। किंतु जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति में विकास होता जाता है वैसे ही वैसे धनोत्पत्ति में पूँजी का महत्व बढ़ता जाता है। वर्तमान समय में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कारण पूँजी का महत्व इतना बढ़ गया है कि बिना ख़ासी पूँजी के धनोत्पत्ति का कार्य न तो प्रारंभ ही किया जा सकता और न चलाया ही जा सकता है, क्योंकि बड़े-बड़े कारख़ानों के लिए बहुत बड़ी पूँजी की ज़रूरत पड़ती है। छोटे पैमाने पर उत्पत्ति शुरू करने में न तो तैयार माल उतना सस्ता पड़ता है और न उस की बिक्री का वैसा प्रबंध ही हो सकता और न प्रतियोगिता में ठहरा ही जा सकता। अस्तु, आधुनिक समय में पूँजी का महत्व श्रम आदि से बहुत बढ़ गया है। पूँजी के सामने और सब साधन फीके पड़ गए हैं।

पूँजी की उत्पादकता

पूँजी ख़ुद तो अपने आप कुछ नहीं कर सकती, वह निष्क्रिय है। यदि पूँजी का उपयोग करने के लिए श्रम और प्रबंध न हों तो पूँजी बेकार पड़ी रहे, उस से कोई उत्पत्ति न हो। जब श्रम द्वारा उस का उचित उपयोग किया जाता है, तभी पूँजी उत्पादक हो सकती है। किंतु यदि श्रम बिना पूँजी के उत्पादन कार्य में लगे तो उत्पत्ति बहुत ही कम हो सकेगी। बिना पूँजी के श्रम उतना उत्पादक नहीं हो सकता। मशीन, औज़ार, कच्चे माल के रूप में पूँजी का उपयोग करके ही श्रम अधिक से अधिक उत्पत्ति कर सकता है। अन्य सब बातों के समान रहने पर जिन श्रमियों को उत्पादन कार्य में जितनी ही अधिक पूँजी की सहायता मिलेगी उन की उत्पत्ति उतनी ही अधिक होगी। पूँजी के कारण श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

पूँजी की उत्पादकता के संबंध में दो मत विशेष उल्लेखयोग्य हैं— एक तो प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत है कि पूँजी धनोत्पत्ति के लिए अनिवार्य है। बिना पूँजी के सभ्य समाज में धनोत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि

कोई व्यक्ति धनोत्पत्ति करना चाहता है तो यह ज़रूरी है कि या तो ख़ुद उस के पास पूँजी हो या वह किसी पूँजीपति से सहयोग करके या उस के अधीन श्रमी होकर उस से औज़ार, मशीन, कारख़ाना, कच्चे माल, संचालन शक्ति (बिजली, आदि,) के रूप में पूँजी लगवा कर धनोत्पत्ति करे। जिस समाज में जितनी ही अधिक पूँजी होगी उस की उत्पादक शक्ति उतनी ही बढ़ी-चढ़ी होगी। दूसरा मत है समाजवादियों का। उन का कहना है कि पूँजी के द्वारा दूसरों के श्रम को अपने लाभ के लिए उपयोग में लाने की शक्ति पूँजीपति को प्राप्त हो जाती है। पूँजीपति ख़ुद कुछ भी श्रम नहीं करता। पर अपनी पूँजी के बल पर दूसरे श्रमजीवियों के श्रम से उत्पन्न संपत्ति का अधिकांश भाग हड़प लेता है। जिस के पास जितनी ही अधिक पूँजी होगी उस की शक्ति दूसरों के श्रम के फल को हड़प लेने की उतनी ही अधिक होगी।

पूँजी की असली विशेषता है श्रम की उत्पादन शक्ति को बहुत अधिक बढ़ा देना। यह पूँजी की उत्पादन-वृद्धि करनेवाली शक्ति के दुरुपयोग का फल है कि श्रमजीवियों के श्रम का अनुचित लाभ उठा कर पूँजीपति ख़ुद और अधिक पूँजी बढ़ा लेते हैं।

पूंजी के भेद

अर्थशास्त्रियों ने विविध दृष्टियों से पूँजी के अनेक भेद किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) चल और अचल

जो पूँजी धनोत्पादन में अधिक न टिक कर एक ही बार के उपयोग में, थोड़े ही समय में काम आ जाती है और फिर दुबारा काम में लाए जाने के लिए नहीं रह जाती, उसे चल या अस्थायी पूँजी कहते हैं, जैसे बीज, श्रमजीवियों की मज़दूरी, कारख़ाने का कोयला, कच्चा माल आदि। जो पूँजी बहुत समय तक अनेक बार धनोत्पादन के उपयोग में लाई जा सके उसे अचल, स्थायी पूँजी कहते हैं, जैसे कारख़ाने की इमारत, मशीनें, औज़ार आदि।

स्थिति-भेद के कारण वही पूँजी एक के लिए चल पूँजी और दूसरे के

लिए अचल मानी जा सकती है। जो कारख़ाना जहाज़, रेल की पटरियां मशीनें या औज़ार बना कर बेंचता है उस के लिए ये सब तैयार माल होंगे इनकी गिनती चल पूँजी में की जायगी, क्योंकि वह एकबार ही उन्हें बेंच कर रुपया खड़ा कर लेता है। पर जो उन्हें आगे के धनोत्पादन में सहायता देने के लिए ख़रीदेंगे उन के लिए ये ही वस्तुएं अचल पूँजी होंगी क्योंकि वे इन का अनेक बार अपने उत्पत्ति क्रम में उपयोग करके धनोत्पादन करेंगे।

(२) उत्पत्ति-पूँजी और उपभोग-पूँजी

जिन वस्तुओं से अन्य वस्तुओं की प्रत्यक्ष रूप में उत्पत्ति हो उन्हें उत्पत्ति-पूँजी कहते हैं, जैसे कच्चा माल, औज़ार, मशीन आदि। कोई-कोई इसे व्यापार-पूँजी भी कहते हैं। पर मार्शल का मत है कि व्यापार-पूँजी में वे सभी वस्तुएं आ जाती हैं जिन्हें कोई व्यक्ति अपने व्यापार के लिए काम में लाता है, जैसे बिक्री के लिए रक्खी हुई वस्तुएं, श्रमजीवियों का भोजन, वस्त्र आदि। उपभोग-पूँजी उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष रूप में तो उपभोग के काम में आकर आवश्यकताओं की पूर्ति करे पर परोक्ष रूप में धनोत्पादन में सहायक हो, जैसे श्रमियों के भोजन-वस्त्र आदि।

(३) वेतन-पूँजी और सहायक पूँजी

उत्पादक कार्य में लगे हुए श्रमियों को जो पूँजी वेतन के रूप में दी जाय उसे वेतन-पूँजी कहते हैं। वेतन-पूँजी के अलावा और जो भी पूँजी उस व्यवसाय में लगी हो उसे सहायक या साधक पूँजी कहते हैं।

(४) व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राष्ट्रीय पूँजी

जिस पूँजी पर किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का अधिकार हो उसे व्यक्तिगत पूँजी कहते हैं। जिस पूँजी पर किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह विशेष का अधिकार न होकर किसी स्थान की जनता का सम्मिलित अधिकार हो उसे सार्वजनिक पूँजी कहते हैं। किसी एक राष्ट्र या देश की सारी पूँजी मिल कर राष्ट्रीय पूँजी मानी जाती है। जिस पूँजी पर एक से अधिक राष्ट्रों का सम्मिलित अधिकार होता है उसे अंतर्राष्ट्रीय पूँजी कहते हैं।

अचल और सहायक पूँजी के बढ़ाने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती जा रही है। कृषि तथा उद्योग-धंधों में सभी जगह यह प्रयत्न हो रहा है कि जहां तक हो सके मनुष्यों के स्थान में मशीनों से अधिकाधिक काम लिया जाय, ताकि एक बार पूँजी लगा कर मशीनें ख़रीद ली जायँ और बार-बार दिए जाने वाले श्रमियों के वेतन यानी चल पूँजी में कमी हो। इस के कारण अचल और सहायक पूँजी चल और वेतन-पूँजी से बहुत अधिक बढ़ रही है।

प्रवृत्ति

जो देश ग़रीब और औद्योगिक उन्नति में पिछड़े हुए हैं उन्हें अपने उद्योग-धंधों, कल-कारख़ानों की उन्नति के लिए विदेशों से पूँजी लेनी पड़ती है। पर प्रायः विदेशी पूँजी के कारण उन्हें सूद के साथ ही कुछ राजनीतिक अधिकार भी देने पड़ते हैं। इस से उन्हें हानि उठानी पड़ती है। ग़रीब तथा पिछड़े हुए देशों को विदेशी पूँजी से लाभ उठाना चाहिए पर इस प्रकार कि विदेशी प्रभाव के कारण उन की उन्नति आदि में हानि न हो, बाधा न पड़े।

देशी और विदेशी पूँजी

अध्याय १४

पूँजी की वृद्धि

पूँजी तथा संचय

सभी पूँजी धन है। धन श्रम से उत्पन्न होता है। श्रम करके उत्पन्न किया हुआ धन जब आगे के धनोत्पादन के लिए बचा लिया जाता है तो उसी को पूँजी कहते हैं। अस्तु, पूँजी पहले के (भूतकालीन) श्रम का फल है, जो आगे के काम के लिए संचित किया जाता है। धन को भविष्य के धनोत्पादन के लिए संचित करने के लिए यह ज़रूरी होता है कि वर्तमान समय के उपभोग का सुख, भविष्य के लिए स्थगित किया जाय।

भिन्न-भिन्न समाजों, स्थानों तथा समयों के लिए और एक ही समाज के लिए भिन्न-भिन्न समयों के लिए संचय के कारण और स्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं। तो भी आमतौर पर पूँजी की उत्पत्ति और वृद्धि (१) संचय करने की इच्छा; (२) संचय करने की सुविधा; (३) संचय करने की शक्ति, पर निर्भर रहती है। और सभ्यता, शिक्षा, शांति, सुव्यवस्था से संचय-कार्य में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। संचय करने के कारणों में से संचय करने की इच्छा मुख्य मानसिक कारण है। और जब तक यह मानसिक कारण न होगा तब तक संचय होना सहज संभव नहीं। संचय की इच्छा न रहने से बहुत से धनी व्यक्ति बहुत धन मिलने पर भी कोई पूँजी इकट्ठी नहीं कर सकते, और संचय करने की इच्छा होने पर ग़रीब भी कुछ न कुछ पूँजी जमा कर ही लेते हैं।

संचय करने की इच्छा नीचे लिखे कारणों पर निर्भर रहती है:—

सभी चाहते हैं कि वे और उन के बालबच्चे सुख से रहें, उन्हें कोई

(१) दूरदर्शिता

कष्ट या किसी तरह का अभाव न हो। कुछ मनुष्य वर्तमान समय की आवश्यकताओं के साथ ही भविष्य में आनेवाली बातों का भी ख़याल रखते हैं और उस के लिए उचित प्रबंध कर लेते हैं। इसी को दूरदर्शिता कहते हैं। जो जितना ही अधिक दूरदर्शी होगा वह उतना ही अधिक भविष्य में होनेवाले कष्टों, अभावों (बीमारी, बेकारी, धनोत्पादन में अशक्ति आदि) का ख़याल कर सकेगा तथा उन के दूर करने के लिए धन-संचय द्वारा उचित प्रबंध करेगा। धन-संचय दूरदर्शिता पर बहुत कुछ निर्भर रहता है।

(२) सम्मानादि की आकांक्षा

सभी चाहते हैं कि समाज में उन का तथा उन के कुल का सम्मान हो, वे इज़्ज़त से देखे जायँ, समाज पर उन का प्रभाव और प्रभुत्व बढ़े, उन्हें समाज में सामाजिक, राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो। धन द्वारा समाज में सम्मान, शक्ति, प्रभाव, प्रभुत्व प्राप्त करना बहुत सरल होता है। धनी का सभी मान करते हैं, उस का सभी पर प्रभाव-प्रभुत्व रहता है। अनेक व्यक्ति इसी आकांक्षा से धन-संग्रह करते हैं। धन-संचय पर इन आकक्षाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

(३) सफलता की आकांक्षा

धन द्वारा वर्तमान समाज में मनुष्य को अनेक प्रकार की सफलताएं प्राप्त हो सकती हैं। अनेक मनुष्य केवल सफलता प्राप्त करने के भूखे रहते हैं। धन की हानि सह कर भी वे समाज के सामने अपने काम में सफल बने रहना चाहते हैं। इसी ख़याल से वे धन-संचय करते हैं।

(४) कुटुंब का प्रेम

अनेक मनुष्य ख़ुद शारीरिक और मानसिक कष्ट उठा कर, अभाव सह कर भी बहुत-सा धन इस लिए संचय करते हैं कि उन के बाल-बच्चे सुख और सम्मान से रह सकें।

अनेक मनुष्य सूद द्वारा एक बँधी आमदनी अपने या अपने किसी

(५) सूद द्वारा लाभ उठाने की प्रवृत्ति

आत्मीय, पुत्र आदि के निर्वाह के लिए क़ायम करने की ग़रज़ से धन-संचय करते हैं ताकि उस धन को सूद पर उठा कर लाभ उठावें। ऐसी दशा में अन्य सभी बातें समान रहने पर सूद की दर जितनी ही ऊँची होगी, संचय भी उतना ही अधिक होगा क्योंकि आमदनी अधिक होने की लालच लगी हुई है।

इस संबंध में एक अपवाद है। यदि कोई व्यक्ति एक बँधी हुई रक़म ही चाहता हो, उस से ज़्यादा नहीं, तो सूद की दर बढ़ने पर उस के संचित धन की तादात कम होगी और सूद घटने पर संचित धन का परिमाण ज़्यादा होगा। यदि कोई चाहता है कि उसे केवल १०० मासिक मिलते जायँ तो यदि सूद की दर ऊँची रहेगी तो कम धन ही में उसे १०० मासिक सूद से मिल सकेगा। अस्तु, वह कम धन संचय करेगा। किंतु यदि सूद की दर गिर जायगी तो १०० मासिक सूद से प्राप्त करने के लिए उसे अधिक धन संचय करना पड़ेगा।

कुछ मनुष्यों का स्वभाव ही धन को जोड़ कर रखने का होता है।

(६) स्वभाव

कोई-कोई तो पेट काट कर, कष्ट सहकर भी धन जमा करते जाते हैं।

कुछ मनुष्यों में अपने अथवा अपने परिवारवालों के लिए धन-संचय

(७) उदारता

करने की उतनी प्रवृत्ति नहीं होती। पर वे देश, समाज, धर्म अथवा दीन-दुखियों के लिए ख़ुद कुछ कष्ट सह कर भी धन संचय करते हैं। ऐसे लोग सादा जीवन बिता कर भी परोपकार के लिए ख़ासी पूँजी जमा कर जाते हैं।

कुछ पेशे ऐसे होते हैं जिन के कारण मनुष्य में संचय करने की

(८) पेशे का तथा धार्मिक विचारों का प्रभाव

प्रवृत्ति ही नहीं रहने पाती, क्योंकि उन्हें यह निश्चय नहीं रहता कि वे उस संचित धन का उपयोग भी कर सकेंगे। ऐसे पेशे वे हैं जिन में सदा मृत्यु का भय लगा रहता है। पर इन पेशेवालों को अपने आत्मीयों,

स्त्री, पुत्रादि की जीविका की अपेक्षाकृत अधिक चिंता होना स्वाभाविक ही है। अस्तु, ऐसी दशा में वे अन्य मनुष्यों से अधिक संचय करने के लिए चिंताशील रहते है, क्योंकि उन्हें डर रहता है कि न जाने कब वे उठ जायँ और उन के स्त्री-पुत्रों को विपत्ति का सामना करना पड़े। अस्तु वे अपेक्षाकृत अधिक संचय करते हैं।

धार्मिक विचारों का भी मनुष्य की संचय करने की इच्छा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिन धर्मों में इस जगत को मायाजाल, क्षणिक और असार माना जाता है, तथा इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उन धर्म वालों में संचय करने की प्रवृत्ति बहुत कम होना स्वाभाविक ही है। किंतु ऐसे धर्मवाले भी परोपकार तथा धर्म के कामों के लिए धन-संचय में प्रवृत होते ही हैं।

बाह्य स्थिति और कारण

ऊपर धन-संचय के उन कारणों का वर्णन किया गया है जिन का मनुष्य की इच्छा और मन से संबंध है। किंतु मनुष्य की इच्छा ही सब कुछ नहीं है। इच्छा होने पर भी संचय की शक्ति और सुविधा न रहने से धन का संचय कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी होगा। संचय की शक्ति और सुविधा वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर रहती है।

संचय की शक्ति

उपभोग, तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही धनोत्पत्ति होती है। यदि केवल इतना ही धन उत्पन्न हो सके कि उस से केवल किसी तरह जीवन निर्वाह मात्र हो सकें तो ऐसी दशा में धन का बच कर संचित होना संभव नहीं। अस्तु, धन-संचय तभी हो सकता है जब इतना धन उत्पन्न हो कि जीवन-निर्वाह के लिए काम में आने के बाद भी उस में से कुछ हिस्सा बच जाय। बचत पर ही संचय-शक्ति निर्भर रहती है।

एक ख़ास बात ध्यान देने योग्य है। संचय की शक्ति और इच्छा

संचय की सुविधा

होने पर भी यदि संचय के लिए सुविधाएं न हों तो संचय होना कठिन होगा। संचय की सुविधा में नीचे लिखी बातें समावेशित हैं :—

जीवन और सपति की रक्षा

लोग धन-संचय तभी करेंगे जब उन्हें पूर्ण विश्वास होगा कि जान-माल का कोई ख़तरा नहीं है, वे जो धन जोड़ेंगे उसे ख़ुद उपभोग कर सकेंगे। इस के लिए देश के अंदर शांति, सुव्यवस्था और न्याय-क़ानून की तथा देश के बाहर से आक्रमणों के रोकने का ठीक-ठीक प्रबंध हो। यदि लोगों को यह भय होगा कि वे जो संचय करेंगे उसे चोर, डाकू, अन्यायी राज-कर्मचारी या बाहरी लुटेरे आदि उन से छीन ले जायँगे तो वे शक्ति और इच्छा रहने पर भी संचय न करेंगे। अस्तु, बाहरी-भीतरी अशांति, अराजकता, अत्यधिक कर तथा प्रजा-शोषक क़ानून आदि धन-संचय करने के लिए बहुत ही घातक हैं।

मुद्रा

मुद्रा के व्यवहार के कारण धन-संचय की सुविधा बहुत अधिक बढ़ गई है। मुद्रा के व्यवहार के पूर्व धन-संचय करने वालों को गुड़ तेल अन्न वस्त्र, फल, शाकपात, लकड़ी सभी पदार्थों को जमा करके रखना पड़ता था, जिस से एक तो इन वस्तुओं के संचय करने में स्थान अधिक लगता था, दूसरे ये गुप्त रूप से छिपा कर नहीं रक्खी जा सकती थीं। अस्तु, चोरी-डाके आदि का ज़्यादा ख़तरा रहता था। तीसरे इन के जल्दी बिगड़ जाने का सदा भय लगा रहता था और इन के बिगड़ जाने से हानि उठानी पड़ती थी। मुद्रा के व्यवहार से ये सब असुविधाएं दूर हो गई हैं, और धन-संचय के कार्य में बहुत सुगमता तथा वृद्धि हो गई है। मुद्रा के वस्तुओं के विनियम का माध्यम तथा साधन होने से उस के द्वारा सभी वस्तुएं आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। अस्तु, अब धन-संचय में बहुत अधिक सुविधा हो गई है।

बैंक, ज्वाइंट स्टॉक कंपनी, इंश्योरेंस आदि सुरक्षित तथा लाभ-

दायक साधनों के कारण संचय की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। यदि पूँजी लगाने के सुरक्षित तथा लाभदायक साधन न हों तो संचय करने की इच्छा तथा शक्ति रहने पर भी लोग संचय करने के लिए उतने उत्साहित न हो सकेंगे, क्योंकि उन्हें संचित धन को अपने पास रखना पड़ेगा। अस्तु, उस की रक्षा आदि संबंधी व्यय तथा चिंता बढ़ेगी। यदि देश में संचित धन को ऐसे कामों में लगाने की सुविधा हो जिन से लाभ (ब्याज आदि के रूप में) भी हो तथा धन की रक्षा की चिंता और व्यय से मुक्ति मिले तो संचय की प्रवृत्ति अवश्य ही बहुत बढ़ जायगी। वर्तमान काल में बैंकों, सेविंग बैंकों, इंश्योरेंस कपंनियों, सहयोग-समितियों, ज्वाइंट स्टॉक कपंनियों आदि में ब्याज या लाभ के नियमों पर पूँजी आसानी से लगाई जा सकती है और क़ानूनन सुरक्षित भी रहती है। अस्तु, सभी सभ्य देशों में धन-संचय की प्रवृत्ति बढ़ गई है।

प्राकृतिक स्थिति

प्राकृतिक स्थिति का भी संचय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जिन प्रदेशों में अति-वृष्टि अनावृष्टि, बाढ़, भूकंप, रोग आदि के कारण भयंकर दुर्घटनाएं होती रहती हैं और हरदम विनाश की अशंका लगी रहती है वहां अपेक्षाकृत शांत प्रदेशों से कम धन से संचय की संभावना होती है।

सूद की दर

धन-संचय ख़र्च को रोकने का फल है। अस्तु, इस के लिए जो पुरस्कार दिया जाता है उसे सूद कहते हैं। अन्य सभी वस्तुओं के समान रहने पर सूद की दर अधिक होने पर धन-संचय अधिक होगा क्योंकि लाभ अधिक होने से अधिक धन-संचय की प्रवृत्ति होगी।

अध्याय १४

मशीन

मशीन-युग

मशीनों की गिनती पूँजी के ही अंदर होती है। आजकल धनोत्पत्ति के कार्यों में पूँजी का एक बहुत बड़ा भाग मशीनों के रूप में लगा हुआ देख पड़ेगा। प्रतिदिन मशीनों का उपयोग बढ़ता चला जा रहा है। इसी कारण इसे मशीन-युग कहते हैं। संसार के प्रायः सभी छोटे-बड़े कामों में मशीनों का उपयोग किया जा रहा है। मशीन-युग बहुत पुराना नहीं है। अठारहवीं सदी के मध्यकाल तक मशीनों का वैसा ज़ोर न था। अठारहवीं सदी के मध्य से ही सब से पहले इंगलैंड में मशीन-युग और पूँजीवाद का आरंभ हुआ। धीरे-धीरे जर्मनी और यूरोप के अन्य देशों तथा अमरीका ने इंगलैंड का रास्ता पकड़ा। भारत आदि देशों में तो आज भी मशीन-युग पूरी तरह से नहीं शुरू हो सका है।

मशीन और औज़ार

आदि-काल से ही मनुष्य कम से कम श्रम और प्रयत्न द्वारा अधिक से अधिक कार्य करने की चेष्टा में रहता चला आ रहा है। इसी धुन में उस ने अनेक तरह के औज़ार बनाए, पशुओं से काम लिया; जल, वायु, भाप, तेल, बिजली आदि की शक्तियों से सहायता लेना शुरू किया। इन सब के लिए वह बराबर नए-नए यंत्र बनाता और पुराने यंत्रों में सुधार करता गया। इसी विकास-क्रम की चरम सीमा मशीन-युग है। मशीन और औज़ार में यों केवल प्रकार या दर्जे का अंतर मात्र है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार मशीन के तीन भाग होते हैं, जो यांत्रिक

रूप में एक साथ सम्मिलित होने पर भी भिन्न होते हैं : (१) मोटर या संचालक यंत्र; (२) शक्तिप्रसारक यंत्र; और (३) औज़ार अथवा काम करने वाला यंत्र। संचालक यंत्र द्वारा कुल मशीन में चलने की शक्ति आती है। प्रसारक यंत्र संचालन-शक्ति को नियंत्रित करता तथा काम करनेवाले यंत्रों को प्रसारित और विभाजित करता है। असली काम काम करनेवाले यंत्र द्वारा किया जाता है।

किस तरह के कार्य मशीन द्वारा होते हैं

जो काम बहुत भारी, बारीक, थकानेवाले होते हैं, जिन्हें मनुष्य हाथों द्वारा नहीं कर सकता, या बहुत कठिनता से कर सकता है, और जिन में इतनी अधिक सचाई और शुद्धता की ज़रूरत पड़ती है कि मनुष्य के हाथों द्वारा बनाए जाने से उन की सचाई या दुरुस्ती में फ़र्क़ पड़ने का डर रहता है, और जो काम नित्य-नियमित रूप से बराबर एक ही तरह से किए जाते हैं वे सभी मशीन द्वारा बहुत जल्दी, बड़ी आसानी से और बहुत ही सस्ते में ठीक-ठीक हो जाते हैं।

मशीन का प्रभाव

मशीन ने वर्तमान औद्योगिक जगत की कायापलट कर दी है। मशीन ने धनोत्पत्ति की शक्ति और पैमाने ही बदल दिए हैं, प्रतिस्पर्द्धा को बहुत बढ़ा दिया और साथ ही परिमित कर दिया है, और ट्रस्टों और एकाधिपत्यों का रास्ता खोल दिया है, और श्रम के गुण पर और जीवन, बेकारी और वेतन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है।

समाज को मशीन से लाभ भी हुए हैं और हानियां भी। पहले लाभों का वर्णन किया जाता है।

मशीन से होनेवाले लाभ

(१) मशीन मनुष्य की अपेक्षा बहुत तेज़ी से और अधिक परिमाण में और अधिक अच्छी तरह से कार्य कर सकती है। इस प्रकार मशीन के कारण उत्पादन की शक्ति और गुण बहुत अधिक बढ़ गए हैं। आज छापे की मशीन

केवल एक घंटे में २० मील लंबा अख़बार छाप सकती है, और एक मशीन से एक घंटे में क़रीब तीन लाख दियासलाइयां बन सकती हैं।

(२) भारी से भारी और कठिन से कठिन काम मशीन के द्वारा आसानी से हो सकते हैं। ये काम मनुष्य बिना मशीन के नहीं कर सकता या कठिनता से कर सकता था। आज हज़ार मन वज़न वाला एक-एक हथौड़ा उन मोटे लोहे के पत्तरों को बात की बात में पीट कर तैयार कर देता है जिन्हें बड़ी से बड़ी तोप के गोले नहीं उड़ा सकते।

(३) बहुत ही महीन और बारीक, नाज़ुक काम जो हाथों के ज़रिए मनुष्य या तो कर ही नहीं सकता या मुश्किल से कर सकता है, मशीन के द्वारा आसानी से और जल्दी हो जाते हैं।

(४) कुछ बहुत ही सचाई और दुरुस्ती के काम मशीन द्वारा बिलकुल ठीक-ठीक हो जाते हैं, जो हाथ से नहीं किए जा सकते।

(५) मशीन द्वारा एक ही नाप, नमूने, आकार-प्रकार की बहुत-सी वस्तुएं, मशीनों के पुर्ज़े आदि बनते हैं जो हाथों से नहीं बन सकते। इस कारण आजकल मशीनों और उन के पुर्ज़ों का व्यवहार बढ़ रहा है, क्योंकि एक पुर्ज़े के ख़राब होने पर ठीक उसी तरह का दूसरा पुर्ज़ा आसानी से और सस्ते में लगाया जा सकता है। इस से उत्पादन की शक्ति और भी अधिक बढ़ रही है।

(६) अधिक से अधिक संचालक-शक्ति को मनुष्य के वश में करके मशीन उस की उत्पादन शक्ति बहुत बढ़ा देती है। मशीन मनुष्य को (अ) यांत्रिक युक्तियों द्वारा मनुष्य की तथा प्रकृति की शक्तियों का अधिक से अधिक और उचित से उचित उपयोग कर लेने की शक्ति प्रदान करती है। (आ) मशीन मनुष्य को वायु, जल, भाप, बिजली, रासायनिक प्रयोग आदि सभी तरह की संचालक-शक्तियों को काम में ले आने की शक्ति दे देती है।

(७) मशीन के चलाने के लिए ऐसे मनुष्यों की ज़रूरत पड़ती है जो

समझ और ज़िम्मेदारी से काम कर सकें। अस्तु, मशीन के कारण बुद्धि, चरित्र तथा ज़िम्मेदारी की वृद्धि होती है।

भारी, थकानेवाले, नीरस, गंदे कामों को करके मशीन मनुष्य के शारीरिक और मानसिक कष्ट को कम करती और सुख और उन्नति के साधनों को बढ़ाती है। क्योंकि भारी और थकावट लानेवाले कामों से .फुरसत पाने के कारण मनुष्य के शरीर को आज उतना थकना और कष्ट उठाना नहीं पड़ता। दूसरे गंदे और नीरस कामों से फ़ुरसत पाने के कारण मज़दूरों के जीवन की नीरसता और गंदगी बहुत कुछ दूर हो गई है। अस्तु उन के जीवन में अब उबानेवाली एक तरह का काम करने की नीरसता उतनी नहीं रह गई है। मशीन से काम करने के कारण मज़दूर के शरीर को कम कष्ट पहुँचता है और कम थकावट आती है। इस से उस के मन और मस्तिष्क बहुत कुछ ताज़े रहते हैं। इस लिए काम के समय और काम के बाद भी वह अधिक अच्छी तरह से जीवन का रस बनाए रख सकता है और आत्मोन्नति कर सकता है।

(६) मशीन के कारण भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधों (तथा समय और दूरी) की भिन्नता, पृथकता आदि बहुत कुछ दूर हो गई हैं। पहले एक तरह के उद्योग-धंधे से दूसरे तरह के उद्योग-धंधे में जाना बहुत कठिन था, क्योंकि प्रत्येक उद्योग-धंधे का पूरा काम सीखना सरल न था और न जल्दी सीखा जा सकता था। अब मशीनों के क़रीब-क़रीब एक-सी होने के कारण एक उद्योग-धंधे में काम करनेवाला व्यक्ति आसानी से और कम समय ही में उसी तरह के दूसरे उद्योग-धंधे में लग सकता है, क्योंकि मशीनें कुछ ही फेरफार के साथ क़रीब-क़रीब एक ही सी होती हैं। दूसरे मशीनों द्वारा काम जल्दी होने से महीनों का काम कुछ दिनों और घंटों में हो जाता है, और बात की बात में दूर से दूर स्थान में पहुँचा जा सकता है, और हज़ारों मील दूर बैठ कर भी लोगों से सलाह, मशविरा, सौदा, लेन-देन किया जा सकता है।

(१०) मशीन के द्वारा उत्पन्न होने के कारण वस्तुएं बहुत सस्ती और सुलभ हो गई हैं, अस्तु ग़रीब से ग़रीब उन का उपयोग करके जीवन का सुख और अपने रहन-सहन का दर्जा बढ़ा सकता है। जो वस्तुएं पहले बादशाहों, शहंशाहों को बहुत ख़र्च करने पर भी मुश्किल से मिलती थीं वे आज मज़दूरों के उपभोग में आने लगी हैं। इस से सभ्यता में बहुत वृद्धि हुई है।

मशीनों से केवल लाभ ही नहीं होते, कुछ हानियां भी होती हैं। अब आगे मशीन से होनेवाली हानियों का वर्णन किया जाता है :—

(१) एक मशीन बहुत से आदमियों का काम कर लेती है इस लिए उस उद्योग-धंधे में बहुत से मज़दूर काम से अलग कर दिए जाते हैं।

ऊपर के आक्षेप का उत्तर है। काम से अलग किए गए मज़दूरों में से कुछ तो मशीन बनाने में लग जाते हैं, कुछ उसी उद्योग-धंधे में फिर से लगा लिए जाते हैं क्योंकि माल के सस्ते होने से उस की वस्तुओं की माँग बढ़ जाती हैं, अस्तु पहले से कहीं अधिक माल बनाना पड़ता है; और सस्ते माल और आविष्कारों के कारण नए-नए पदार्थों के निकलते रहने पर उन सब उद्योग-धंधों तथा उन के लिए मशीनें बनाने में मज़दूर खप जाते हैं। अस्तु, मशीन के प्रयोग किए जाने के समय पहले ज़रूर कुछ मज़दूर बेकार हो जाते हैं पर बाद में वे किसी न किसी काम में लग जाते हैं।

(२) हाथ से बना माल मशीन के बने माल की अपेक्षा मँहगा पड़ता है इस कारण उस की अधिक खपत नहीं होती। इस से कला-कौशल और दस्तकारी को भारी हानि उठानी पड़ती है और कुशल कारीगरों को या तो भूखों मरना पड़ता है या साधारण अकुशल श्रमी की तरह कम वेतन पर मोटा काम करना पड़ता है। इस प्रकार मशीन के कारण कला-कौशल को भारी धक्का लगता है।

उत्तर में कहा जा सकता है कि पहले तो कुशल कारीगर मशीन चलाने वाले बन कर ऊँची मज़दूरी पा सकते हैं। मशीन चलाने में कौशल और

बुद्धि की ज़रूरत पड़ती है। दूसरे, मशीन से बनी वस्तुओं के सस्ते होने के कारण उन की खपत बढ़ जाती है अस्तु नई-नई डिज़ाइनों आदि के लिए कला-कौशल, कारीगरी की माँग पहले से बहुत बढ़ गई है इस कारण कुशल कारीगर की वैसी हानि मशीन युग में भी नहीं हुई है। और न कला-कौशल को वैसा धक्का ही पहुँचा है।

(३) मशीन से माल जल्द और अधिक परिमाण में तैयार होता है। इस कारण इतना अधिक माल तैयार कर लिया जाता है कि उस की कुल तादाद जल्दी और आसानी से खप नहीं सकती। इस कारण प्रतिद्वंद्विता बढ़ गई है और बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करने की धुन में अंतराष्ट्रीय जगत में बड़ा संघर्ष और द्वेष पैदा हो गया है, तथा मनोमालिन्य बढ़ गया है, अशांति पैदा हो गई है। इस कारण युद्ध की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।

उत्तर में कह सकते हैं कि युद्ध और अशांति का मूल कारण मशीन न होकर भिन्न-भिन्न देशों का परस्पर का वैर-विरोध है जो केवल आर्थिक न होकर अन्य कारणों से भी होता रहा है और होता रहेगा। इस में मशीन का उतना दोष नहीं है जितना कि पारस्परिक सद्भाव, व्यवस्था तथा सहयोग के अभाव का। साथ ही तैयार माल के वितरण का भी प्रश्न है। उधर माल गोदामों में भरा पड़ा रहता है। इधर लाखों प्राणी उस के अभाव में मरते-तड़पते रहते हैं।

(४) मशीन द्वारा जल्दी और अधिक परिमाण में माल तैयार होने के कारण तैयार किया हुआ माल ठीक से खपता नहीं। इस से व्यापारिक तेज़ी-मंदी और उस से संबंध रखनेवाली बेकारी, मज़दूरी में कमी आदि उत्पन्न होती है। इस से मज़दूर वर्ग को बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

इस का उत्तर यह है कि यह मशीन का दोष न होकर परस्पर की सद्भावना, सुव्यवस्था, सहयोग के अभाव तथा उचित वितरण के न होने का फल है।

(५) मशीनों का प्रयोग जिन देशों में अधिक होता है उन में मजदूरों

और पूँजीपतियों में भीषण संघर्ष, बैर-विरोध, हड़ताल और तालाबंदी आदि भीषण परिस्थितियां उपस्थित हो जाती हैं। कारखानों के आसपास घनी तथा गंदी बस्तियों के बढ़ने के कारण सदाचार, स्वास्थ्य, आरोग्यता का ह्रास देख पड़ता है; और इन सब बातों के कारण व्यक्तियों तथा सारे समाज को हानि उठानी पड़ती है।

इस का जवाब यह है कि सद्भावना, सुव्यवस्था, तथा सहयोग से पूँजी और श्रम का संघर्ष दूर किया जा सकता है तथा सदाचार और स्वास्थ्य के बारे में बहुत कुछ सुधार हो सकता है और किया जा रहा है।

(६) मशीन के साथ काम करनेवाला मनुष्य ख़ुद मशीन बन जाता है। उसे अपने दिमाग़ से काम लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वह एक-सा काम करते रहने और मशीन की तेज़ी के साथ उतनी ही फुर्ती से बराबर लगे रहने के लिए बाध्य रहता है। अस्तु, वह मशीन का एक निर्जीव-सा पुर्ज़ा बन जाता है। इस से उस के शरीर पर भी बड़ा असर पड़ता है, अधिक थकावट उस के एक अंग विशेष में आती है। एक-सा काम करने के कारण कुछ रस और नवीनता नहीं रह जाती। इस से काम नीरस और उबाने-वाला हो जाता है। मनुष्य को मानसिक, शारीरिक उन्नति करने का मौक़ा न मिलने से उस का मानसिक और नैतिक ह्रास होने लगता है।

इस आक्षेप के उत्तर में हम कह सकते हैं कि मशीन के साथ काम करने से मनुष्य में तत्परता, तेज़ी और व्यवस्था आ जाती है। काम के घंटे में कमी होने से उसे मनोरंजन, अध्ययन, और मिलने-मिलाने तथा आत्मो-न्नति करने के लिए अधिक समय मिलता है। इस से उस का जीवन एक-सा न रह कर सरस और वैचित्र्यपूर्ण तथा सुखकर हो जाता है। काम की एकता तथा नीरसता से जीवन की एकता तथा नीरसता कहीं अधिक हानिकर होती है। मशीन के कारण मनुष्य के जीवन में एकता-नीरसता नहीं आने पाती। साथ ही मशीनों के कारण तरह-तरह के सामान सस्ते होने से श्रमी को अधिक और विविध भाँति की उपभोग की समग्री मिलने

से उस का जीवन अधिक सुखद हो जाता है। अस्तु मशीन के साथ का काम कड़ा और तेज़ रहने पर भी उतना हानिकर नहीं हो पाता।

अंत में यह मान लेना पड़ेगा कि मशीन के कारण मनुष्य की उत्पादन और उपभोग-शक्ति बहुत बढ़ गई है। मशीन के कारण होनेवाले लाभ बहुत अधिक हैं। जो हानियां होती हैं वे मशीन के कारण न होकर पूँजीपतियों के स्वार्थ के और स्थिति के दुरुपयोग के कारण होती हैं और ये सुव्यवस्था द्वारा दूर की जा सकती हैं। मशीन मनुष्य के लाभ के लिए है, न कि मनुष्य मशीन के लिए।

अध्याय १५

प्रबंध

प्रबंध का मतलब है उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों को इस तरह से धनोत्पादन के काम में लगाना कि कम से कम व्यय और प्रयत्न में अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा माल उत्पन्न हो और अधिक से अधिक लाभ हो। अस्तु, प्रबंध में नीचे लिखी बातें तय करनी पड़ती हैं :—

प्रबंध का क्षेत्र

(१) किस वस्तु की उत्पत्ति की जाय (यदि यह साहसी यानी जोखिम उठानेवाले ने पहले ही से तय न कर दिया हो तो); उत्पत्ति किस प्रकार और किस परिमाण में हो ?

(२) सब प्रकार की सुविधाओं को नज़र में रखते हुए कौन-सा स्थान उत्पत्ति के लिए सब से अधिक उपयुक्त होगा ?

(३) कौन औज़ार और मशीन अच्छी से अच्छी होगी ?

(४) किस प्रकार का श्रम, किस परिमाण में काम में लाना सब से अच्छा होगा, और श्रम-विभाग के अंतिम सिद्धांत के अनुसार उस से अधिक से अधिक काम किस प्रकार लिया जा सकता है ?

(५) अच्छे से अच्छा और सस्ते से सस्ता कच्चा माल किस स्थान पर कब, कैसे और कितने परिमाण में ख़रीदा जाय और उसे कैसे कारख़ाने में लिया जाय ?

(६) भूमि, श्रम, पूँजी को कब, किस अनुपात और परिमाण में लगाने से अधिक से अधिक लाभ होगा ?

(७) बाज़ार की स्थिति कब, कैसी रहती है, और कब, किस बाज़ार

में, कैसे माल ले जाना या मँगाना चाहिए, कैसे माल का विज्ञापन करना चाहिए तथा अपने तैयार माल के बारे में किस बाज़ार की क्या, कैसी रुचि और माँग होगी इस का पता रख कर अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए.?

प्रबंध और श्रम

वैसे तो प्रबंध श्रम ही के अंतर्गत आता है, पर उत्पत्ति में अधिक महत्व रखने के कारण प्रबंध उत्पत्ति का एक स्वतंत्र साधन माना जाता है। दोनों में भेद केवल यह है कि श्रमी को अधिकतर शारीरिक मेहनत करनी पड़ती है, किंतु प्रबंधक का कार्य बहुत कुछ मानसिक होता है। दूसरे, श्रमी को प्रबंधक द्वारा निर्धारित किया हुआ काम करना पड़ता है। किंतु प्रबंधक स्वयं यह निर्णय करता है कि कौन श्रमी क्या काम करे और कैसे और किस साधन का कितने परिमाण में, कब, कैसा उपयोग किया जाय।

प्रबंधक के गुण

ऊपर लिखे कामों में सफलता प्राप्त करने लिए यह ज़रूरी है कि प्रबंधक में उत्पत्ति के विविध उपयुक्त साधनों के जुटाने तथा उन में से अच्छे, किंतु सस्ते, उपयुक्त साधन चुन कर काम में ला सकने की योग्यता होनी चाहिए। वह इस तरह दूरदर्शिता, से काम ले कि कोई उस से असंतुष्ट न हो। और न उसे यह देखने के लिए अधिक निरीक्षण की आवश्यकता पड़े कि उस का बतलाया हुआ काम ठीक से हो रहा है या नहीं। उसे बाज़ार की स्थिति, माँग, पूर्ति के, रुचि तथा रुचि परिवर्तन, और सामाजिक मनोविज्ञान तथा नवीन आविष्कारों, यंत्रों, औज़ारों, देशों, यातायात, विज्ञापन के साधनों आदि का पूरा ज्ञान होना चाहिए ताकि सब साधन ठीक से जुटा कर वह आवश्यक माल, उचित मात्रा में तैयार करके, उचित यातायात द्वारा ठीक बाज़ार में भेज कर, उचित विज्ञापन करने के बाद अधिक से अधिक तादाद में, ठीक दामों पर बेंच सके, ताकि अधिक से अधिक लाभ हो। सब से ज़रूरी बात यह है कि वह प्रतिस्थापन सिद्धांत को उपयोग में ला सके और हर

तरह के आदमियों और साधनों से काम ले सके।

समसीमांत या प्रतिस्थापन सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार कोई एक साधन वहीं तक, उसी मात्रा में उत्पत्ति के काम में लगाया जा सकता है जब तक कि उस के उतने उपयोग से उत्पत्ति में अन्य दूसरे साधनों के उस के स्थान पर उपयुक्त होने के बजाय अधिक उत्पत्ति हो, पर ख़र्च कम पड़े। यदि किसी काम में दस मज़दूर लगाने से १०० रुपए ख़र्च करना पड़ता है, किंतु वही काम एक मशीन ७५ रुपए ख़र्च में पूरा कर देती है तो प्रतिस्थापन सिद्धांत के अनुसार उन दस मज़दूरों के स्थान में एक मशीन से काम लेना अधिक लाभदायक होगा। अस्तु प्रबंधक प्रत्येक साधन को अपने उत्पत्ति के काम में केवल उतने ही परिमाण में लगाएगा जिसे प्रत्येक साधन पर व्यय होनेवाली रक़म की अंतिम इकाई का प्रतिफल दूसरे किसी साधन पर व्यय होनेवाली रक़म की अंतिम इकाई के समान ही हो। प्रबंधक मँहगे साधनों के स्थान पर सस्ते साधनों का उपयोग अधिक मात्रा में करेगा।

यह उपयोग दो तरह का होगा—(१) एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग, जैसे श्रम के स्थान पर पूँजी और पूँजी के स्थान पर श्रम; जैसे मज़दूरों को निकाल कर मशीन से काम लेना। (२) उसी साधन के किसी दूसरे प्रकार से काम लेने लगना, जैसे कुशल कारीगरों या श्रमियों के स्थान में अकुशल, साधारण श्रमियों से काम लेना। साधारण मशीन के स्थान में और अधिक बढ़िया मशीन काम में लाना। प्रबंधक हमेशा इस बात की चेष्टा करता रहेगा कि साधनों को इस क्रम और परिमाण में लगाया जाय कि उत्पादन-व्यय कम से कम हो, साथ ही उत्पत्ति अधिक से अधिक हो।

अध्याय १६

उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण

अनेक कारणों से किसी एक ख़ास जगह में कुछ ख़ास उद्योग-धंधे जम कर चलने लगते हैं। इसी को अर्थशास्त्र में उद्योग-धंधे का स्थानीयकरण अथवा भौगोलिक श्रम-विभाग कहते हैं।

स्थानीयकरण के कारण

अनेक बातें ऐसी होती हैं जिन के कारण कोई एक ख़ास उद्योग-धंधा एक ख़ास स्थान में चलाने से कम से कम ख़र्च में अधिक से अधिक माल तैयार किया जा सकता है और अधिक से अधिक लाभ हो सकता है। कभी-कभी एक स्थान पर का स्थानीयकरण एक से अधिक कारणों से होता है। नीचे उन कारणों का विवरण दिया गया है :—

(१) प्राकृतिक

कुछ दशाओं में किसी एक स्थान के जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति, ज़मीन की उत्पादक शक्ति, उस स्थान की ख़ास पैदावार, ख़ास बनस्पति, ख़ास खनिज पदार्थ अथवा संचालक शक्ति आदि किसी विशेष प्रकार के उद्योग-धंधे के लिए बहुत अधिक सुविधा प्रदान करके कारख़ानों को उस स्थान पर स्थापित किए जाने में बड़ी सहायता देते हैं। लोहे की खानों के पास लोहे के कारख़ानों का स्थानीयकरण इस का उदाहरण है। जंगलों में लकड़ी चीरने के कारख़ाने स्थापित करने से अधिक सुविधा होती है। इसी तरह कभी-कभी किसी स्थान की जलवायु किसी ख़ास उद्योग-धंधे के लिए उस स्थान को सब से अधिक उपयुक्त बना देती है। मैंचेस्टर और बंबई की नम वायु कपड़े के कारख़ानों के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। कभी-कभी कारख़ाने संचालक शक्ति के स्थानों के पास स्थापित किए जाते हैं ताकि संचालक

शक्ति आसानी से प्राप्त हो सके।

कुछ ऐसे आर्थिक कारण पड़ जाते हैं जो किसी एक स्थान को किसी एक उद्योग-धंधे के लिए अधिक सुविधाजनक बना देते हैं। जिन स्थानों में माल को लेआने लेजाने की सुविधा, रेल, जहाज़, नाव, सड़क, नहर, नदी, समुद्र आदि के कारण अधिक होती है वहां, अन्य सब बातों के समान रहने पर, अधिक स्थानीय-करण होगा, क्योंकि तैयार माल को बाज़ारों में पहुँचाने और कच्चे माल, मशीन, औज़ार आदि को कारख़ानों में लाने में अधिक सुविधा होगी।

(२) आर्थिक

दूसरे, अन्य बातों के समान रहने पर, जहां श्रमी अधिक संख्या में, अधिक अच्छे और सस्ते मिलेंगे वहां उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण की प्रवृत्ति अधिक होगी। इसी तरह जहां अपेक्षाकृत पूँजी अधिक आसानी से तथा कम सूद पर मिल सकेगी तथा जहां व्यापारिक स्थिति अधिक अच्छी होगी वहां भी स्थानीयकरण अधिक होगा।

जिन स्थानों में सरकार या राजा आदि के द्वारा किसी उद्योग-धंधे या कलाकौशल को किसी प्रकार का संरक्षण या प्रोत्सा-हन दिया जाता है वहां उस उद्योगधंधे का स्थानीय-करण होना स्वाभाविक ही है।

(३) राजनीतिक

कभी-कभी किसी स्थान विशेष में कोई मनुष्य या दल किसी तरह का उद्योग प्रारंभ कर देता है। उस के सफल होने पर वह स्थान उस काम के लिए मशहूर हो जाता है। बाद में अनेक कारणों से अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होने लगती हैं और वह स्थान स्थानीयकरण के उपयुक्त समझा जाने लगता है, क्योंकि वहां एक तो श्रमी उस काम में कुशल हो जाते हैं। दूसरे, कच्चे मालवाले उस स्थान पर सुविधा से कच्चा माल भेजने लगते हैं। तीसरे, हर तरह के श्रमी वहां काम पाने की आशा से आने लगते हैं। चौथे, पूँजी भी वहां सुभीते से मिलने लगती है। पाँचवें, तैयार माल

(४) पहले प्रारंभ होना

के ग्राहक उसी स्थान पर अधिक आते हैं। फिर इन सब बातों के कारण अनुकूल वातावरण पैदा हो जाता है। अस्तु, जिन्हें कारख़ाने खोलने होते हैं वे उसी स्थान को सब से उपयुक्त समझते हैं। इस प्रकार पहले किसी कारख़ाने का प्रारंभ हो जाना भी स्थानीयकरण का एक ज़बरदस्त कारण हो जाता है।

स्थानीयकरण के विरोधी कारण

इन ऊपर लिखे कारणों से एक स्थान पर किसी उद्योग-धंधे का स्थानीय करण होता है। पर कुछ ऐसी बातें भी हैं जो स्थानीयकरण को रोकती हैं। यातायात के साधनों में आशातीत उन्नति होने के कारण अब माल ले आना ले जाना उतना कठिन और महँगा नहीं रह गया है। इस कारण अब कारख़ानों के किसी ख़ास बाज़ार, मंडी, खान, कच्चे माल के स्थान आदि के पास स्थापित करना उतना ज़रूरी नहीं रह गया है।

दूसरे, बिजली आदि संचालक शक्ति के सस्ते हो जाने और दूर-दूर तक आसानी से पहुँच सकने के कारण भी अब स्थानीयकरण उतना ज़रूरी नहीं रह गया है। तीसरे, नगरों की ज़मीन के महँगी हो जाने से भी स्थानीयकरण में बाधा पड़ने लगी है और नए कारख़ानों को दूर-दूर स्थापित करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है।

स्थानीयकरण योग्य उद्योगधंधे

सभी उद्योग-धंधे स्थानीयकरण के उपयुक्त नहीं होते। केवल उन्हीं उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण हो सकता है जिन की उत्पत्ति बड़े पैमाने पर हो, जिन के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की माँग स्थिर और अधिक हो, जिन के माल का बाज़ार बड़ा हो और जिन का माल आसानी से, कम ख़र्च में, और कम से कम हानि उठा कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक तथा दूर तक पहुँचाया जा सकता है। इस से यह स्पष्ट है कि जिन वस्तुओं की माँग कम हो और वह माँग स्थिर न होकर, घटती-बढ़ती रहे, जो वस्तुएं जल्दी ख़राब होनेवाली हों, जो वस्तुएं इतनी भारी हों कि उन के ले जाने में

बहुत ख़र्च पड़े और कठिनाई हो उन को उत्पन्न करनेवाले उद्योग-धंधे स्थानीयकरण के लिए उपयुक्त नहीं होते।

स्थानीयकरण से लाभ

स्थानीयकरण से जनता और उत्पादकों तथा व्यवसायियों को समान रूप से अनेक लाभ होते हैं। हम यहां पर उन में से केवल मुख्य-मुख्य लाभों का वर्णन कर रहे हैं।

(१) उस ख़ास उद्योगधंधे का नाम चारों तरफ़ मशहूर हो जाता है जिस से उस वस्तु के ग्राहक दूर-दूर से आते रहते हैं। फिर एक बार मशहूर हो जाने के कारण उस वस्तु के दाम भी अच्छे लगते हैं। उस वस्तु से संबंध रखनेवाले श्रम, औज़ार, मशीन, कच्चे माल आदि वहां आप से आप पहुँचते रहते हैं। इन सब बातों से काफ़ी लाभ होता है।

(२) उस उद्योगधंधे से संबंध रखनेवाले हर प्रकार के श्रमी वहां काम पाने की ग़रज से आते हैं और उन्हें काम मिलता रहता है। इस कारण उस वस्तु के कारख़ाने वालों को उस काम के लिए कुशल और साधारण श्रमियों की कमी ही पड़ती है और ढूँढ़ने की तरद्दुद नहीं उठानी पड़ती। हर तरह के श्रमी आसानी और कम वेतन पर मिलते रहते हैं। साथ ही वहां वालों के लिए उस काम के विषय में काफ़ी जानकारी हो जाती है, और श्रमियों के लड़के आदि आसानी से उस काम को सीख जाते हैं। इस से आगे के लिए श्रमियों की तैयारी आसानी से होती रहती है। उसी वस्तु के अन्य कारख़ाने खोलनेवालों को इस से बड़ी सहूलियत होती है।

(३) उस उद्योग-धंधे में लगे हुए लोगों को और उसी उद्योग में लगनेवाले नए व्यक्तियों को आसानी से पूँजी मिल सकती है, क्योंकि वहां की स्थिति से पूर्ण परिचित रहने से पूँजी देनेवाले उस काम में पूँजी लगाने को अधिक आसानी से तैयार रहते हैं।

(४) एक ही वस्तु को तैयार करनेवाले अनेक कारख़ानों के एक ही स्थान में होने के कारण सब या अधिकांश कारख़ानेवाले एक साथ मिल कर ऊँचे दर्जे की मशीन, विशेषज्ञ आदि रख सकते हैं और पारी-पारी से

उपयोग में लाकर कम से कम ख़र्च में अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। साथ ही उन सब में से किसी एक में नवीन आविष्कार, सुधार आदि होने से दूसरे सभी उस से लाभ उठा सकते हैं और आपस में विचार विनिमय करके अनेक सुधार और आविष्कार कर सकते हैं।

(५) कई कारख़ाने एक साथ होने से प्रत्येक में जो छीज निकलती है वह काम में लाई जा सकती है। यदि हर एक कारख़ाना अलग-अलग रहे तो छीज के पदार्थ की मात्रा इतनी अधिक नहीं भी हो सकती कि उस के लिए अलग कारख़ाना चलाया जा सके। किंतु एक ही तरह की वस्तु बनाने वाले अनेक कारख़ानों में छीज के पदार्थ की मात्रा एक स्वतंत्र कारख़ाना चलाने लायक हो सकती है। अस्तु, भिन्न-भिन्न कारखानों में जो वस्तु छीज के रूप व्यर्थ जाती थी वह काम में लाई जा सकती है और इस प्रकार एक गौण वस्तु का कारखाना नए सिरे से चलाया जा सकता है, जिस से सब को लाभ होने लगता है और व्यर्थ का नुक़सान बचाया जा सकता है। छीज से तैयार गौण वस्तु के कारख़ाने को यातायात, महाजनी, बैंकिंग आदि की वे सब सुविधाएं सुगमता से प्राप्त हो जाती हैं जो मुख्य वस्तु के लिए रहती हैं।

(६) अनेक कारख़ानों को औज़ार, मशीन, कच्चा माल आदि देने तथा यातायात, बैंकिंग, आदि द्वारा सहायता देने के लिए उस स्थान पर अनेक अन्य पूरक उद्योग-धंधे चल पड़ते हैं।

दूसरे उस स्थान में अन्य प्रकार के श्रम को काम में लाने के लिए अनेक पूरक उद्योग-धंधे भी प्रारंभ हो जाते हैं। जैसे, लोहे के कारख़ानों में बलवान मनुष्यों की ज़रूरत पड़ती है। उन के बाल-बच्चे और स्त्रियां ख़ाली रहती हैं। इस से लोहे के कारख़ानों को अपने मज़दूरों को अधिक वेतन देना पड़ता है ताकि वे अपने कुटुंब के ख़र्च को चला सकें। ऐसे स्थानों पर स्त्रियों और बालकों के फ़ालतू श्रम को उपयोग में लाने के लिए अनेक हलके काम के कारख़ाने खुल जाते हैं (जैसे कपड़े आदि की मिलें) जिस से

लोहे के कारखानेवालों को कम ही वेतन में बलवान मज़दूर मिलने लगते हैं, क्योंकि मज़दूर-परिवारों को स्त्री-बालकों के श्रम से भी आय होने लगती है, इस से वे कुछ कम वेतन पर भी लोहे के कारखाने में काम करते रहते हैं। इस प्रकार मुख्य और पूरक दोनों प्रकार के उद्योग-धंधों को लाभ पहुँचता है।

स्थानीयकरण से हानियां

किंतु स्थानीयकरण से केवल लाभ ही नहीं होते, कुछ हानियां भी होती हैं, जिन का विवरण यहां दिया जाता है। (१) स्थानीयकरण के कारण उस स्थान पर केवल एक ही तरह के काम के बाहुल्य के कारण केवल एक ही तरह के श्रम की आवश्यकता होती है। इस से दूसरे तरह के श्रमी जो वहां रहते हैं बेकार रह जाते हैं। जैसे, यदि स्थानीयकरण वाले कारखाने ऐसी वस्तु बनाते हैं जिस में केवल बलवान पुरुष ही काम कर सकते हैं तो प्रत्येक कुटुंब के स्त्री, बालक तथा कमज़ोर प्राणी बेकार रहेंगे। इस से कारखानेवालों को अपेक्षाकृत अधिक वेतन देना पड़ेगा, परंतु श्रम-जीवियों को प्रति कुटुंब के विचार से औसत रूप से कम आमदनी होगी। इस से सभी को हानि होगी। इस दोष को सहायक और पूरक उद्योगों द्वारा दूर किया जा सकता है जिस से सभी तरह के श्रम की खपत हो। (२) एक ही तरह के उद्योग-धंधे के स्थानीयकरण से वहां वालों में बेकारी बढ़ने और आर्थिक मंदी तथा हलचल का बड़ा भय रहता है, क्योंकि किसी कारण से यदि उस वस्तु की माँग कम पड़ गई या बंद हो गई तो सभी को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि सारा काम एक ही वस्तु पर निर्भर रहता है।

यह दोष भी सहायक-पूरक उद्योगों के द्वारा दूर किया जा सकता है, जिस से उस स्थान पर अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति होने लगे और किसी-न किसी वस्तु की माँग बनी रहे।

अध्याय १७

उत्पत्ति की मात्रा

बड़ी और छोटी मात्रा की उत्पत्ति

जब किसी एक वस्तु का उत्पादन, एक समय में, एक उत्पादन इकाई में, अधिक तादाद में होता है तो उसे बड़ी मात्रा की उत्पत्ति कहते हैं। इस संबंध में उत्पादन की इकाई का विचार बहुत ज़रूरी है। एक स्थान पर स्वतंत्र-रूप से बहुत से व्यक्ति भिन्न-भिन्न उत्पादन इकाइयों में किसी एक वस्तु का उत्पादन करते हुए भी बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करते हुए न माने जायँगे, चाहे उस स्थान में वह वस्तु कुल मिला कर कितनी ही बड़ी तादाद में क्यों न तैयार की जाती हो। इसी तरह एक ही मालिक के एक ही वस्तु के कई कारख़ाने अलग-अलग, भिन्न-भिन्न उत्पादन इकाइयों में उत्पादन करते हुए कुल मिला कर चाहे जितनी बड़ी तादाद उस वस्तु की तैयार करें पर वह भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति न मानी जायगी। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए यह ज़रूरी है कि उस वस्तु की उत्पादन इकाई में जो वस्तु एक बार तैयार हो उस की तादाद अपेक्षाकृत बड़ी हो।

औद्योगिक प्रगति के कारण उत्पादन कार्य में बहुत बड़े उलट फेर हो गए हैं, और आए दिन होते रहते हैं। इन सब के कारण बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को बड़ा प्रोत्साहन मिल रहा है। आवागमन के साधनों में जितनी ही उन्नति होती जा रही है, बाज़ार का विस्तार भी उतना ही अधिक बढ़ रहा है। बाज़ार के विस्तार, श्रमविभाग, मशीन के उपयोग आदि से बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिल रहा है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से माल तैयार करनेवालों को तैयार माल

सस्ता पड़ता है और लाभ अधिक होता है, उपभोक्ताओं को अधिक तादाद और कम दामों पर नाना प्रकार की वस्तुएं प्राप्त होती हैं, और मज़दूरों को अधिक वेतन मिलता है और काम करने में अनेक तरह की सहूलियतें होती हैं। इन कारणों से भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होनेवाले लाभ

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से बहुत से लाभ होते हैं जिन का वर्णन यहां किया जाता है :—(१) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में अनेक तरह के कुशल और अकुशल साधारण श्रमियों और कारीगरों को रख कर, प्रत्येक को उस के उपयुक्त काम में बराबर लगाए रख कर उन से अधिक से अधिक काम लिया जा सकता है। साथ ही प्रबंधक भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए अच्छे से अच्छे व्यक्तियों को बड़ी से बडी तनख़्वाह पर रख कर ख़ुद देख-रेख, विचार और प्रबंध के लिए स्वतंत्र रह कर अनेक लाभ की बातें सोच और कर सकता है। इन सब बातों से बहुत किफ़ायत होती है।

(२) अनेक बढ़िया अप-टू-डेट मशीनों और सुधारों का उपयोग किया जा सकता है, तथा प्रत्येक ख़ास काम के लिए एक ख़ास मशीन काम में लाई जा सकती है। साथ ही मशीनों आदि की मरम्मत, सुधार, देख-रेख के लिए अपना स्वतंत्र प्रबंध किया जा सकता है; जिस से मरम्मत में कम ख़र्च पड़ता है तथा मशीनें ठीक रहती हैं। इस के साथ ही नए-नए प्रयोगों सुधारों, आविष्कारों के लिए एक स्वतंत्र व्यवस्था की जा सकती है, जिस से कारख़ाने को बहुत बड़ा लाभ होता रहता है। साथ ही बिजली, कोयला आदि संचालक शक्ति के व्यय में भी कम से कम ख़र्च पड़ता है।

(३) कच्चे माल, मशीन, औज़ार आदि ख़रीदने और तैयार माल बेंचने में बहुत किफ़ायत होती है, क्योंकि अधिक तादाद में माल ख़रीदने और लाने-लेजाने में वस्तु का भाव सस्ता पड़ता है, तथा रेल, जहाज़ आदि का कम भाड़ा देना पड़ता है, और अन्य अनेक प्रकार की सुविधाएं

आसानी से प्राप्त हो जाती हैं। माल बेंचने में भी दाम अधिक अच्छे खड़े होते हैं और बेंचने के लिए कमीशन, विज्ञापन-व्यय, कनवेसिंग, भाड़ा आदि कम देना पड़ता है। साथ ही अधिक तादाद होने से ख़रीदारों को भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार वस्तुएं देकर उन्हें अधिक संतुष्ट किया जा सकता है। तैयार माल भी कम रोकना और रखना पड़ता है। कम सूद पर किंतु अधिक सहूलियत से पूँजी मिल जाती है। इन बातों के अलावा छीज के पदार्थों से गौण वस्तुएं बनाई जाकर व्यर्थ की हानि बचाई जाती है, जो छोटी मात्रा की उत्पत्ति में नहीं बचाई जा सकती। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में अपना कच्चा माल आदि ख़ुद ही तैयार किया जा सकता है, इस प्रकार बीच के नफ़े को ख़ुद उठाया जा सकता है।

(४) भूमि भी औसत हिसाब से कम लगती है, इस से भाड़े में कमी होती है। एक सौगुने बड़े कारख़ाने को सौगुनी भूमि की दरकार न होकर १०/२० गुनी भूमि मे काम निकल जाता है।

(५) बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करनेवाले का नाम मशहूर हो जाता है, इस कारण उसे विज्ञापन, कन्वेसिंग आदि में तो किफ़ायत होती ही है, साथ ही रेल, जहाज़ आदि की कंपनियों, बैंकों, पूँजीपतियों, सरकार आदि से भी काफ़ी सुविधाएं और किफ़ायतें, छूटें आदि मिल जाती हैं, और बहुत लाभ होता रहता है।

(६) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए बड़े और अनेक बाज़ारों की ज़रूरत होती है, इस कारण स्थायित्व रहता है, और आर्थिक संकट में कम पड़ना पड़ता है, क्योंकि अनेक बाज़ार होने से एक बाज़ार में तेज़ी-मंदी होने से वैसी विशेष हानि नहीं होती, क्योंकि दूसरे बाज़ारों द्वारा लाभ उठाया जाकर हानि पूरी की जाती है। छोटी मात्रा और परिमित बाज़ार वालों के लिए ऐसे सुभीते नहीं रहते। दूसरे, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए बड़ी पूँजी की ज़रूरत पड़ती है। अस्तु, किसी तरह का संकट का आसानी से सामना किया जा सकता है और प्रतिद्वंद्वियों के साथ डट कर

मोर्चा लिया जा सकता है, और क़ीमत घटाने के युद्ध में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

(६) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कारण माल सस्ता पड़ता है, इस से उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएं आसानी से अधिक संख्या में और अनेक तरह की मिल सकती हैं। इस से उपभोक्ताओं तथा समाज को बड़ा लाभ होता है। दूसरे मज़दूरों को वेतन अपेक्षाकृत अधिक मिलता है, और उन के कामों में अनेक प्रकार की, और अधिक सुविधाएं दी जाती हैं।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में जो बचत होती है वह दो तरह की है, एक

वाह्य और आभ्यंतरिक बचत

तो वाह्य और दूसरी आभ्यंतरिक। आभ्यंतरिक बचत किसी कारखाने के अंदर व्यवस्था में सुधार के कारण होनेवाली बचत होती है। जैसे, श्रम-विभाग, अप-टु-डेट मशीन, बढ़िया औज़ार के उपयोग द्वारा अथवा कच्चे माल, संचालक-शक्ति आदि के उपयोग में कमी के द्वारा उत्पादन-व्यय में कमी की जाय। वाह्य बचत वह बचत है जो अंदरूनी व्यवस्था के कारण न होकर बाहरी व्यवहार द्वारा व्यय में कमी हो। जैसे, कच्चे माल, मशीन, औज़ार आदि की ख़रीद, ढुलाई आदि में किफ़ायत करने से उत्पादन व्यय में कमी पड़े।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति तभी तक लाभदायक होगी जब तक कि उस

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सीमा

में वाह्य अथवा आभ्यांतरिक बचत की गुंजाइश हो। यदि बचत की गुंजाइश न होगी तो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि रुक जायगी। कोई भी कारख़ाना तभी तक बढ़ता चला जायगा जब तक कि श्रम, मशीन, कच्चे माल आदि के उपयोग में बचत हो अथवा बाहरी लोगों से मिलनेवाली सुविधाओं, रियायतों, छूटों आदि में वृद्धि होती चली जाय, जिस से उत्पादन-व्यय में कमी हो सके। किंतु ऐसा समय आता है, जब बड़ी मात्रा द्वारा होनेवाली बचत बंद हो जाती है, और औसत उत्पादन-व्यय बढ़ने लगता है। इस स्थिति पर पहुँच कर बड़ी मात्रा में और अधिक वृद्धि करना हानिकारक होने लगता

है। अस्तु, वह रोक दी जाती है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि दो बातों पर निर्भर रहती है, एक तो व्यवस्थापक की योग्यता-क्षमता पर, और दूसरे बाजार की स्थिति पर :—

व्यवस्थापक की क्षमता

(अ) व्यवस्थापक (प्रबंधक तथा साहसी) की योग्यता और क्षमता शक्ति की एक सीमा होती है। एक मनुष्य उतना ही प्रबंध ठीक से कर सकता है जितना कर सकने की उस की योग्यता, क्षमता और शक्ति होती है। उस के बाद वह ठीक से प्रबंध नहीं कर सकता। सीमा के बाहर होने पर जो भी कार्य किया जायगा उस का प्रबंध ठीक से न हो सकेगा। इस कारण उस में उत्पादन-व्यय अधिक बैठेगा, लाभ कम होगा, हानि अधिक।

बाज़ार की स्थिति

(आ) कोई वस्तु तभी तक बनाई जा सकेगी जब तक कि किसी बाज़ार में उस की खपत हो। क्योंकि बाज़ार में खपत होने से ही लाभ हो सकेगा। यदि बाज़ार छोटा होता जाय तो खपत कम होती जायगी, अस्तु उत्पत्ति की मात्रा कम करनी पड़ेगी। क्योंकि, यदि उत्पत्ति कम न की गई तो कुछ माल बिना बिके, व्यर्थ में पड़ा रहेगा और कारख़ाने को हानि उठानी पड़ेगी। बाज़ार जितना ही बड़ा होगा, उस वस्तु की माँग जितनी अधिक होगी, उस की उत्पत्ति उतनी ही बड़ी मात्रा में हो सकेगी।

कुछ विरोधी कारण

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को रोकने के कुछ विरोधी कारण भी ज़ोर पकड़ रहे हैं। यातायात में सहूलियत करने और संवाद-समाचार वितरण करने वाले तार, टेलीफ़ून, रेल, जहाज़ आदि साधनों के कारण छोटी मात्रावालों को भी अनेक ऐसी सुविधाएं हो गई हैं जिन से वे आसानी से बड़ी मात्रावालों से मोर्चा लेकर डटे रह सकते हैं। साथ ही छोटी-छोटी किंतु तेज़ और अच्छा काम करनेवाली मशीनों के, और घर-घर पहुँचनेवाली सस्ती संचालक-शक्ति के कारण अब कारीगर अपने घर में बैठ कर भी सस्ते में वस्तुएं बना सकते

हैं। साथ ही सहकारिता, सहयोग के कारण छोटी मात्रावाले भी माल के ख़रीदने-बेंचने, लेआने-लेजाने, तथा पूँजी उधार लेने में वे ही सब सहूलियतें प्राप्त कर लेते हैं जो बड़ी मात्रावालों को मिल सकती हैं। इन सब कारणों से बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की वृद्धि में बाधा पड़ती है।

साथ ही कुछ ऐसे काम हैं जो छोटी मात्रा में ही अधिक अच्छे और ठीक तथा सस्ते हो सकते हैं। इस प्रकार के वे काम हैं जिन में कला और सौंदर्य की प्रधानता रहती है; जिन में बहुत क़ीमती कच्चा माल लगता है (जैसे हीरा, सोना, मोती); जिन में ख़ास व्यक्ति की रुचि, तर्ज़, काट-छाँट आदि की ज़रूरत पड़ती है।

ऊपर वाले विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जिन में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति संभव और हितकर होती है, और कुछ में नहीं। नीचे उन व्यवसायों और उद्योग-धंधों का विवरण दिया जाता है जिन में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति संभव और लाभदायक होती है।

खान के काम और तैयार माल बनाने वाले उद्योग-धंधों में मशीन और अधिक मनुष्यों के एक साथ काम करने की ही आवश्यकता होती है, अस्तु, इन में बड़ी मात्रा में लाभ अधिक संभव है। इन के अलावा बैंकिंग, इंश्योरेंस, थोक व्यापार आदि में भी बड़ी मात्रा के कारण लाभ अधिक होता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से केवल लाभ ही लाभ नहीं होते वरन् अनेक हानियां भी होती हैं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में बड़ी पूँजी लगने और नाम तथा प्रभाव अधिक होने के कारण प्रतियोगिता में छोटी मात्रा वालों को हार कर हट जाना पड़ता है। बड़ी मात्रावालों के द्वारा ट्रस्ट, कार्टेल और गुट्ट बन जाते हैं, और एकाधिकार प्राप्त हो जाता है, जिस से उस वस्तु के उत्पादन आदि पर पूर्ण स्वत्व हो जाता है। वे अकेले बाज़ार में रह जाते हैं, अस्तु, बाज़ार में वस्तु की क़ीमत बढ़ा देते हैं, और माल घटिया देने

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से हानियां

लगते हैं। साथ ही नए बाज़ारों को हाथ में करने के लिए अनेक प्रकार से संघर्ष पैदा कर देते हैं।

ट्रस्ट, एकाधिकार आदि के कारण देश के कुछ थोड़े से आदमियों के हाथ में देश का अधिकांश धन आ जाता है, और अधिक जन-संख्या के हाथों में कम धन जाने पाता है। इस से विषम वितरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है, और अनेक प्रकार के झगड़े खड़े होने लगते हैं।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कारण बहुत से मज़दूरों को एक साथ अस्वास्थ्यकर स्थानों में एकत्र होकर काम करना पड़ता है। बड़ी मात्रा के उत्पादकों के पास अधिक पूँजी और साधन होने के कारण उन की शक्ति बढ़ जाती है। अस्तु, उन से मज़दूरी के लिए ठीक से तय करने की शक्ति मज़दूरों में नहीं रह जाती। इस से मज़दूरों को कम मज़दूरी दी जाती है, और वे मशीन की तरह काम में लगाए जाते हैं। मज़दूरों की रक्षा के लिए जो क़ानून बनाए जाते हैं, पूँजीपति बड़ी आसानी से उन की अवहेलना कर सकते हैं। अस्तु, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कारण मज़दूरों की दशा ख़राब होती जाती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में वस्तुएं मशीन के द्वारा बड़ी जल्दी में बनाई जाती हैं, इस कारण उन में कला और सौंदर्य तथा टिकाऊपना, जो हाथ के बने सामान में होता था, नहीं पाया जाता। अस्तु, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से कला-कौशल, कारीगरी, दस्तकारी को हानि पहुँची है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से अनेकानेक लाभ हैं। किंतु साथ ही कुछ हानियां भी होती हैं। अनेक व्यवसाय तथा उद्योग-धंधे ऐसे भी हैं जो बड़ी मात्रा के उपयुक्त नहीं हैं। छोटी मात्रा में ही उन का उत्पादन तथा व्यापार लाभदायक हो सकता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति में कुछ विशेष लाभ होते हैं जिन का यहां वर्णन किया जाता है। छोटी मात्रा में उत्पत्ति करनेवाले उपभोक्ताओं के बहुत संपर्क में रहते हैं।

अस्तु उन की आवश्यकताओं को अच्छी तरह से जान कर उतनी ही मात्रा में और उसी प्रकार का माल तैयार करते हैं जितने की तत्काल खपत हो सकती है। इस से न ज़्यादा माल व्यर्थ पड़ा रहता और न व्यापारिक तेज़ी-मंदी तथा संघर्ष की नौबत आती है। उत्पादकों को इतना ज़्यादा लाभ भी नहीं होता कि कुछ थोड़े से आदमियों के पास अधिक धन जमा हो जाय और असमान वितरण की समस्या पैदा हो। कारीगर प्रायः स्वतंत्र रूप से अपने घरों में काम करते हैं। इस से एक तो उन्हें अपने स्त्री-पुत्रों आदि से काम में सहायता मिल जाती है, जो कारख़ाने में नहीं मिल सकती। अस्तु स्त्री-पुत्रादि का श्रम बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में व्यर्थ जाता है और छोटी मात्रा की उत्पत्ति में उस का उपयोग हो जाता है। दूसरे, उन्हें अपनी इच्छा और सुविधा से काम करने की स्वतंत्रता रहती है। इस से काम ज़्यादा और अच्छा होता है और मन और शरीर पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा कि कारख़ानों में बँधे वक्त पर, दूसरों की कड़ी निगरानी में करने से होता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति में व्यवस्थापक का सीधा संबंध अपने मज़दूरों और कारीगरों से रहता है, इस से एक तो उस का सीधा निरीक्षण और संबंध होने से काम ज़्यादा और अच्छा होता है, दूसरे श्रमियों के साथ उस का आपसी बर्ताव रहता है, जिस से मालिक और नौकरों का संघर्ष नहीं बढ़ने पाता, और जो भी शिकायतें या त्रुटियां होती हैं वे जल्दी और ठीक-से दूर कर दी जाती हैं और काम करनेवाले उत्साहित किए जा सकते हैं। छोटी मात्रा की उत्पत्ति में कारीगर अपने कला-कौशल, चातुरी, बुद्धिमानी, बारीकी दिखा सकता है, और अधिक उत्साह और ज़िम्मेदारी से काम करता है। छोटी मात्रा की उत्पत्ति में हिसाब-किताब रखने, निगरानी करने आदि में कम ख़र्च पड़ता है। ग्राहकों और व्यापारियों तथा काम करनेवालों के साथ निजी संपर्क होने से किसी गड़-बड़ का वैसा डर नहीं रहता।

किंतु छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ ही लाभ हों, सो बात नहीं

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से हानियां

है। उस से हानियां भी होती हैं। छोटी मात्रा में उत्पत्ति होने से वस्तु की इकाई पीछे ख़र्च अधिक पड़ता है, कुशल और अधिक वेतनवाले कारीगर नहीं रक्खे जा सकते, अच्छी मशीनों, औज़ारों आविष्कारों, सुधारों से लाभ नहीं उठाया जा सकता, अनुसंधान, परीक्षण के लिए विशेष गुंजाइश नहीं रहती, और श्रम-विभाग से लाभ नहीं उठाया जा सकता। अस्तु, एक ही श्रमी को साधारण और कुशलता दोनों तरह का काम करना पड़ता है, जिस से उस की कुशलता का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। माल ख़रीदने, बेचने, लाने-लेजाने, बिक्री, विज्ञापन, पूंजी लेने आदि में वैसी सुविधा नहीं रहती। इस संबंध में सहयोग और सहकारिता से बहुत कुछ सहूलियतें प्राप्त की जा सकती हैं। तो भी कुछ औद्योगिक कार्य ऐसे हैं जो छोटी मात्रा में किए ही नहीं जा सकते, जैसे रेल, तार, जहाज़ आदि के कार्य।

भीमकाय व्यवसाय

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होनेवाले लाभों के कारण अमरीका, जर्मनी आदि देशों में अधिक से अधिक लाभ उठाने की दृष्टि से एक बड़े व्यवसाय के या उस की विभिन्न शाखाओं के अनेक बड़े-बड़े कारख़ानों का सर्वोच्च प्रबंध और आर्थिक नियंत्रण एक ही व्यक्ति या कंपनी के हाथ में दे दिया जाता है। इसी को भीमकाय व्यवसाय अथवा बड़े परिमाण का प्रबंध कहते हैं। इस के दो रूप होते हैं: (१) उत्तरोत्तर मिलन और (२) क्षैतिज मिलन।

उत्तरोत्तर मिलन

जब एक ही व्यवसाय के क्रम से उत्तरोत्तर होनेवाले विविध कार्यों को एक ही प्रबंध तथा नियंत्रण में लाया जाता है तो उसे "उत्तरोत्तर मिलन" कहते हैं। एक कपड़े की मिल ख़ुद अपना कपास खेती करके पैदा करे, रुई निकलवा कर कारख़ाने को दे, सूत तैयार करे तथा कपड़ा बना कर भिन्न-भिन्न बाज़ारों में भेजे, तथा ज़रूरत पड़ने पर अपने ही आवागमन के साधन भी काम में लाए. अपने ही प्रबंध

से संचालक शक्ति और मशीन आदि भी तैयार करे। यह उत्तरोत्तर मिलन होगा। इस में कच्चे माल की तैयारी से लेकर तैयार माल को भेजने तक का सारा काम क्रम से उसी व्यवसाय के प्रबंध के अंतर्गत रहता है।

क्षैतिज मिलन

जब एक व्यवसाय के उन अनेक कारख़ानों को, जिन में एक ही तरह की वस्तु तैयार होती हो, एक ही प्रबंध और नियंत्रण में रखते हैं तो इसे क्षैतिज मिलन कहते हैं। ये कारख़ाने ज़रूरत होने से भिन्न-भिन्न स्थानों से कच्चा माल आदि लेने और तैयार माल भिन्न-भिन्न बाज़ारों में भेजने आदि की सुविधा से विभिन्न स्थानों पर स्थापित किए जाते हैं या होते हैं। इन के लिए कच्चे माल, मशीन, औज़ार, संचालक शक्ति आदि की ख़रीद, माल लाने-लेजाने की व्यवस्था, बिक्री, विज्ञापन आदि का प्रबंध एक साथ किया जाता है ताकि किफ़ायत पड़े।

बड़ी और छोटी मात्राओं की उत्पत्ति एक साथ

अनेक कारणों और परिस्थितियों के अनुकूल रहने से अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति छोटी और बड़ी मात्रा में साथ ही साथ होती रहती है। इस के लिए ये कारण ज़रूरी हैं (१) माल मँगाने भेजने की (२) संचालक शक्ति के सस्ते में घर-घर भेजने की (३) छोटे-छोटे किंतु तेज़ चलने वाले सस्ते यंत्रों की तथा (४) सहकारिता, सहयोग की यथेष्ट सुविधाएं और प्रबंध की, जिस से उत्पादकों को कच्चा माल, मशीन, संचालक शक्ति, पूँजी आदि प्राप्त करने तथा तैयार माल भेजने, बेचने, विज्ञापन आदि करने में आसानी और सुविधा हो। इस प्रकार की सुविधाएं होने से छोटी मात्रा में उत्पत्ति करनेवाले भी संघर्ष में बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करनेवालों के सामने टिक सकते हैं और बाज़ारों में नफ़े के साथ अपना माल बेंच सकते हैं।

*

अध्याय १८

व्यावसायिक व्यवस्था और साहस

"दूसरे व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इस उद्देश्य से व्यवस्था करना कि उत्पन्न वस्तुओं के द्वारा जिन की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से उस के लिए कुछ बदले में देंगे, 'कारबार' 'व्यापार' या 'व्यवसाय' कहलाता है।" "लाभ उठाने के लिए दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था को 'कारबार' 'व्यवसाय' या 'व्यापार' कहते हैं।" और प्रतियोगिता-पूर्ण वर्तमान काल में दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करके लाभ उठाने के लिए 'नुक़सान' या 'हानि' सहना, जोखिम उठाना और उस के लिए साहस करना ज़रूरी है।

आवश्यकता की भिन्न-भिन्न वस्तुओं को तैयार करनेवाले, उन से वस्तुओं को लेकर थोक और फुटकर बेचनेवाले केवल इसी ख़याल से ख़रीद-फ़रोख़्त करते हैं कि इस क्रय-विक्रय से वे लाभ उठावें। किंतु लाभ उठाने के साथ ही उन्हें हानि सहने, जोखिम उठाने के लिए भी सदा तैयार रहना पड़ता है। प्रत्येक 'कारबार', 'व्यवसाय', 'व्यापार' के साथ जोखिम लगा रहता है।

जो व्यक्ति किसी 'कारबार', 'व्यापार', 'व्यवसाय' की व्यवस्था करता है, उस का नियंत्रण करता है और हानि लाभ सहने का जोखिम उठाता है, साहस करता है, उसे 'साहसी' कहते हैं।

धनोत्पादन के सभी साधनों को समुचित रीति से जुटा कर धनोत्पादन की व्यवस्था करना और उस से होनेवाले हानि-लाभ का सारा जोखिम अपने ऊपर लेना ही साहसी का काम होता है। बिना साहसी के धनो-त्पादन हो ही नहीं सकता। धनोत्पादन के अन्य सभी साधनों के रहने

पर भी बिना साहसी के धनोत्पत्ति की कोई भी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि धनोत्पत्ति से होनेवाले नफ़ा-नुक़सान का जोखिम कोई भी अन्य साधक उठाने को तैयार नहीं होता। भूमिवाला भूमि देने को तैयार है, पर उस के एवज़ में उसे लगान या भाड़ा चाहिए, चाहे धनोत्पत्ति से लाभ हो या हानि। इसी प्रकार श्रमी को अपने श्रम के बदले में वेतन या 'मज़-दूरी'; पूँजीपति को अपनी पूँजी के लिए सूद; प्रबंधक को अपने प्रबंधकार्य के लिए वेतन चाहिए। उन मे, कारोबार में होनेवाले हानि-लाभ से वैसा कुछ भी मतलब नहीं। यह साहसी का काम है कि वह भूमि के लिए भाड़ा (लगान), श्रम के लिए मज़दूरी, पूँजी के लिए सूद और प्रबंध के लिए वेतन देने और कारोबार से होनेवाले हानि-लाभ के जोखिम को उठाने के लिए तैयार हो और उत्पत्ति की व्यवस्था करे। कारोबार में सफलता होने पर उसे लाभ होगा। पर यदि उस में फ़ायदे के बजाय नुक़सान हुआ तो भी साहसी को मज़दूरों को वेतन, भूमिपति को भाड़ा (लगान) पूँजी-पति को सूद और प्रबंधक को वेतन तो देना ही पड़ेगा। अस्तु, धनोत्पत्ति की सारी ज़िम्मेदारी उसी पर रहती है। वह उत्पत्ति और वितरण दोनों ही में प्रधान होकर रहता है।

कारोबार की रीति-नीति निश्चित करना साहसी का मुख्य काम होता है। किस वस्तु की उत्पत्ति करना, किस मात्रा में उत्पत्ति करना, कौन से उपाय काम में लाना, किस साधन को कितने अनुपात में लगाना और कहां से, किन शर्तों और मूल्य पर लेना, किन कच्चे मालों, मशीनों, औज़ारों आदि को कैसे, कहां से, कब और कितने मूल्य में लेना; तैयार माल को किस तरह, किन शर्तों पर और कितने मूल्य में, कब, कहां बेचना आदि सभी बातों को निश्चित करना साहसी का काम है। इन सब कामों से होनेवाले लाभ तथा हानि का पूरा जोखिम वही उठाता है। उत्पत्ति होने के पहले ही यह तय हो जाता है कि धनोत्पादन में योग देनेवाले श्रम, भूमि, पूँजी, प्रबंध को कितना और किस हिसाब से प्रतिफल दिया जायगा।

पर जोखिम उठाने, साहस करने के लिए साहसी को क्या मिलेगा इस का कोई भी निश्चय नहीं किया जा सकता। यह तो धनोत्पादन के बाद, उत्पन्न वस्तु के खप जाने पर ही मालूम होता है कि उस कार्य से कितना लाभ या हानि हुई। अस्तु, सहसी को अपने काम के लिए कोई निश्चित पुरस्कार नहीं मिलता और न यही निश्चित हो सकता है कि उसे कोई पुरस्कार मिलेगा भी। क्योंकि यदि कुछ न बचा, बल्कि कुछ घाटा ही हुआ तो साहसी को अपने पास से देना पड़ेगा और हानि उठानी पड़ेगी।

उत्पत्ति की रीति-नीति निश्चित करने, साधनों को समुचित रूप से जुटाने और कारबार से होनेवाले लाभ-हानि का सारा जोखिम अपने ऊपर लेने के कारण साहसी का ध्यान सदा इस बात पर रहता है कि अधिक से अधिक और अच्छी से अच्छी उत्पत्ति, कम से कम उत्पादन व्यय में हो और वस्तु के इतने अधिक दाम खड़े हों कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो सके। अधिक से अधिक लाभ ही कारोबार का मुख्य उद्देश्य रहता है। इस के लिए साधनों और पदार्थों के व्यर्थ के क्षय, छीज, को दूर करने की साहसी अधिक से अधिक चेष्टा करता है। इस प्रकार वह ख़ुद भी लाभ उठाता है और समाज को भी व्यर्थ क्षय, छीज से बचा कर लाभ पहुँचाता है। इन सब बातों से यह सिद्ध है कि जिस देश में, जितने ही अधिक योग्य, क्षमताशील साहसी होंगे, उस देश की औद्योगिक उन्नति उतनी ही अधिक होगी।

जिस समय धनोत्पत्ति के रूप कम थे, कच्चे माल साधारण श्रेणी के होते थे, केवल हाथों से चलाए जाने वाले कुछ साधारण औज़ारों के द्वारा काम होता था, श्रमविभाग बहुत साधारण था, बाज़ार का विस्तार बहुत ही परिमित था, वस्तुएं कम थीं और उन के विभिन्न प्रकार भी उतने ज़्यादा और विभिन्न दर्जे के न थे, और जब रुचि, फ़ैशन और माँग में एकाएक अधिक परिवर्तन नहीं होता था; उस समय वैसे साहस और साहसी की ज़रूरत नहीं थी, जैसे कि आजकल। आस-पास के जाने-समझे उपभोक्ताओं

की रुचि, माँग, क्रयशक्ति आदि को जान-समझ कर वस्तुएं उत्पन्न की जाती थीं। इस से जोखिम कम था। उस समय प्रायः एक ही मनुष्य भूमिपति, पूँजीपति, श्रमी, प्रबंधक तथा साहसी सभी .खुद ही होता था, क्योंकि वह अपने घर में, अपनी पूँजी लगा कर, .खुद मेहनत करके, किसी वस्तु को बनाता था और उस से होने वाले हानि-लाभ का .खुद जिम्मेदार होता था। समय बदला। श्रम-विभाग बढ़ा। मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। बाज़ारों का विस्तार बढ़ गया। वस्तुओं की संख्या और प्रकार बे-तरह बढ़ गए। बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने लगी। बड़ी पूँजी और नाज़ुक-पेचीदा मशीनों की ज़रूरत बढ़ी। भविष्य के लिए और दूर के बाज़ारों के लिए उत्पत्ति होने लगी। रुचि, फ़ैशन, माँग में एकाएक भारी परिवर्तन होने लगे। कारबार से होनेवाले हानिलाभ बढ़ गए। इस से सभी विभागों में विशिष्टता की ज़रूरत पड़ी। अस्तु, धनोत्पादन में एक ऐसे विशिष्ट व्यक्ति की ज़रूरत हुई जो व्यवस्था करने और जोखिम उठाने में विशेष दक्ष हो। अस्तु इस समय औद्योगिक जगत में साहसी का महत्व बहुत बढ़ गया है। वही औद्योगिक संसार का सेनानायक माना जाता है।

कभी-कभी प्रबंधक और साहसी का, अथवा पूँजीपति और साहसी का काम एक ही व्यक्ति करता है। पर अंतर स्पष्ट है। यदि साहसी प्रबंधक का काम .खुद न करना चाहे तो वह अपने कारबार के प्रबंध के लिए वेतन देकर किसी दूसरे व्यक्ति को रख सकता है। इसी तरह एक ही व्यक्ति किसी कारबार में अपनी निजी पूँजी भी लगाता है और उस के हानि-लाभ का जोखिम भी उठाता है। पर पूँजी के लिए उसे सूद मिलता है और जोखिम उठाने के लिए लाभ। वह .खुद अपनी पूँजी न लगा कर दूसरे से पूँजी लेकर लगा सकता है और जो सूद .खुद लेता था वह उसे दे सकता है। जो पूँजी लगाता है या प्रबंध करता है उस से उस व्यापार में होने वाले हानिलाभ के जोखिम से कोई मतलब नहीं रहता। साहसी का काम इन सब से भिन्न है। अब चाहे वह अनेक अन्य साधनों का स्वामी होकर

भी जोखिम उठावे अथवा पृथक् होकर।

साहसी में दो तरह के गुणों की ज़रूरत पड़ती है :—(१) मनुष्यों की परख और उन से काम लेने की योग्यता तथा (२) देश, काल, पात्र, स्थिति आदि का ज्ञान और अनुभव।

साहसी के गुण और शिक्षा

प्रत्येक कारोबार की सफलता के लिए यह ज़रूरी है कि उस में ऐसे आदमी चुन कर भिन्न-भिन्न विभागों में लगाए जायँ जो ठीक उसी काम के उपयुक्त हों और जिन का भरोसा किया जा सके। और लाभ के लिए यह ज़रूरी है कि ऐसे मनुष्यों से कम से कम वेतन पर अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा काम लिया जाय। यह तभी संभव है जब मनुष्यों की और उन के स्वभाव की पूरी परख साहसी को हो और वह जब प्रत्येक मनुष्य से ठीक-ठीक काम ले सके। साथ ही उसे गंभीर, मज़बूत दिल का, धीर प्रकृतिवाला, उत्साह-युक्त तथा सदा नवीन बातों को समझने-जाननेवाला और उन की तह तक पैठनेवाला होना ज़रूरी है, ताकि लोगों को विश्वास दिला कर उन से सभी उपयुक्त साधन जुटा कर वह धनोत्पादन कर सके और हानि होने पर हिम्मत न हार बैठे।

उसे यह ज्ञान और अनुभव रखने की भी ज़रूरत है कि कब, कहां, कैसे, कितने में, कौन साधन प्राप्त हो सकेंगे, किस समय ख़रीद के लिए, कौन स्थान उपयुक्त हैं, और बेचने के लिए कौन। उसे जल्दी से जल्दी ठीक विचार और निर्णय करनेवाला भी होना चाहिए, ताकि प्रत्येक काम के लिए वह ठीक समय पर उचित निर्णय कर सके।

ये गुण स्वाभाविक होते हैं। पर शिक्षा से भी बहुत कुछ सुधार हो जाता है।

अध्याय १९

व्यवसाय-व्यवस्था के प्रकार

व्यवसाय-व्यवस्था के प्रकार

वर्तमान काल में उद्योग और व्यवसाय की सारी सफलता प्रबंध और व्यवस्था पर निर्भर है। व्यावसायिक व्यवस्था के अनेक प्रकार होते हैं। मुख्य प्रकारों का नीचे वर्णन किया जाता है :

(१) एकाकी उत्पादन प्रणाली—केवल एक व्यक्ति द्वारा व्यवस्था।

(२) साझेदारी—एक से अधिक साझेदारों द्वारा व्यवस्था।

(३) मिश्रित पूँजी की कंपनियां—कुछ चुने हुए व्यक्ति अनेक मालिकों के नाम पर व्यवस्था करते हैं।

(४) एकाधिकार, ट्रस्ट, कार्टेल—इस प्रकार की व्यवस्था कि केवल एक व्यक्ति या समूह का सर्वाधिकार स्वत्व रहे।

(५) सहयोग और सहकारिता उत्पादन प्रणाली—अनेक व्यक्ति सम्मिलित होकर व्यवस्था करते हैं।

(६) सरकार द्वारा उत्पादन व्यवस्था—सरकारी विभाग द्वारा व्यवस्था।

एकाकी उत्पादन प्रणाली

इस प्रणाली में सारे कारबार की पूरी ज़िम्मेदारी, जोखिम और साथ ही नियंत्रण एक ही व्यक्ति का रहता है। वह या तो ख़ुद सब काम, प्रबंध और व्यवस्था करता है (जैसे कि डाक्टर, वैद्य, वकील आदि ख़ुद अपना काम चलाते हैं) और अपनी पूँजी, भूमि, श्रम आदि काम में लाता है, अथवा आवश्यकता होने वह दूसरों से सूद पर पूँजी, भाड़े पर भूमि लेता है, और मज़दूरी देकर मज़दूर और वेतन देकर प्रबंधक रख कर काम चलाता है। इस प्रणाली में व्यवस्थापक का दायित्व अपरिमित रहता है और ज़रूरत पड़ने पर उस

की सारी निजी संपत्ति तक क़ानूनन ले ली जा सकती है।

इस प्रणाली में लाभ यह है कि व्यवस्थापक ख़ुद अपने सब कारबार का ज़िम्मेदार होता है और सारा लाभ या हानि उठाता है, अस्तु अपनेपन के कारण काम ज़्यादा और अधिक अच्छा होता है और व्यर्थ का क्षय-छीज कम से कम होता है।

इस प्रणाली में कठिनाइयां अनेक हैं। किसी बड़े और पेंचीदा कारबार के सभी विभागों का नियंत्रण, निरीक्षण, और संचालन सफलता-पूर्वक करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती है, और एक व्यक्ति में ये सब गुण एक साथ शायद ही कभी मिल सकें। इस से व्यवसाय को अच्छी तरह से चलाने में अड़चनें पड़ती हैं। दूसरे, एक व्यक्ति को अधिक पूँजी मिलना उतना सरल नहीं होता, इस से जिन कारबारों में अधिक पूँजी की ज़रूरत पड़ती है वे इस प्रणाली द्वारा नहीं चलाए जा सकते। तीसरे, अपरिमित दायित्व होने से व्यवस्थापक की सारी निजी संपत्ति के जाने का सदा भय लगा रहता है, इस कारण व्यवस्थापक न तो उतने उत्साह, दृढ़ता और साहस से काम कर सकता है और न नए परीक्षण आदि करने का साहस कर सकता है। इन सब कारणों से एकाकी उत्पादन प्रणाली उन्हीं कारबारों के लिए उपयुक्त होती है जिन में कम पूँजी, परिमित योग्यता, साधारण कुशलता-क्षमता की आवश्यकता पड़े; जैसे, खेती, फुटकर बिक्री आदि।

साझेदारी

एकाकी उत्पादन प्रणाली के दोषों को दूर करने के विचार से साझेदारी प्रणाली की व्यवस्था की गई। साझेदारी में दो अथवा अधिक व्यक्ति मिल कर व्यवस्था करते हैं, और सारे कारबार के लिए अलग-अलग और साथ ही सम्मिलित रूप से भी ज़िम्मेदार रहते हैं। प्रत्येक के ऊपर अपरिमित दायित्व रहता है और कुल कारबार तथा लेन-देन, लेखा-जोखा, क़र्ज़, इक़रार, अहद के लिए प्रत्येक साझीदार अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से ज़िम्मेदार और देनदार ठहराया

जाता है, और इस के लिए उस की सारी निजी संपत्ति क़ानूनन काम में लाई जा सकती है। पर अब अमरीका आदि देशों में परिमित दायित्व की साझेदारी प्रणाली भी चलने लगी है जिस में प्रत्येक साझीदार केवल कुछ निश्चित रक़म के लिए ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

साझेदारी से अनेक लाभ होते हैं। योग्यता, कुशलता-क्षमता के अनुसार कारबार का प्रत्येक विभाग एक-एक साझीदार के ज़िम्मे कर दिया जाता है, जिस से काम ठीक से हो। जैसे एक व्यक्ति कारख़ाने के अंदरूनी प्रबंध का ज़िम्मा लेता है। दूसरा, कच्चा माल, मशीन आदि ख़रीदने का भार लेता है। तीसरा, तैयार माल की बिक्री का काम सँभालता है। साझेदारी के कारण एक व्यक्ति जो केवल पूँजी लगा सकता है, पूँजी लगाता है, दूसरा अपनी योग्यता से नियंत्रण और संचालन करता है, तीसरा प्रबंध करता है। यदि ये तीनों एक साथ न रहते तो कोई काम न कर सकते क्योंकि जिस के पास पूँजी है वह नियंत्रण न कर सकता, नियंत्रण कर सकने वाला पूँजी न लगा सकता और इस प्रकार उन में से कोई भी बिना दूसरे की मदद के कोई काम न चला सकता। साझेदारी के कारण विभिन्न शक्तियां एक साथ मिल कर काम करने लगती हैं। अनेक व्यक्तियों के कारण कारबार की साख ज़्यादा रहती है, इस कारण क़र्ज़ और पूँजी ज़्यादा और साथ ही सहूलियत से मिल सकती है।

साझेदारी में दोष यह है कि यदि साझेदारों में सद्भाव, विश्वास और एका न रहा तो आपस के वैर-विरोध ही में उन की सारी शक्ति क्षय होती है और कारबार नष्ट हो जाता है। दूसरे, अपरिमित दायित्व रहने से एक के दोष से सभी को भारी से भारी हानि उठाने का भय रहता है।

मिश्रित पूँजी की कंपनियां

साझेदारी के दोषों को दूर करके बड़ी पूँजीवाले व्यवसाय चलाने की ग़रज़ से मिश्रित पूँजी की कंपनियों का प्रादुर्भाव हुआ। जब किसी बड़े व्यवसाय के लिए बड़ी पूँजी की ज़रूरत होती है तो उस पूँजी के बहुत से छोटे-छोटे भाग कर

दिए जाते हैं जिन्हें हिस्सा या शेयर कहते हैं और जो एक या अधिक तादाद में अनेक व्यक्तियों द्वारा ख़रीद लिए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को (जिस ने एक या अधिक हिस्सा ख़रीदा हो) हिस्सेदार या शेयर-होल्डर कहते हैं। ये ही सब हिस्सेदार उस कंपनी के मालिक और साझीदार होते हैं और कारबार का सारा जोखिम उठाते हैं, हानि-लाभ के ज़िम्मेदार रहते हैं। पर कारबार के नियंत्रण, संचालन और निरीक्षण में वे सीधे तौर पर—प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते। काम चलाने के लिए वे संचालक-समिति को चुनते हैं। यह समिति कारबार की व्यवस्था और उस का संचालन और मुख्य रीति-नीति निर्धारित करती है। समिति द्वारा एक प्रधान संचालक चुना जाता है जो व्यवस्था की पूरी ज़िम्मेदारी लेता है और संचालक समिति की व्यवस्था करता है। प्रधान संचालक या संचालक-समिति प्रबंध के लिए वेतन पर एक अथवा अधिक प्रबंधक नियुक्त करती है। वेतन-भोगी प्रबंधक विस्तृत प्रबंध, नियंत्रण, संचालन, निरीक्षण आदि के ज़िम्मेदार होते हैं। क़ानून की नज़रों में संचालक और प्रबंधक कंपनी के नौकर माने जाते हैं।

हिस्सेदारों की देनदारी परिमित होती है। हिस्सों को दूसरों के हाथों बेचने या दे सकने का क़ानूनी हक़ रहता है। हिस्से छोटे मूल्य के और विभिन्न प्रकार के होते हैं, और कारबार की व्यवस्था वेतन-भोगी संचालकों और प्रबंधकों के द्वारा होती है। इन सब कारणों से मिश्रित पूँजी की कंपनी से उद्योग-व्यवसाय में एक ऐसी जान आ गई है और बड़े से बड़े पैमाने पर बड़े से बड़े पूँजीवाले व्यवसायों के लिए आसानी से पूँजी इकट्ठी करके कारबार चला लेना इतना सुगम हो गया है कि एकाकी प्रणाली और साझेदारी के समय में उस का ख़याल भी नहीं किया जा सकता था।

कंपनी व्यवस्था से लाभ

परिमित देनदारी होने से हिस्सेदारों का जोखिम बहुत कम हो गया है। इस से बहुत से व्यक्ति जो अपरिमित देनदारी के भय से उद्योग-व्यवसाय से दूर रहना चाहते थे अब आसानी से उस में भाग ले सकते हैं। परिमित

देनदारी के कारण अब उन्हें केवल उतने ही रुपए की ज़िम्मेदारी लेनी पड़ती है जितने के उन्हों ने हिस्से ख़रीदे हों। उन की बाक़ी सब संपत्ति सुरक्षित रहती है। उसे कोई छू नहीं सकता। यदि किसी ने सौ रुपए के हिस्से ख़रीदे हैं तो उस से केवल सौ रुपए वसूल किए जा सकते हैं। यदि उस ने हिस्से ख़रीदते वक्त पूरे १०० रुपए दे दिए हैं तो बाद में उस से फिर कुछ भी नहीं लिया जा सकता। यदि उस ने १०० रुपए के हिस्से ख़रीदे हैं पर दिए हैं केवल ५० रुपए ही, तो ज़रूरत पड़ने पर उस से केवल बाक़ी ५० रुपए ही और वसूल किए जा सकते हैं। दूसरे, हिस्सों के छोटे-छोटे होने और हिस्से के रुपयों की वसूली एकमुश्त न होकर प्रायः क़िस्तों में होने से सभी छोटे-बड़ों को उन के ख़रीदने में और कारबार के लिए पूँजी लगाने में सहूलियत होती है। इस कारण जो रुपया वैसे उद्योग-व्यवसाय में नहीं लग सकता था वह भी आसानी से पूँजी बन कर काम में आ जाता है। तीसरे, हिस्सों के हस्तांतरित करने के हक़ के कारण लोगों को आसानी से किसी कंपनी के हिस्सों में लगे हुए रुपए को, हिस्से बेंच कर निकालने या दूसरे कारबार में लगाने की सहूलियत रहती है। इस से पूँजी प्राप्त करने में बड़ी आसानी हो गई है। एकाकी या साझेदारी प्रणालियों में यह सब सहूलियतें नहीं हैं। कंपनी व्यवस्था प्रायः उन उद्योगों और व्यवसायों के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है जिन में नई-नई योजनाओं का परीक्षण करना पड़ता है या जो बहुत ही जोखिम की होती हैं, क्योंकि हिस्सों के छोटे-छोटे और परिमित देनदारी के होने के कारण यह सब जोखिम उठाया जा सकता है और हानि होने पर वह अनेक व्यक्तियों में बँट कर कम हो जाता है, और यदि लाभ हुआ तो हिस्सेदारों के साथ ही सारे समाज का भला होता है। एकाकी प्रणाली तथा साझेदारी का कारबार एक अथवा दो व्यक्तियों की योग्यता, कुशलता आदि पर निर्भर रहता है। अस्तु, उन के जीवन, या काम करते रहने के काल तक ही वह कारबार ठीक से चल सकता है। इस कारण उस में उतना स्थायित्व नहीं

होता जितना कि कंपनी के काम में होता है। क्योंकि, कंपनी अधिक से अधिक वेतन देकर अच्छे से अच्छा व्यक्ति अपने काम के लिए रख सकती है, और आवश्यकता पड़ने पर उस के स्थान पर दूसरे की नियुक्ति कर सकती है। इस कारण कंपनी के काम में अधिक स्थिरता और मज़बूती रहती है। कंपनी को योग्य और विशेषज्ञ कार्यकर्ताओं और सलाहकारों से लाभ उठाने का बहुत अधिक मौक़ा रहता है। इस कारण विशेष योग्यता, क्षमता, कुशलता और व्यवसाय बुद्धिवाले ऐसे भी व्यक्ति, जिन के पास व्यवसाय चलाने को कुछ भी पूँजी नहीं है, कंपनी के कारण बड़े से बड़ा लाभ ख़ुद भी उठा सकते हैं और कंपनी तथा समाज को भी अपनी विशेष क्षमता से लाभ पहुँचा सकते हैं। यदि कंपनी-व्यवस्था न हो तो ऐसे व्यक्ति न तो ख़ुद उतना लाभ उठा सकें और न समाज का कुछ भला कर सकें। कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जो बिना कंपनी-व्यवस्था द्वारा बड़ी पूँजी इकट्ठा किए चलाए ही नहीं जा सकते, क्योंकि चाहे कोई कितना ही धनी क्यों न हो, एक अकेला उस व्यवसाय में न तो कुल पूँजी लगा कर व्यवसाय चला सकता और न उतना बड़ा जोखिम ही उठा सकता है। रेल, जहाज़, कंपनी आदि ऐसे ही व्यवसाय हैं जो कंपनी-व्यवस्था द्वारा ही चलाए जा सकते हैं। कंपनी-व्यवस्था से समाज को वे सभी लाभ भी होते हैं जो श्रम-विभाग, मशीनों के प्रयोग तथा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होते हैं।

कंपनी व्यवस्था से हानियां

कंपनी-व्यवस्था से समाज को हानियां भी होती हैं। हिस्सेदारों की देनदारी परिमित होने के कारण कभी-कभी कंपनी बिना समझे-बूझे बहुत ही जोखिम और हानि के काम कर डालती है। हिस्सों के हस्तांतरित हो सकने के कारण हिस्सेदारों में आपसी मेल, सहयोग या अपनापन नहीं रहता और न वक़्त पड़ने पर वे एक-दूसरे की मदद करने और साथ देने के लिए तैयार रहते हैं। कारबार बिगड़ने पर हिस्सों की दर गिरने के पहले ही

समझदार हिस्सेदार अपने-अपने हिस्से बेंच कर अलग हो जाते हैं और सीधे-सादे हिस्सेदारों को सारा नुक़सान सहन पड़ता है। संचालक भी अनेक चालों से हिस्सों के दाम ऊँचे-नीचे करके सीधे-सादे हिस्सेदारों को ठगते और हानि पहुँचाते हैं। कंपनी का काम हिस्सेदारों, संचालकों और वेतन-भोगी प्रबंधकों में बँटा होने के कारण तथा सारा जोखिम उठाने वाले और पूँजी लगानेवाले मुख्य मालिक हिस्सेदारों को कारबार का विशेष ज्ञान और अनुभव न रहने के कारण कोई भी अपने उत्तरदायित्व का ठीक से विचार नहीं रखता। इस से कारबार में बड़ा धक्का लगता है। कंपनी-व्यवस्था में असली मालिक (हिस्सेदारों) और मज़दूरों में कोई निजी संपर्क न रहने से मज़दूरों की शिकायतों और आराम-तकलीफ़ का वैसा कुछ ख़याल नहीं रक्खा जाता। हिस्सेदारों को अपने मुनाफ़े से सरोकार रहता है। इस से श्रम और पूँजी का संघर्ष और विरोध बढ़ रहा है। इस के अलावा, बड़ी कंपनी सरकारी अफ़सरों को मिला कर अनेक अनुचित और जनता के हित के विरोधी काम और क़ानून पास करा लेती हैं। इस से नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में बड़े बखेड़े खड़े हो जाते हैं। रिश्वत और अनुचित दबाव का बोलबाला हो जाता है। फिर कंपनी अपनी व्यवस्था के और बड़ी पूँजी के कारण अनेक प्रतिद्वंद्वियों को उचित-अनुचित उपायों तथा प्रतियोगिता द्वारा उत्पादन और बिक्री आदि के क्षेत्रों से हटा कर उस वस्तु का एकाधिकार प्राप्त कर लेती है, और तब किसी प्रतिद्वंद्वी के न रह जाने पर मनमाने दाम बढ़ा कर तथा घटिया माल देकर जनता को हानि पहुँचाती है।

उद्योग-व्यवसाय में कंपनी-व्यवस्था द्वारा इतनी अधिक उन्नति हुई है और समाज को इतना अधिक लाभ पहुँचा है कि ऊपर की हानियों को देखते हुए भी आज का संसार उसे छोड़ नहीं सकता। अस्तु, सरकारी क़ानून और सामाजिक नियंत्रण द्वारा कंपनी-व्यवस्था की त्रुटियां दूर करके उस के द्वारा कंपनी के हिस्सेदारों और साथ ही समाज का अधिक

से अधिक हित किया जाना ज़रूरी है।

कंपनी व्यवस्था की त्रुटियों और हानियों से (१) मज़दूरों और उपभोक्ताओं को सहयोग द्वारा अपने हितों की रक्षा करने और (२) सरकार द्वारा उद्योग-व्यवसाय की व्यवस्था का नियंत्रण किए जाने के लिए ज़ोरों से प्रोत्साहन मिला है।

सहकारिता

कंपनी-व्यवस्था (और एकाकी प्रणाली, साझेदारी) के द्वारा श्रमियों, छोटी मात्रा के उत्पादकों, उपभोक्ताओं, क़र्ज़ लेनेवालों आदि पर अनेक प्रकार से अन्याय किया जाता है। क्योंकि बड़ी कंपनियों की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने पर (१) श्रमियों को अनुचित रूप से कम मज़दूरी देकर और काम ज़्यादा लेकर, (२) छोटी मात्रा के उत्पादकों को प्रतियोगिता द्वारा हरा कर उत्पादन क्षेत्र से हटाकर, (३) उपभोक्ताओं को वस्तु के दाम बढ़ा कर और घटिया माल देकर, (४) क़र्ज़ लेनेवालों को अधिक सूद लगा कर, कंपनी-व्यवस्था के कारण मनमाने ढंग पर चूसा जाता है। इन ग़रीब, कमज़ोर और पीड़ित वर्गों के व्यक्तियों ने अपनी रक्षा के लिए एक साथ मिल कर सहकारिता से काम करके शक्तिशाली बनने और कंपनियों आदि के मुक़ाबले में सफल होने का उपाय निकाला है। सहकारिता का मुख्य गुर है कमज़ोरों और ग़रीबों का एक साथ संगठित होकर ख़ुद काम करना। कार्यों के अनुसार सहकारिता के तीन मुख्य भेद हैं— १) उत्पादकों की सहकारिता; (२) उपभोक्ताओं की सहकारिता अथवा सहकारी-ख़रीद; और (३) सहकारी साख या सहकारी महाजनी।

सहकारी उत्पादकता से लाभ

इन में से उत्पादकों की सहकारिता ही अधिक महत्वपूर्ण है और अधिक सफल हो सकी है, इस कारण उसी का यहां वर्णन किया जायगा। इस में श्रमी ही व्यवस्था करते और जोखिम उठाते हैं। इस प्रकार वे ख़ुद मालिक और नौकर दोनों रहते हैं। इस से पूँजी और श्रम का हित-विरोध दूर हो जाता

है, क्योंकि साहसी और श्रमी दोनों ही का कार्य ख़ुद श्रमी ही करते हैं। इस के लिए रोज़ के काम के लिए मिलनेवाली मज़दूरी के अलावा व्यवसाय में लाभ होने पर उन्हें नफ़ा भी मिलता है। यदि मज़दूर ख़ुद अपनी निजी पूँजी नहीं लगा सकते तो सूद पर उधार लेकर व्यवसाय चलाते हैं। वे ही अपने निरीक्षक और प्रबंधक चुनते या नियुक्त करते हैं और व्यवसाय की रीति-नीति निर्धारित करते हैं।

इस पद्धति से अनेक लाभ हैं:—

(१) मज़दूर ख़ुद मालिक होते हैं, इस लिए वे अधिक सावधानी तथा मेहनत से और ख़ूब मन लगा कर काम करते हैं। इस से निरीक्षण कम करना पड़ता है। वे मशीनों, औज़ारों आदि को अधिक अच्छी तरह से रखते और काम में लाते हैं, कच्चे और तैयार माल में व्यर्थ क्षय-छीज बचाते हैं। इन सब कारणों से बहुत बचत होती है।

(२) श्रम और पूँजी के हित-विरोध के दूर हो जाने के कारण हड़ताल या द्वारावरोध की नौबत नहीं आती। इस से श्रमियों को लगातार और अधिक अच्छी परिस्थितियों में काम करने के मौक़े मिलते हैं।

(३) श्रमी ख़ुद जोखिम उठाते हैं, इस से वे इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि सभी छोटे-बड़े काम और प्रबंध ईमानदारी और योग्यता से हो रहे हैं या नहीं। इस से उत्पादन बहुत सस्ता और ठीक होता है और कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है।

(४) मज़दूरी के अलावा उन्हें मुनाफ़ा भी मिलता है। समाज में सम-वितरण होता है क्योंकि एक ही व्यक्ति या समूह के पास अधिक पूँजी जमा नहीं होने पाती।

सहकारी उत्पादकता से हानियां

सहकारी उत्पादन से अनेक हानियां भी होती हैं, जिन का यहां वर्णन किया जाता है। मज़दूर ही मालिक होते हैं इस से अपने निरीक्षकों और प्रबंधक के कामों में बिना ठीक से जाने समझे या बिला ज़रूरत दख़ल देते और उन के कामों

की आलोचना करते हैं; और नियत्रण को भंग करते रहते हैं। इस से कार्य-क्षमता कम हो जाती है।

(२) अच्छे प्रबंधक इस लिए कम मिलते हैं कि श्रमी मालिक उन्हें उचित वेतन देने के लिए तैयार नहीं रहते, क्योंकि वे उन की कार्यक्षमता के महत्व को उतना नहीं समझते।

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी सहकारी उत्पादकता का भविष्य बहुत अच्छा देख पड़ता है, क्योंकि आज दिन संसार के भिन्न-भिन्न देशों में सहकारिता के सिद्धांतों और उन से होनेवाले लाभों का अधिकाधिक प्रचार हो रहा है।

उद्योगवाद के वर्तमान युग में उद्योगधंधों में पूँजी लगानेवालों और लगवानेवालों का एक अलग वर्ग ही पैदा हो गया है, जिस का काम ही यह है कि इस बात की खोज करता रहे कि कब, कहां, कितना, कौन-सा उद्योग-धंधा, किस पैमाने पर चलाया जाना लाभदायक होगा और किस में कितनी पूँजी लगाई जाय। इस काम में वे इतने कुशल, दक्ष और विशेषज्ञ होते हैं कि जनता और सरकार सभी उन से इस संबंध में सलाह लेती है, और औद्योगिक, व्यावसायिक, तथा व्यापारिक व्यवस्थाएं उन्हीं के नियत्रण में रहती हैं।

अध्याय २०

एकाधिकार

जब किसी वस्तु की उत्पत्ति या बिक्री (या खरीद) का पूरा अधिकार किसी एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा कंपनी के हाथ में आ जाता है तो उसे एकाधिकार प्रणाली अथवा एकाधिकार कहते हैं। एकाधिकार में मुख्य विशेषताएं हैं --- (१) प्रतियोगिता का अभाव; (२) क़ीमत का (और पूर्ति का) नियंत्रण; और (३) कार्य तथा प्रबंध, और व्यवस्था का ऐक्य। जब किसी उद्योग-धंधे में उत्पादन या क्रय-विक्रय का कुल अधिकार केवल एक ही व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा कंपनी के हाथों में रहे और कुछ भी प्रतियोगिता न हो तो उसे 'पूर्ण एकाधिकार' कहते हैं। जब थोड़ी बहुत प्रतियोगिता चलती रहे और उत्पादन या क्रय-विक्रय के संपूर्ण क्षेत्र पर एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह, कंपनी का काफ़ी अधिकार तो रहे पर पूरी तरह से कुल अधिकार न रहे तो उसे 'आंशिक एकाधिकार' कहते हैं।

पूर्ण तथा आंशिक एकाधिकार

मूल कारण क्षेत्र, स्वामित्व आदि भिन्न-भिन्न आधारों तथा दृष्टियों के कारण एकाधिकार के भिन्न-भिन्न भेद होते हैं, जिन का वर्णन यहां दिया जाता है :—

एकाधिकार के भेद

पहला वर्गीकरण मूल कारण की दृष्टि से किया जाता है। इस के चार उपभेद होते हैं—(अ) प्राकृतिक, (आ) सामाजिक, (इ) क़ानूनी, (ई) स्वेच्छिक एकाधिकार। जब कोई प्राकृतिक पदार्थ परिमित मात्रा में पाया जाता है और उस के उद्गम स्थान पर किसी का क़ब्ज़ा हो जाने कारण एकाधिकार प्राप्त होता है तो उसे 'प्राकृतिक एकाधिकार' कहते हैं, जैसे सोने वा कोयले की खानों पर एकाधिकार। अनेक सामाजिक, आर्थिक

कारणों से जो एकाधिकार प्राप्त होता है उसे सामाजिक एकाधिकार कहते हैं, जैसे किसी एक स्थान पर जल, बिजली आदि का एकाधिकार (क्योंकि एकाधिकार में उत्पादन आदि होने से उस में सुविधा और बचत होती है।) पेटेंट, कापीराइट आदि के द्वारा क़ानूनन जो एकाधिकार प्राप्त हो जाता है उसे 'क़ानूनी एकाधिकार' कहते हैं। जब अपनी रक्षा, अपने अधिक लाभ आदि की बातें सोच कर कुछ प्रतिद्वंद्वी व्यवसायी-व्यापारी आपस में मिल कर अपने काम को एक साथ करने का प्रबंध कर लेते हैं और उस से उन्हें एकाधिकार प्राप्त होता है, तब उसे 'स्वेच्छिक एकाधिकार' कहते हैं।

दूसरा वर्गीकरण स्थान या क्षेत्र की दृष्टि से किया जाता है। (अ) जब किसी उद्योग-व्यवसाय पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है जो केवल एक ख़ास स्थान या नगर ही तक सीमित हो तो उसे 'स्थानीय एकाधिकार' कहते हैं। (आ) यदि एक राष्ट्र या देश भर में एकाधिकार का स्वत्व हो उसे 'राष्ट्रीय एकाधिकार' कहेंगे; और (इ) यदि अनेक देशों या राष्ट्रों तक वह एकाधिकार चल सके तो उसे 'अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकार' कहते हैं।

तीसरा वर्गीकरण स्वामित्व की दृष्टि से किया जाता है। (अ) जब किसी एकाधिकार का मालिक या प्रबंधक कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होता है, तो उसे 'व्यक्तिगत एकाधिकार' कहते हैं। (आ) जब किसी एकाधिकार का मालिक या प्रबंधक किसी देश की सरकार या म्युनिसिपैलिटी आदि सरकारी, अर्ध-सरकारी या सार्वजनिक संस्था होती है तो इसे 'सार्वजनिक एकाधिकार' कहते हैं। (इ) जब किसी एकाधिकार का मालिक तो कोई सरकार या सार्वजनिक संस्था हो पर उस का प्रबंध हो किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथों में हो तो उसे 'अर्ध-सार्वजनिक एकाधिकार' कहते हैं।

औद्योगिक सम्मिलन

अनेक औद्योगिक प्रतिद्वंद्वियों में से कोई एक किसी एक या अनेक कारणों से अधिक शक्तिशाली होता जाता है और अपने प्रतिद्वंद्वियों को प्रतियोगिता में नीचा दिखा

कर उन के कारबार को ख़रीद कर या उन के मालिकों को किसी न किसी तरह से राज़ी कर के अपने में मिला लेता है। कभी-कभी सब या अधिकांश प्रतिद्वंद्वी प्रतियोगिता की बुराइयों से घबरा कर आपस में मिल जाते हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता दूर हो जाती है और उस उद्योग धंधे की व्यवस्था तथा प्रबंध आदि एक साथ होने लगते हैं। इस प्रकार आंशिक अथवा पूर्ण एकाधिकार स्थापित हो जाता है। ट्रस्ट, कार्टेल, पूल आदि इसी तरह के एकाधिकार पूर्ण औद्योगिक सम्मिलन हैं। ट्रस्ट में जो भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधे मिलते हैं उन का अपना अलग व्यक्तित्व नहीं रह जाता, वे सब मिल कर पूरी तरह से एक हो जाते हैं, और मिल कर बनी हुई उस एक संस्था की व्यवस्था और प्रबंध समष्टि रूप से एक ही होता है।

ट्रस्ट और कार्टेल

कार्टेल में जो उद्योग-धंधे मिलते हैं उन का अपना व्यक्तित्व बहुत कुछ अलग-अलग बना रहता है और प्रत्येक विभिन्न संस्था को काम की भी बहुत कुछ स्वतंत्रता रहती है। कार्टेल में सम्मिलित होनेवाली प्रत्येक संस्था स्वतंत्र रूप से अलग बनी रहती है, और कुछ ख़ास बातों के लिए ही सब मिल कर समझौता करती तथा संघ बनाती हैं; जैसे वस्तुओं की क़ीमत क्या होगी, उत्पत्ति किस परिमाण में की जायगी आदि आदि के निर्णय के लिए सम्मिलित व्यवस्था रहती है। इस प्रकार ट्रस्ट में प्रबंध की एकता और नियंत्रण पूरे रहते हैं, इस लिए स्थिरता और दृढ़ता अधिक होती है। पर कार्टेल में जो भिन्न-भिन्न संस्थाएं सम्मिलित होती हैं उन सब का प्रबंध न तो एक रहता है न उन पर पूरा नियंत्रण ही होता है, और प्रत्येक संस्था के लिए मुनाफ़े की कोई एक दर भी निश्चित नहीं की जाती। इस कारण कार्टेल के संगठन में शिथिलता रहती है और स्थायित्व कम होता है।

ट्रस्ट में सम्मिलित विभिन्न संस्थाओं के हिस्सेदार अपनी-अपनी संस्था के हिस्सों के एवज़ में ट्रस्ट के हिस्से ख़रीद लेते हैं। इस प्रकार कुल संस्थाओं के मेल से एक ट्रस्ट बन जाता है, जिस के मालिक हिस्सेदार होते हैं और

प्रबंध और व्यवस्था एक हो जाती है और एक रीति-नीति से काम चलाया जाता है। इस से प्रतियोगिता दूर हो जाती है।

होल्डिंग कंपनी

होल्डिंग कंपनी ऐसे प्रोमोटर्स या हिस्सेदारों की एक संस्था होती है जो उसी तरह की अन्य संस्थाओं या कंपनियों के अधिकांश हिस्से या स्टाक ख़रीद लेते हैं, जिस से उन कंपनियों के संचालन की शक्ति उन के हाथ में आ जाती है। इस प्रकार 'होल्डिंग कंपनी' और 'ट्रस्ट' में प्रायः सभी बातें एक-सी रहती हैं, केवल ऊपर के दिखावे के लिए होल्डिंग कंपनी में सम्मिलित कंपनियों या संस्थाओं का अस्तित्व अलग-अलग रहता है और प्रत्येक संस्था के हिस्से अलग-अलग रहते हैं। रीति-नीति स्थिर करने और व्यवस्था करनेवाले तो वही कुछ थोड़े से व्यक्ति रहते हैं जो उन विभिन्न संस्थाओं के हिस्से ख़रीदे रहते हैं।

मर्जर

जब कोई एक बड़ी कंपनी अन्य अनेक कंपनियों को ख़रीद कर अपने में पूरी तरह से मिला कर हज़म कर लेती है तो इस सम्मिलन को 'मर्जर' कहते हैं। इस में अन्य किसी भी कंपनी या संस्था का अलग अस्तित्व बिल्कुल नहीं रह जाता।

साधारण समझौता

आपस की प्रतियोगिता की हानियों से बचने के लिए व्यवसायी आपस में मिल कर बिक्री से संबंध रखनेवाली बातों और एक बँधी क़ीमत आदि के संबंध में कुछ समय के लिए समझौता कर लेते हैं और उसी के अनुसार कारबार चलाने का प्रयत्न करते हैं। इसे 'साधारण समझौता' कहते हैं। इस में प्रत्येक कंपनी, संस्थाएं आदि बिल्कुल अलग और स्वतंत्र रहती हैं और मनमाने ढंग से अपना प्रबंध और उत्पादन करती हैं। इस से एक क़ीमत तय हो जाने पर भी उसी पर सब संस्थाएं क़ायम नहीं रह सकतीं, क्योंकि उत्पादन पर नियंत्रण न होने से प्रत्येक संस्था इतना पैदा करती है कि सब उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि वह सब का सब माल मिल कर बाज़ार में खप नहीं सकता, इस से क़ीमत में भी कमी करनी पड़ती है और इस

प्रकार समझौता टूट जाता है। इस प्रकार 'साधारण समझौता' अधिक दिन चलनेवाला नहीं होता।

सम्मिलित संघ

इस दोष को दूर करने के लिए 'सम्मिलित - संघ' की योजना की गई है। इस संघ में उन कारणों पर नियंत्रण रक्खा जाता है जो क़ीमत को तय करने वाले होते हैं। प्रतियोगिता दूर करने के अनेक उपाय होने के कारण सम्मिलित-संघ भी अनेक प्रकार के होते हैं जिन का वर्णन आगे दिया जाता है:—(१) उत्पादन-परिमाण-संघ। इस में यह निर्धारित कर दिया जाता है कि प्रत्येक कंपनी या संस्था कितना उत्पादन करेगी और इसी का समझौता रहता है। (२) विक्रय-क्षेत्र-निर्धारकसंघ। इस में यह तय कर दिया जाता है कि कौन कंपनी कहां अपना माल बेंचेगी। एक दूसरे के क्षेत्र में कोई दूसरा हस्तक्षेप नहीं कर सकता। (३) लाभ-निर्धारक संघ। इस में सब कंपनियां या संस्थाएं अपना-अपना 'असल मुनाफ़ा' एक केंद्रीय संस्था में जमा कर देती हैं और फिर पूर्व-निश्चित ढंग पर उस का बँटवारा होता है।

प्रत्येक दशा में विभिन्न कंपनियां या संस्थाएं आपस में नहीं मिलतीं। मिल कर साथ काम करने के लिए कुछ ख़ास बातें ज़रूरी हैं। प्रायः नीचे लिखी दशाओं में कंपनियों का मिलन आसान होता है:—

(१) जब प्रतिद्वंद्वियों की संख्या कम होती है; (२) और वे नज़दीक होते हैं जिस से वे आपस में मिल कर सलाह कर के निश्चय कर सकें; (३) जब उत्पन्न वस्तु एक-सी हो जिस से अधिक मात्रा में उस की उत्पत्ति, आसानी और कम ख़र्च में की जा सके; (४) जब देश में एक साथ काम करने की प्रवृत्ति हो और स्थिति, आचार-व्यवहार, मत आदि बीच में बाधक न हों; (५) जब उस उद्योग-धंधे के लिए बड़ी पूँजी की ज़रूरत हो जिस से छोटे-छोटे उत्पादक पूँजी की कठिनाई अनुभव करके मिलने को उत्सुक हों; और (६) जब सरकारी संरक्षण नीति के कारण एक साथ मिल कर काम करने में अधिक सुभीता देख पड़े।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति, व्यवस्था, प्रबंध और बड़ी पूँजी से होनेवाली अनेक तरह की बचत, सुविधा और लाभ तथा एकाधिकार द्वारा होनेवाला अधिक से अधिक लाभ—यह एकाधिकार के मूल कारण होते हैं।

एकाधिकार के कारण

एकाधिकार से होनेवाले लाभों की सूची लंबी है। कच्चे माल मशीन औज़ार आदि की ख़रीद में तैयार माल की बिक्री में ढुलाई के लिए रेल, जहाज़ भाड़ा आदि में; विज्ञापन कनवेसिंग कमीशन आदि में; पूँजी लेने और सूद की दर में; अनुसंधान, प्रयोग आदि में बचत, सुविधा और कमी होती है और उत्पादन में प्रति इकाई कम ख़र्च पड़ता है। ग्राहकों को अधिक सस्ता और अधिक अच्छा माल और उस के अनेक प्रकार और उन सब के संबंध में सुविधाएं दी जा सकती हैं। देशी विदेशी बाज़ारों को अधिक आसानी से हथिया लेने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। दूकानदारों और बेचने वालों को अधिक माल, अनेक तर्ज़ के माल, अधिक संख्या में सस्ते और सुभीते से दे सकने और अधिक समय तक के लिए क़र्ज़, और नाना प्रकार की सुविधाएं दे सकने की शक्ति आ जाती है। सरकार, रेलवे, जहाज़ आदि की कंपनियों और व्यापारियों से अनेक तरह की सुविधाएं आसानी से प्राप्त की जाती हैं। बाज़ार को देख कर माँग के अनुसार उत्पत्ति की जाती है ताकि अधिक माल पड़ा न रहे और बाज़ार न बिगड़े। माल की खपत की अनिश्चितता कम हो जाने से व्यवसाय और काम में स्थिरता अधिक रहती है। रिज़र्व फ़ंड आदि कम रखना पड़ता है क्योंकि लाभ क़रीब-क़रीब बराबर एक-सा होता रहता है। इस कारण रिज़र्व फ़ंड की वैसी ज़्यादा ज़रूरत नहीं पड़ती। प्रतिद्वंद्विता से होनेवाली सभी हानियां दूर हो जाती हैं। इस कारण जनता और उत्पादक दोनों को ही एकाधिकार से बहुत लाभ होते हुए देखे गए हैं।

एकाधिकार से लाभ

किंतु एकाधिकार से केवल लाभ ही लाभ नहीं होते। उस से कुछ

हानियां

हानियां भी होती है जिन का यहां वर्णन किया जाता है। (१) एकाधिकार होने पर प्रतिद्वंद्वी न तो रहने दिए जाते हैं न उन को क्षेत्र में आने का मौक़ा ही दिया जाता है, इस से उस व्यवसाय में कोई नया व्यक्ति नहीं आ सकता। (२) अस्तु, वस्तु का दाम बढ़ा कर उपभोक्ताओं से मनमाना नफ़ा लिया जाता है। (३) दूकानदारों को अनुचित रूप से दूसरों के माल को बेचने से रोका जाता है। (४) व्यापारियों, रेल, जहाज़ आदि की कंपनियों को दबा कर रियायती और बहुत सस्ते दर पर माल लिया जाता है, और ढुलाई आदि कराई जाती है, और सरकारी कर्मचारियों को मिला कर, दबा कर या रिश्वत आदि देकर मनमाने क़ानून बनवा लिए जाते हैं और इस प्रकार समाज में अनीति फैलाई जाती है।

सरकार द्वारा क़ानून बना कर एकाधिकार का नियंत्रण करने की चेष्टा की जाती है, पर वह अभी तक इस कार्य में वैसी सफल नहीं हुई है। सरकार द्वारा नियंत्रण दो तरह से किया जाता है—(१) वस्तु या सेवा की एक क़ीमत निर्धारित करके; और (२) एकाधिकार विरोधी क़ानून बना कर एकाधिकार होने में रुकावटें डाल कर। पर अभी तक सरकार को इन दोनों बातों में असफलता रही है। इस कारण कुछ लोगों का मत है कि सरकार को उत्पादन-कार्य अपने हाथों में लेना चाहिए।

अध्याय २१

सरकार और धनोत्पादन

अर्थशास्त्र में यह मान लिया जाता है कि समाज सुसंगठित है और शांति तथा रक्षा और सुव्यवस्था के लिए सरकार स्थापित है। सरकार (१) नियंत्रण करके, (२) सहायता देकर, और (३) स्वयं उत्पत्ति करके देश के उत्पादन-कार्य में भाग ले सकती है।

नियंत्रण

सरकार देश के धनोत्पादन में तभी नियंत्रण करती है जब देश में निजी तौर पर व्यक्ति और व्यक्ति-समूह धनोत्पत्ति तो काफ़ी करते हैं पर उन के कुछ कार्यों से समाज या उस के किसी भाग को हानि पहुँचती है। इस के लिए सरकार तरह-तरह के क़ानून बना कर हानिकर कार्यों को रोकती है, जैसे, काम के घंटों को और काम के बीच के अवकाश-समय को निर्धारित करना; कल-कारख़ानों की स्वास्थ्य-संबंधी स्थिति तथा मशीनों से रक्षा आदि के संबंध में विशेष नियम बनाना; कंपनी, बैंक आदि के संबंध में ऐसे नियम बनाना जिस से हिसाब-किताब ठीक रहे और जनता धोखे या फ़रेब में न फँसे; एकाधिकार की हानियों को दूर करने के लिए नियम बनाना, आदि।

सहायता

सरकार उत्पत्ति में दो तरह से सहायता दे सकती है: (१) परोक्ष रूप से, और (२) प्रत्यक्ष रूप से। किसी उद्योग-धंधे को प्रारंभ करने में लोगों को हानि या अड़चनों की आशंका होती है। यदि सरकार उन उद्योग-धंधों को देश के लिए हित-कर समझती है तो वह (१) उस में होनेवाले न्यूनतम लाभ का ज़िम्मा ले लेती है। यानी यदि उस व्यवसाय में पूर्व-निश्चित बँधा मुनाफ़ा न

हुआ तो जो कमी पड़ती है उसे सरकार अपने ख़जाने से पूरा कर देने का ज़िम्मा ले लेती है। (२) उस व्यवसाय में लगने वाली पूँजी के सूद का ज़िम्मा ले लेती है। (३) उत्पत्ति, परिमाण अथवा निर्यात की प्रति इकाई पीछे एक निश्चित रक़म सहायता के रूप में देने का ज़िम्मा लेती है। (४) उस व्यवसाय में लगाने के लिए प्रचलित सूद की बाज़ार दर से कम दर पर रुपया सरकारी ख़जाने से उधार देती है। (५) अथवा उस व्यवसाय में होनेवाले व्यय का एक हिस्सा अपने ज़िम्मे ले लेती है। (६) उस व्यवसाय के लिए एकमुश्त या बँधी क़िस्तों में कुछ रक़म देती है जो फिर कभी वापस नहीं ली जाती। (७) कुछ मशीनें, औज़ार आदि सस्ते किराए पर उत्पादकों को दे देती है और नियम से किराया मिलने पर कुछ बँधे समय के बाद उत्पादकों को सदा के लिए उन मशीनों आदि को दे देती है। (८) अपने विशेषज्ञों आदि के द्वारा उत्पादकों को सलाह-मशविरा दिलाती, खोज, अनुसंधान, प्रयोग करा कर उत्पादन में सहायता देती है, और उत्पन्न वस्तुओं का जनता में प्रचार कराती है। ये सभी प्रत्यक्ष सहायता के ढंग हैं।

सरकार (१) पेटेंट, कापीराइट आदि के नियम मंज़ूर करके एकाधिकार, या विशेष सुविधाएं आदि देकर, और (२) संरक्षण नीति द्वारा परोक्ष रूप से उद्योग-धंधों और वाणिज्य-व्यवसाय में सहायता करती है।

सरकार द्वारा उत्पत्ति

कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो यदि केंद्रीभूत व्यवस्था और प्रबंध द्वारा बड़ी मात्रा में किए जायँ तो उन में बहुत मितव्यय होता है और वस्तु अधिक अच्छी तैयार होती है। ऐसे काम एकाधिकार द्वारा अधिक अच्छे और बहुत ही सस्ते में हो सकते हैं। पर यदि किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को एकाधिकार दिया जाता है तो वह व्यक्ति या व्यक्ति-समूह उत्पादन-कार्य में समाज के लाभ और हित का उतना ख़याल नहीं रखता जितना कि अपने निजी लाभ का। साथ ही कुछ ऐसे कार्य भी हैं जिन से समाज को केवल सामूहिक

रूप में लाभ होता है, अस्तु कोई भी व्यक्ति उन्हें निजी तौर पर करने के लिए तैयार नहीं होता; जैसे, जंगलों और समुद्रतटों की रक्षा; सड़कों, पुलों आदि का बनाना और ठीक स्थिति में बनाए रखना आदि। इसलिए सरकार को ऐसे कामों को मजबूरन समाज के हित को देखते हुए अपने हाथों में लेना ही पड़ता है। शस्त्रास्त्र या ज़हरीले पदार्थों के बनाने के कार्य भी सरकार को अपने ज़िम्मे लेने पड़ते हैं।

इस के अलावा युद्धकाल में सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और जनता को कष्टों से बचाने की दृष्टि से बहुत से कार्य सरकार को अपने हाथों में लेने पड़ते हैं। कभी-कभी अपनी आय बढ़ाने के लिए भी सरकार को कुछ काम ख़ुद करने पड़ते हैं।

अस्तु, कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण सरकार कुछ उत्पादन-कार्य करती ही है। पर कुछ लोगों का मत है कि जनता के हित की दृष्टि से यह ज़रूरी है कि सरकार सारे उत्पादन-कार्य ख़ुद करे, ताकि कुछ थोड़े-से उत्पादक व्यर्थ का नफ़ा खाकर जनता को हानि न पहुँचा सकें और उत्पादन-कार्य से होनेवाले सभी लाभ जनता में पूरी तरह से बँट जायँ।

इस के विरोध में कहा जाता है कि सरकार द्वारा उत्पादन उतना अच्छा, सस्ता और सुचारु रूप से न हो सकेगा, क्योंकि सरकारी कर्मचारी एक बँधे ढर्रे से काम करेंगे, नई सूझबूझ से काम न लेंगे, वे उस तरह से जी-जान लगा कर काम न करेंगे जैसा कि निजी काम करनेवाले करते हैं, क्योंकि सरकारी अफ़सरों की जीविका नफ़ा-नुक़सान पर तो निर्भर रहती नहीं, उन की तनख़्वाह और पद निश्चित रहते हैं। फिर वे नए कामों और तरीक़ों को अख़्तियार करने के जोखिम को उठाने के लिए तैयार न होंगे, क्योंकि उन में असफल रहने या उतने अधिक सफल न होने पर ऊँचे पदाधिकारियों अथवा निर्वाचकों की नाराज़ी का डर लगा रहता है। इस से उद्योग-धंधों में उन्नति न हो सकेगी। इन सब कारणों से सरकार द्वारा चलाए गए उत्पादन-कार्य वैसे सफल न होंगे। केवल

उन्हीं कामों में सरकार सफल हो सकती है, जिन में जोखिम न हो; जिन में उत्पन्न वस्तुएं आसानी से तुरंत बिक जायँ; और बड़ी मात्रा में होने के कारण जिन में किफ़ायत हो; और जिन में प्रतिद्वंद्विता न हो सके; तथा जिन का केंद्रीय व्यवस्था या प्रबंध द्वारा होना उचित हो।

किंतु रूस तथा अन्य देशों के उदाहरण से यह स्पष्ट हो गया है कि यदि प्रयत्न किया जाय तो सरकार उत्पादन-कार्य में बहुत कुछ सफल हो सकती है और जनता को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है।

अध्याय २२

उत्पत्ति के नियम

उत्पत्ति के नियम

उत्पत्ति के साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस—के सहयोग ही से उत्पत्ति होती है। यह सहयोग किन नियमों के अनुसार किया जाता है, वे नियम किस प्रकार, कहां, किन स्थितियों में, कैसे लागू होते हैं उन का वर्णन यहां किया जाता है।

उत्पत्ति के किसी कार्य में जैसे-जैसे लागत-ख़र्च बढ़ाया जाता है वैसे ही वैसे उत्पत्ति की मात्रा में, कुल लागत-ख़र्च के अनुपात में, वृद्धि अधिक होती है। इसे क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि कहते हैं। इस दशा में कहा जाता है कि उत्पादन-कार्य में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है। किंतु जब लागत-ख़र्च के बढ़ाए जाने पर कुल ख़र्च के अनुपात में उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि बराबर हो यानी जिस अनुपात में लागत-ख़र्च बढ़ाया जाय उसी अनुपात में उत्पत्ति की माता में भी वृद्धि हो, तो इसे क्रमागत उत्पत्ति-समता कहते हैं; और इस अवस्था में क्रमागत उत्पत्ति-समता का नियम लागू माना जाता है। यदि लागत-ख़र्च के बढ़ाए जाने पर कुल लागत-ख़र्च के अनुपात में उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि कम होती जाय तो उसे क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास कहते हैं। इस स्थिति में उत्पादन-कार्य में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू माना जाता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में लागत-ख़र्च के क्रमशः बढ़ने से ऊपर के तीन नियमों में से किसी न किसी एक नियम के अनुसार ही उत्पत्ति-क्रम चलेगा। प्रायः ये नियम क्रमशः लागू होते हैं, यानी किसी उत्पादन-कार्य में पहले क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है, अर्थात् लागत-ख़र्च के क्रमशः बढ़ने पर कुल लागत-ख़र्च के अनु-

पात में उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि अधिक होती है । इस के बाद एक सीमा ऐसी आती है जब लागत-खर्च के क्रमशः बढ़ने पर कुल लागत-खर्च के अनुपात में उत्पत्ति की मात्रा सम रहती है, यानी उस उत्पादन कार्य में क्रमागत उत्पत्ति-समता का नियम लागू होता है । किंतु यह आवश्यक नहीं कि ये नियम प्रत्येक उत्पादन-कार्य में इसी क्रम से लागू हों । किसी कार्य में पहले ह्रास-नियम, फिर वृद्धि-नियम; बाद में समता नियम लागू हो, या और किसी दूसरे क्रम से ये नियम लागू हों । पर यह तो निश्चित है कि प्रत्येक उत्पादन-कार्य में कभी न कभी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम जरूर लागू होगा ।

नीचे के कोष्टक से ऊपर के सिद्धांत स्पष्ट हो जाते हैं :—

क्रम-संख्या	लागत-खर्च रुपयों में	संपूर्ण उत्पत्ति मनों में	सीमांत उत्पत्ति मनों में	
१—१०		५	५	
२ २०	(१० + १०)	११ (५ + ६)	६	वृद्धि
३—३०	(२० + १०)	१९ (११ + ८)	८	
४—४०	(३० + १०)	३० (१९ + ११)	११	
५ ५०	(४० + १०)	४१ (३० + ११)	११	सम
६—६०	(५० + १०)	५२ (४१ + ११)	११	
७—७०	(६० + १०)	६० (५२ + ८)	८	ह्रास
८—८०	(७० + १०)	६५ (६० + ५)	५	

ऊपर के कोष्टक से स्पष्ट हो जाता है कि जब लागत-खर्च १०) है, तब संपूर्ण उत्पत्ति ५ मन होती है । और सीमांत उत्पत्ति भी ५ ही मन ठहरती है । जब लागत-खर्च की एक इकाई (यानी १० रुपए) और बढ़ा दी जाती है और कुल लागत-खर्च १० के बजाय २० रुपए होता है, तब संपूर्ण उत्पत्ति ११ मन (५ + ६ = ११) होती है, यानी १० रुपए और लगाने से अब उत्पत्ति ६ मन अधिक होती है । इस बार सीमांत उत्पत्ति ६ मन ठहरती है । इस से सिद्ध होता है कि लागत की मात्रा के बढ़ने से जो वृद्धि उत्पत्ति में होती है वह अनुपात में पहले से अधिक

है, यानी १० रुपए के बढ़ने से उत्पत्ति ५ मन के स्थान पर ६ मन होती है। तीसरी बार लागत-ख़र्च की एक मात्रा और बढ़ाई गई। फल-स्वरूप उत्पत्ति १९ मन हुई, यानी तीसरे दस रुपए के एवज़ में उत्पत्ति ६ मन के स्थान में ८ मन हुई। चौथी बार एक मात्रा लागत ख़र्च की और बढ़ाई गई। अब ४० रुपए लगे। फलस्वरूप कुल उत्पत्ति ३० मन हुई। इस बार १० रुपए के एवज़ में ११ मन की वृद्धि हुई। यानी दूसरी, तीसरी और चौथी मात्रा तक बराबर क्रम से उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पाँचवी बार लागत-ख़र्च की एक मात्रा और बढ़ाई गई। ५० रुपए लगाए गए। इस बार की १० रुपए की वृद्धि के एवज़ में ११ मन ही उत्पन्न हुआ। यानी चौथी बार के बराबर ही वृद्धि हुई। अस्तु, यहां से उत्पादन में समता-नियम लागू होना प्रारंभ हुआ। छठी बार एक मात्रा लागत ख़र्च की और बढ़ाई गई और कुल उत्पत्ति ५२ मन हुई। इस बार भी ११ मन की वृद्धि हुई जो ठीक पूर्ववर्ती मात्रा की वृद्धि के बराबर ही रही। अस्तु इस बार भी समता-वृद्धि नियम लागू ठहरा। सातवीं बार लागत-ख़र्च की एक मात्रा और बढ़ाई गई, कुल लागत-ख़र्च ७० रुपया किया गया। इस बार की बढ़ी हुई मात्रा के एवज़ में केवल ८ मन की वृद्धि हुई। यानी सातवीं बार के १० रुपए के एवज़ में केवल ८ मन की प्राप्ति हुई। इस से ठीक पूर्ववाली उत्पत्ति से मिलान करने पर ३ मन (११—८ = ३) की कमी देख पड़ी। अस्तु इस स्थान से क्रमागत ह्रास-नियम लागू होने लगा। इस के आगे लागत-ख़र्च की एक मात्रा और लगाई गई और कुल उत्पादन-व्यय ८० रुपया आया। कुल उत्पत्ति ६५ मन हुई। पूर्व की उत्पत्ति से इस बार केवल ५ मन की वृद्धि हुई। यानी इस बार के लागत-ख़र्च दस रुपए की वृद्धि के एवज़ में केवल ५ मन की प्राप्ति हुई। यहां भी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हुआ।

कोष्ठक पर नज़र डालने से पता चलता है कि दूसरी से चौथी स्थिति तक क्रमागत उत्पादन-वृद्धि नियम लागू होता है। पाँचवीं और छठवीं

स्थिति तक क्रमागत उत्पादन-समता नियम लागू होता है। और सातवीं और आठवीं स्थिति में क्रमागत उत्पादन-ह्रास नियम लागू होता है।

लागत-खर्च में पूंजी का सूद; श्रम की मज़दूरी; भूमि का लगान; प्रबंध का वेतन; साहस के लिए लाभ; मशीनों औज़ारों आदि की घिसाई आदि; बिक्री के निमित्त कमीशन, विज्ञापन-व्यय; कच्चे माल का, संचालक शक्ति (बिजली, भाप, पशु आदि) का खर्च आदि सभी सम्मिलित माने जाते हैं।

उत्पादन-व्यय के संबंध में विचार करते समय प्रत्येक उत्पादन-कार्य के लिए एक इकाई की मात्रा निश्चित कर ली जाती है, और लागत-खर्च की वृद्धि में क्रम से एक-एक इकाई जोड़ी जाती है। जैसे ऊपर के उदाहरण में उत्पादन-व्यय की इकाई १० रुपया मानी गई है। प्रत्येक वृद्धि दस-दस रुपए के हिसाब से की जायगी। और इसी इकाई के अनुसार उत्पत्ति की मात्रा का विचार किया जायगा। विभिन्न उत्पादन-कार्यों के लिए लागत-खर्च की विभिन्न इकाइयां निश्चित की जाती हैं।

इसी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के प्रत्येक उत्पादन-कार्य में लागू होने के कारण ही एक ही खेत से देश की आवश्यकता के लिए कुल गेहूं नहीं उत्पन्न किया जा सकता और न एक ही कारखाने से कोई एक वस्तु देश भर की कुल आवश्यकता की पूर्ति के लिए तैयार की जा सकती है। क्योंकि, एक सीमा के बाद उस खेत या उस कारखाने पर बढ़ाए जाने-वाले लागत-खर्च के बदले में जो मात्रा उत्पत्ति की प्राप्त होगी वह लागत-खर्च के अनुपात में कम होगी और उत्तरोत्तर यह कमी का क्रम बढ़ता जायगा; और एक समय ऐसा भी आयगा जब उत्पत्ति की मात्रा नाम-मात्र को ही रह जाय। क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने के कारण उत्पत्ति की प्रत्येक आगे प्राप्त होनेवाली इकाई पर, पहले की इकाई से, अधिक लागत-खर्च बैठता जाता है।

इस संबंध में यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि (१) उत्पत्ति की मात्रा

की माप उत्पन्न होनेवाली वस्तु के रूप में की जाती है ; (२) लागत-खर्च की माप मूल्य में की जाती है; (३) औसत परिवर्तन (घट-बढ़) से इस बात का निर्णय होता है कि कौन नियम लागू है, न कि सीमांत उपज से; (४) नियमों का संबंध उत्पत्ति के परिमाण से है न कि उत्पन्न वस्तु के मूल्य से; (५) यह ज़रूरी नहीं कि जिस सीमा से क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू हो, उसी सीमा से उस उत्पादन-कार्य में उत्पादक को हानि होने लगे और न यही ज़रूरी है कि उसी सीमा पर उत्पादक और अधिक लागत-खर्च लगाना बंद ही कर दे। किस सीमा से हानि होनी शुरू हो और किस सीमा पर लागत-खर्च बंद कर दिया जाय यह वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि खेती आदि के कार्य में क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम बहुत जल्दी लागू होने लगता है। किंतु कारखाने आदि के कार्य में यह नियम (खेती के मुक़ाबले में) ज़रा देर से लागू होता है।

एक बात ध्यान में रखने की और है। अनेक प्रकार के उपायों द्वारा क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम टाला भी जा सकता है। नवीन आविष्कार, सुधार, व्यवस्था की सुचारुता, प्रति-स्थापन नियम आदि के द्वारा उत्पादन कार्य में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम या क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम ही लागू रक्खा जा सकता है। और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम का उत्पादन-कार्य में लागू होना रोका जा सकता है। खेती के कार्य में, खाद, नवीन मशीनों आदि के प्रयोग द्वारा उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाई जाती है। कारख़ानों में नवीन-नवीन सुधारों, अधिक उपयुक्त मशीनों के प्रयोगों, उत्पत्ति के साधनों के उपयोग में उचित परिवर्तनों द्वारा उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाई जाती है। इस प्रकार ह्रास नियम लागू होने से रोका जाता है।

किंतु एक न एक सीमा ऐसी होती है जिस पर ह्रास नियम अवश्य ही लागू होने लगता है, और तब फिर उसे दूर करने के उपाय सोचे जाने लगते हैं।

अध्याय २३

उपभोग और उस का महत्व

अर्थशास्त्र में 'उपभोग' का अपना खास महत्व है। सेवाओं और वस्तुओं के ऐसे सेवन, भोग अथवा काम में लाए जाने को 'उपभोग' कहते हैं जिस से उपभोक्ता को प्रत्यक्ष और तात्कालिक तृप्ति और संतोष हो। जब कोई व्यक्ति खाना खाता है, जूते और कपड़े पहिनता है, घड़ी, छड़ी, सवारी का इस्तेमाल करता है, मकान में रहता है, तब कहा जाता है कि वह इन वस्तुओं का उपभोग करता है। कोई भी व्यक्ति किसी पदार्थ को न तो नए सिरे से बना ही सकता और न बिगाड़ या नष्ट ही कर सकता है। वह पदार्थों में उपयोगिता उत्पन्न कर सकता है। इसी तरह वह केवल उपयोगिता ही को नष्ट कर सकता है। उपभोग के अर्थ होते हैं किसी वस्तु की उपयोगिता को काम में लाकर इस प्रकार नष्ट कर देना कि उस उपभोग से किसी व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति और तृप्ति हो। एक मनुष्य को भूख लगी। उस ने कुछ चावल खाकर अपनी भूख शांत की। चावल खाने से उसे तृप्ति और संतोष प्राप्त हुए। यह चावल का उपभोग हुआ। यदि वह उन चावलों को नदी में फेंक दे तो यह उपभोग न होगा, क्योंकि चावलों के पानी में फेंके जाने से किसी मनुष्य को तृप्ति और संतोष प्राप्त नहीं होते। उपभोग तभी माना जायगा जब उस वस्तु के उपयोग से किसी मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति हो और उस का अभाव दूर होकर उस कार्य से उसे तृप्ति और संतोष प्राप्त हों।

उपभोग क्या है?

उपभोग दो तरह का होता है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रायः बहुत-

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष उपभोग

सी वस्तुओं का उपयोग किसी अन्य वस्तु के बनाने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के उपयोग से किसी व्यक्ति की किसी आवश्यकता की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होती। यह सच है कि इस प्रकार के उपभोग से जो वस्तु तैयार होती है उस से किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। पर इस प्रकार की पूर्ति और तृप्ति अप्रत्यक्ष रूप से होती है। अस्तु, इसे अप्रत्यक्ष उपभोग अथवा उत्पादक-उपभोग कहते हैं। जिस उपभोग से किसी आवश्यकता की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में, तत्काल हो उसे ही यथार्थ में 'उपभोग' अथवा 'अंतिम उपभोग' कहते हैं।

उत्पादक और अनुत्पादक उपभोग

उत्पादक के उस उपभोग को उत्पादक उपभोग कहते हैं जो उस की उत्पादक शक्ति और योग्यता को क़ायम रखने और बढ़ाने से लिए आवश्यक है। इस के अतिरिक्त जो भी उपभोग होगा वह अनुत्पादक उपभोग कहा जाता है। चूँकि समाज का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति एक ही साथ उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही होता है इस कारण इस का निर्णय करना बिल्कुल सहज संभव नहीं है कि उस का कौन सा उपभोग उत्पादक है और कौन सा अनुत्पादक।

अर्थशास्त्र का आधार उपभोग

मनुष्य को आवश्यकता होती है और उस की पूर्ति और तृप्ति के लिए वह उद्योग करता है। अस्तु, प्रत्येक आर्थिक उद्योग का प्रारंभ और मूल कारण उपभोग ही है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का सारा दारोमदार और नींव उपभोग पर ही अवलंबित है। साथ ही प्रत्येक उद्योग का अंत जाकर उपभोग ही में होता है। प्रत्येक उद्योग के अनंतर जो भी वस्तु या सेवा प्राप्त होती है उस का उपभोग करके आवश्यकता की तृप्ति की जाती है। इस प्रकार आर्थिक उद्योगों का आदि और अंत उपभोग ही में है।

वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय और वितरण केवल इसी लिए किया

जाता है कि उन का उपभोग हो। अस्तु, अर्थशास्त्र का सारा आधार और महत्व उपभोग पर निर्भर है। प्रत्येक समाज की उन्नति और प्रगति इस बात पर निर्भर रहती है कि उस की उत्पादक और औद्योगिक शक्तियां और योग्यताएं निरंतर बढ़ती जायँ। उत्पादक और औद्योगिक शक्तियों और योग्यताओं के क़ायम रखने और बढ़ाने के लिए उचित वस्तुओं के उपभोग का होना नितांत आवश्यक है। सामाजिक उन्नति उपभोग की बढ़ती हुई विभिन्नता पर निर्भर है। उन्नतिशील तथा प्रगतिशील समाज की आवश्यकताएं बढ़ती जाती हैं। नित नई आवश्यकताओं की बढ़ती हुई संख्या की पूर्ति करने में ही प्रगति और उन्नति संभव हो सकती है। जैसे-जैसे नई आवश्यकताएं बढ़ेंगी, वैसे ही वैसे उन की पूर्ति के लिए नए नए उद्योग किए जायँगे और नई-नई वस्तुओं के उपभोग के (और पुरानी वस्तुओं के नए उपयोग) तरीक़े निकलेंगे। इस प्रकार उपभोग के ऊपर ही संसार की उन्नति और प्रगति निर्भर है।

उपभोग और संसार की हल-चल

यद्यपि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार के उपभोग में लाई जा सकती है, पर यह ज़रूरी नहीं है कि प्रत्येक वस्तु जितने परिमाण में और जिस गुण-धर्म की बनाई जाय, या उत्पन्न की जाय वह सभी उपभोग में आ जाय। व्यापारिक तेज़ी मंदी और उस से होनेवाली बेकारी और अशक्ति का मूल कारण यही है कि उत्पादक या उत्पादक-संघ इस बात का ठीक-ठीक निर्णय किए बिना ही वस्तुओं के बनाने और उत्पन्न करने में लग जाते हैं कि कब, कहां, किस तरह की, कौन-सी वस्तु, कितनी बनानी, और उत्पन्न की जानी चाहिए। फल यह होता है कि उपभोग के लिए या तो उस वस्तु की कमी पड़ जाती है और सब को जितनी चाहिए वह वस्तु मिलती नहीं। अथवा सब लोगों के उपभोग के बाद भी कोई-कोई वस्तु बच कर व्यर्थ में पड़ी रह जाती है। इस से बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। इस का एकमात्र उपाय है उपभोग का ख़ूब ध्यान रख कर

वस्तुओं का उत्पादन। जो लोग उत्पादन-कार्य में लगें वे इस बात का पूरा-पता लगा लें कि उपभोक्ताओं को किस प्रकार की वस्तु की, कब, कितनी आवश्यकता है।

देश और समाज की शक्ति और योग्यता उपभोग पर निर्भर

प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और योग्यता वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर रहती है। अच्छी वस्तुओं का, उचित समय पर, उचित परिमाण में उपभोग करने से शक्ति और योग्यता बढ़ती है। इस के विपरीत होने से शक्ति और योग्यता घटेगी और वह व्यक्ति निर्बल और अयोग्य हो जायगा, और उस की उत्पादक-शक्ति क्षीण हो जायगी। अस्तु, वह ग़रीब और निकम्मा हो जायगा। देश और समाज की क्षमता और शक्ति उस देश और समाज के व्यक्तियों पर निर्भर है। जिस देश तथा समाज और श्रेणी के व्यक्ति जितने ही क्षमताशील, उद्योगी और शक्ति-सामर्थ्यवान होंगे वह देश, समाज और श्रेणी उतनी ही क्षमताशील, उद्योगी और शक्तिशाली समझी जायगी, और व्यक्तियों की योग्यता, क्षमता-शक्ति उपभोग पर निर्भर रहती है। इस कारण प्रत्येक देश, समाज और श्रेणी की शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता-क्षमता, धन-धान्य, सुख-समृद्धि उपभोग पर ही निर्भर रहती है।

उपभोग और उत्पत्ति

उपभोग और उत्पत्ति का बड़ा ही घनिष्ट संबंध है। उपभोग के कारण ही, और उसी के लिए ही उत्पत्ति की जाती है। मनुष्य को उपभोग के लिए वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है और इस तरह उत्पत्ति का प्रारंभ होता है। जितना ही अधिक उपभोग बढ़ेगा उतनी ही अधिक उत्पत्ति बढ़ेगी और उतने ही अधिक श्रमी काम में लगेंगे। इस प्रकार मज़दूरों का काम में लगना और उत्पत्ति की मात्रा तीव्रता आदि उपभोग के द्वारा निश्चित की जाती हैं।

दूसरी ओर क़ीमत, पूर्ति की मात्रा आदि के द्वारा उत्पत्ति यह निश्चित करती है कि कितना, कैसा, क्या, और किस प्रकार का उपभोग हो। फिर

ख़ास समय में, एक ख़ास स्थान पर किस वस्तु की, कितनी मात्रा का उपभोग किया जाय, यह बात बहुत कुछ उस वस्तु की क़ीमत पर भी निर्भर रहती है। यदि कोई वस्तु बहुत महँगी पड़ेगी तो उस का उपभोग कम ही किया जायगा और यदि वह वस्तु सस्ती होगी तो आमतौर पर उस वस्तु का उपभोग अधिक मात्रा में किया जायगा। यदि किसी वस्तु की उत्पत्ति में अपेक्षाकृत कम ख़र्च पड़े और इस कारण वह वस्तु कम क़ीमत पर बेची जा सके तो उस का उपभोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में किया जायगा। किसी वस्तु के सस्ते होने से उस का उपभोग बढ़ जाता है, उस की अधिक मात्रा खपने लगती है। इस प्रकार सस्ती उत्पत्ति के कारण उपभोग की मात्रा बढ़ जाती है और उत्पत्ति के महँगी पड़ने पर उपभोग की मात्रा कम हो जाती है। इसी प्रकार महँगी वस्तुओं के स्थान पर उसी काम में आने वाली अन्य सस्ती वस्तुओं का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति उपभोग पर अपना प्रभाव डालती है और उपभोग उत्पत्ति पर प्रभाव डालता है। उपभोग और उत्पत्ति एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

उपभोग और वितरण

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही व्यय कर सकता है, और आय के अनुसार ही वस्तुओं को ख़रीद कर उन का उपभोग करने में समर्थ होता है। जिस की जितनी ही अधिक आय होगी वह उतनी ही अधिक उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करके उन का उपभोग कर सकेगा, और प्रत्येक मनुष्य की आय वितरण पर निर्भर रहती है। अस्तु, प्रत्येक मनुष्य के उपभोग की मात्रा बहुत कुछ वितरण पर निर्भर रहती है।

इस के साथ ही यह भी होता है कि अपने उपभोग के विचार से व्यक्ति और समाज उद्योग करते हैं और इस प्रकार वितरण का क्रम बदलते रहते हैं। अस्तु, प्रत्येक देश तथा समाज के उपभोग के आदर्श के अनुसार उस का वितरण-क्रम प्रचालित होता है। क्योंकि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सब उद्योग होते हैं।

एक बात और है। संपत्ति के वितरण के ढंग पर भी किसी देश, समाज या श्रेणी के उपभोग की मात्रा, प्रकार आदि निर्भर रहते हैं। जिस देश और समाज में जितना ही अधिक अ-समान वितरण होगा, जिस देश में अमीरी और ग़रीबी में जितने ही अधिक भेद-प्रभेद होंगे, उस देश में उतनी ही अधिक महँगी और विलासिता की वस्तुओं की खपत और उपभोग होगा, क्योंकि अमीरों के पास अधिक रुपया होगा, इस कारण वे अधिक से अधिक क़ीमतों की विलासिता की और तड़क-भड़क की वस्तुओं का उपभोग करेंगे। किंतु जिस देश में संपत्ति का वितरण जितना ही समान होगा उस में विलासिता की वस्तुओं की खपत (उन का उपभोग) अपेक्षाकृत उतनी ही कम होगी, क्योंकि उस समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आय विलासिता की महँगी वस्तुओं के लिए पर्याप्त न होगी। इस प्रकार उपभोग और वितरण का भी बड़ा घनिष्ट संबंध है। वे एक-दूसरे पर बहुत प्रभाव डालते हैं।

उपभोग और विनिमय

उपभोग की तीव्रता-शिथिलता पर विनिमय की तीव्रता-शिथिलता निर्भर रहती है। जिस समाज में जितना ही अधिक तीव्र उपभोग होगा उस समाज में विनिमय की प्रगति भी उतनी ही तीव्र होगी, क्योंकि उन्नत समाज में बिना विनिमय के उपभोग संभव नहीं है। वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय के बाद ही उपभोग संभव है। साथ ही विनिमय के क्रम, प्रकार आदि पर उपभोग बहुत कुछ निर्भर रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की वस्तुओं को विभिन्न व्यक्तियों से प्राप्त करना पड़ता है। इस तरह, विनिमय के द्वारा ही वह अपने उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की वस्तुओं को ख़ुद नहीं उत्पन्न कर सकता। इस प्रकार उपभोग के लिए उसे विनिमय पर निर्भर रहना पड़ता है।

इधर जैसे-जैसे आवश्यकताएं बढ़ती हैं, उपभोग की मात्रा, प्रकार

आदि में विकास होता है वैसे ही वैसे अधिकाधिक विनिमय की ज़रूरत पड़ती है। इस तरह उपभोग के कारण विनिमय का क्रम चलता और बढ़ता है, और यह सिद्ध होता है कि विनिमय उपभोग पर निर्भर है और उपभोग विनिमय पर।

किंतु, जैसा ऊपर कहा गया है आर्थिक विकास, प्रगति का मूल कारण और उस का अंतिम उद्देश्य उपभोग ही है। उपभोग के लिए वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं, उसी के लिए संपत्ति का वितरण होता है, उसी के निमित्त वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है। सभी का आदि और अंत उपभोग में ही है।

अधिक और कम संतोष

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी शक्ति, योग्यता, क्षमता क़ायम रखने और बढ़ाने के लिए वस्तुओं के उपभोग की ज़रूरत होती है। किंतु सभी को एक-सा संतोष प्राप्त नहीं होता। बराबर ख़र्च करने पर भी कुछ व्यक्ति अधिक तृप्ति और संतोष प्राप्त कर लेते हैं और कुछ कम। इस का कारण यह है कि पहले प्रकार के व्यक्ति (१) यह जानते हैं कि उन्हें असल में ठीक-ठीक किस वस्तु की ज़रूरत है; (२) यह जानते हैं कि किस वस्तु का कौन गुण है। इस कारण वे ऊपरी भड़क-भड़क और बेंचनेवालों के बहकावे न पड़ कर ठीक चीज़ लेते हैं; (३) यह जानते हैं कि कौन वस्तु कहां अच्छी से अच्छी और सस्ती से सस्ती मिलती है; (४) यह जानते हैं कि किस से, कैसे सौदा, मोल-तोल करके ज़्यादा से ज़्यादा लाभ उठाना चाहिए; (५) यह जानते हैं कि उन की कौन-कौन आवश्यकता कितनी ज़रूरी है, और वे अपनी सभी आवश्यकताओं और उन से होनेवाले संतोष का मिलान करके वस्तुएं इस प्रकार लेते हैं कि थोड़े से थोड़े ख़र्च में अधिक से अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति हो और संतोष मिले। इन सब कारणों से उन्हें अधिक संतोष और सुख प्राप्त हो सकते हैं। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ज़रूरी है कि वह उपभोग के महत्व को भली

भाँति समझ कर अधिक से अधिक तृप्ति-संतोष प्राप्त कर सके। ऊपर के वर्णन से यह अच्छी तरह साबित हो जाता है कि अर्थशास्त्र में उपभोग का कितना अधिक महत्व है। एक तरह से कहा जा सकता है कि जिस तरह इस विश्व भर में ईश्वर व्याप्त है उसी तरह अर्थशास्त्र भर में उपभोग का आभास और उस की महत्ता व्याप्त है। अर्थशास्त्र की नींव ही उपभोग पर निर्भर है।

पूर्वकाल के अर्थशास्त्रियों ने उपभोग को उतना महत्व नहीं दिया था। किंतु (१) भौतिक विज्ञान, गणितशास्त्र आदि के कारण उपभोग का महत्व लोगों के सामने स्पष्ट रूप से आ जाने और (२) मानव-हित तथा मानव-सेवा के बढ़ते हुए उदार-विचारों के कारण इस प्रश्न पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा है कि किस प्रकार भौतिक तथा अभौतिक संपत्ति के उपभोग के द्वारा जन-समाज का अधिक कल्याण और उसे अधिक संतोष तथा शांति प्राप्त हो सकते हैं।

अध्याय २४

आवश्यकताएं

मनुष्य सदा किसी न किसी वस्तु को व्यवहार में लाना चाहता है, किसी न किसी वस्तु का उपभोग करना चाहता है। क्यों? कारण कि उसे उस वस्तु के उपभोग से तृप्ति और संतोष प्राप्त होते हैं। उसे यदि वह वस्तु न मिले तो एक प्रकार के अभाव का कष्ट अनुभव होता है। किसी वस्तु के उपभोग द्वारा किसी अभाव की पूर्ति करके तृप्ति और संतोष प्राप्त करनेवाले भाव को अर्थशास्त्र में आवश्यकता कहते हैं।

आवश्यकता किसे कहते हैं?

साधारण बात-चीत में प्रायः 'इच्छा', 'चाह' और 'आवश्यकता' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किंतु अर्थशास्त्र में 'आवश्यकता' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'इच्छा' तथा 'चाह' से कुछ भिन्न भाव प्रदर्शित करता है। 'इच्छा' और 'चाह' बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और उन से किसी भी वस्तु या वस्तु-समूह को प्राप्त करने की कामना व्यक्त होती है। एक आदमी बाज़ार में नाना प्रकार के उत्तम-उत्तम वस्त्र देखता है और उस के मन में उन्हें पाने की इच्छा या चाह होती है। इच्छा और चाह में यह ज़रूरी नहीं है कि इच्छा करनेवाले मनुष्य के पास उन वस्तुओं को प्राप्त करने की शक्ति और साधन हों। 'आवश्यकता' से यह प्रकट होता है कि उस मनुष्य में किसी वस्तु के पाने की इच्छा के साथ ही उसे प्राप्त कर लेने की शक्ति और साधन भी हैं। जिस इच्छा या चाह में किसी वस्तु के प्राप्त कर लेने के साधन और शक्ति होती है, उसे 'आवश्यकता' कहते हैं।

आवश्यकताएं सभी को होती हैं। भोजन, वस्त्र और रहने के लिए स्थान सभी को चाहिए। किंतु सब की आवश्यकताएं बराबर नहीं होतीं। जैसे-जैसे मनुष्य की सभ्यता बढ़ती जाती है, जैसे-जैसे समाज अधिकाधिक प्रगतिशील और उन्नतिशील होता जाता है, वैसे ही वैसे उस की आवश्यकताएं संख्या में, भिन्नता में, और तीव्रता में बढ़ती ही जाती हैं। जो समाज जितना ही अधिक उन्नत और सभ्य होगा उस की आवश्यकताओं की संख्या, भिन्नता और तीव्रता उतनी ही अधिक होगी। अतएव आवश्यकताओं की वृद्धि और सभ्यता की उन्नति में एक घनिष्ट पारस्परिक संबंध है।

आवश्यकताए और उन्नति

प्रारंभिक अवस्था में भोजन, वस्त्र और रहने के स्थान की आवश्यकता पड़ती है। शिकार के लिए शस्त्रास्त्र और उत्पादन के लिए औज़ार भी ज़रूरी होते हैं। साथ ही अवस्था-भेद से दिखावे, श्रेष्ठता-प्रतिष्ठा और तड़क-भड़क की वस्तुओं की ज़रूरत होने लगती है। इस के बाद दिखावे की, श्रेष्ठता-प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति नवीन आवश्यकताओं की सृष्टि करती है। तरह-तरह के भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि दिखावे की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा की प्रवृति के फल हैं। इस प्रकार उन्नति के साथ-साथ आवश्यकताएं बढ़ती ही जाती हैं।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आवश्यकताएं हमेशा भिन्न-भिन्न होती हैं। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक नैतिक, शारीरिक, भौतिक आदि कारणों से आवश्यकताओं के प्रकार, प्रभाव, संख्या, विभिन्नता आदि में अंतर पड़ता रहता है। भारतवासियों की आवश्यकताओं से अमरीकावालों की आवश्यकताएं कुछ भिन्न ज़रूर होंगी। बंगालवालों को जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उन से कुछ भिन्न वस्तुओं की आवश्यकता पंजाबवालों को पड़ती है।

आवश्यकताओं की भिन्नता के कारण

किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य को उद्योग करना पड़ता

आवश्यकता और उद्योग

है। इस प्रकार आवश्यकता उद्योग की जननी है। यह प्रारंभिक अवस्था का क्रम है। आगे चल कर उद्योग के फल-स्वरूप नई-नई वस्तुओं के उत्पन्न होने पर उन के उपभोग द्वारा नई-नई आवश्यकताओं की सृष्टि होती है। इस प्रकार उद्योग से आवश्यकताओं की उत्पत्ति होती है।

वैसे तो आवश्यकताओं की कोई गिनती नहीं हो सकती। वे असंख्य हैं, और सभी की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कभी संभव नहीं है। किंतु आवश्यकताओं के संबंध में कुछ मुख्य नियम यहां दिए जाते हैं।

आवश्यकताओं के लक्षण

(१) आवश्यकताएं असंख्य हैं। जो समाज और व्यक्ति जितना ही अधिक सभ्य और उन्नत होगा उतनी ही अधिक संख्या, विभिन्नता और तीव्रता उसकी आवश्यकताओं की होगी—(२) प्रत्येक आवश्यकता की, एक ख़ास समय के लिए, पूर्ति और तृप्ति की जा सकती है—कोई भी एक आवश्यकता किसी एक ख़ास समय के लिए यथार्थ साधनों द्वारा तृप्ति की जा सकती है। यदि कोई भूखा है तो भोजन के एक ख़ास परिमाण से उस समय के लिए उस की भूख तृप्त की जा सकती है। जैसे-जैसे वह भोजन करता जायगा वैसे ही वैसे उस की भूख की तीव्रता कम होती जायगी और अंत में बिल्कुल शांत हो जायगी। इसी नियम पर सीमांत उपयोगिता-ह्रास नियम अवलंबित है—(३) कुछ आवश्यकताएं एक दूसरे की पूरक होती हैं—अनेक आवश्यकताएं ऐसी होती हैं जिन की पूर्ति एक साथ होती है, जैसे घड़ी और चेन, क़लम-दावात, स्याही, काग़ज़ की आवश्यकता। (४) कुछ आवश्यकताएं प्रतियोगी होती हैं -- कुछ आवश्यकताएं ऐसी होती हैं जिन की पूर्ति एक से अधिक वस्तुओं से समान रूप से हो सकती है। जैसे भूख की पूर्ति के लिए रोटी, भात, पूड़ी, मिठाई, फल आदि किसी एक वस्तु से काम चल सकता है।

इस नियम पर 'प्रतिस्थापन नियम' अवलंबित है। जिन वस्तुओं का

आवश्यकताएं और रहन-सहन का दर्जा

उपभोग प्रायः रोज़ ही कोई एक व्यक्ति करता रहता है उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने का उस का स्वभाव सा पड़ जाता है और बिना उन के उसे कष्ट होता है, उस की शक्ति और योग्यता-क्षमता में फ़र्क़ पड़ जाता है। अस्तु, आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही प्रत्येक व्यक्ति और समाज के रहन-सहन का दर्जा निर्भर है।

मनुष्य को वस्तुओं के समूह की आवश्यकता होती है। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज की आवश्यक वस्तुओं की माँग एक प्रकार से सामूहिक होती है। जैसे बंगाल में रहने-वालों को कुछ ख़ास वस्तु-समूह की आवश्यकता होती है।

माँग का नियम

प्रत्येक मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की माँग उस की (१) व्यक्तिगत पसंद और (२) उस के कुटुंब, समाज और व्यक्तिगत जीवन के रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है।

अध्याय २५

उपयोगिता-संबंधी नियम

उपयोगिता की इकाई और तुलना

उपयोगिता वस्तु का वह गुण है जिस के द्वारा किसी आवश्यकता की तृप्ति हो। उपभोक्ता और उस के मन से उपयोगिता का गहरा संबंध होता है। किसी एक वस्तु की उपयोगिता सभी मनुष्यों को एक-सी नहीं हो सकती, भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिए स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होगी। यही क्यों? एक ही वस्तु की उपयोगिता एक ही मनुष्य को भिन्न-भिन्न समय और परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होगी। इस कारण भिन्न-भिन्न मनुष्यों की और एक ही मनुष्य की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की उपयोगिता की तुलना करना साधारणतः सहज नहीं है। अस्तु, केवल एक ही समय, परिस्थिति के पूर्ववत् या अपरिवर्तित रहने पर, किसी एक मनुष्य को भिन्न-भिन्न वस्तुओं से अथवा एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों से क्रमशः प्राप्त होनेवाली उपयोगिता का अंदाज़ा करके उस की तुलना की जा सकती है।

वस्तुओं के उपभोग से तृप्ति होती है और तृप्ति से संतोष। वस्तुओं के उपभोग से होनेवाले इसी संतोष का अंदाज़ा लगा कर उस वस्तु की उपयोगिता का निश्चय किया जाता है, और फिर अन्य वस्तुओं और उसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों से क्रमशः प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की तुलना की जाती है। तुलना करने के लिए यह मान लेना पड़ता है कि किसी एक ख़ास वस्तु की एक ख़ास इकाई के उपभोग से जो संतोष प्राप्त होता है वह एक के बराबर है और उस की उपयोगिता एक के बराबर

है। अन्य वस्तुओं और उस वस्तु की अन्य इकाइयों के उपभोग से जो संतोष और उपयोगिता प्राप्त होती है उस की तुलना इस उपयोगिता की इकाई से करके परिमाण का निश्चय किया जाता है। यह नीचे के उदाहरण मे स्पष्ट हो जायगा।

कल्पना करो कि सेव, पूड़ी, बिस्कुट आदि की उपयोगिताओं की तुलना करनी है। अब एक ख़ास समय और तुलना के लिए यह मान लेना पड़ेगा कि एक पूड़ी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता एक के बराबर है। इस इकाई के निश्चित कर लेने के बाद यह तय करना है कि अन्य वस्तुओं की उपयोगिता कितनी है। अब यदि एक सेव खाने से एक पूड़ी के बनिस्बत तीन गुना संतोष प्राप्त होता है तो यह माना जायगा कि सेव की उपयोगिता तिगुनी है। इसी प्रकार यदि एक बिस्कुट खाने से दूना संतोष हुआ तो कहना होगा कि बिस्कुट की उपयोगिता दुगुनी है।

किसी एक मनुष्य के संबंध में विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करने के लिए उपयोगिता की कोई एक इकाई मान ली जाती है और उस समय सभी वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना इसी इकाई के अनुसार की जाती है। किंतु भिन्न-भिन्न तुलनाओं के लिए उपयोगिता की इकाई भिन्न-भिन्न रहती है। इस का यह कारण है कि भिन्न-भिन्न समय और परिस्थितियों में किसी भी वस्तु की उपयोगिता एक समान बराबर नहीं रह सकती। इस कारण तुलना के लिए समय और परिस्थिति के अनुसार उपयोगिता की इकाई बदल दी जाती है।

वस्तुओं की इकाई

वस्तुएं दो तरह की होती हैं। एक तो वे जिन को विभाजित करने से उन के मूल्य में कमी नहीं आती, जैसे अनाज, सोना, चाँदी आदि। तुलना के लिए इन की इकाई भिन्न-भिन्न होती है, जैसे तोला, छटाक, सेर, मन आदि। दूसरे वे जिन को विभाजित करने से उन के मूल्य में फ़र्क़ पड़ जाता है, जैसे मकान, मवेशी, छड़ी, घड़ी, पुस्तक आदि। इन की इकाई सदा एक रहती है।

एक ख़ास समय में प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है।

उपयोगिता-ह्रास नियम

प्रत्येक आवश्यकता परिमित और सीमित है। किसी भी मनुष्य की किसी एक ख़ास वस्तु की आवश्यकता उस वस्तु के अधिकाधिक परिमाण में प्राप्त होने पर घटती चली जायगी और अंत में, परिस्थिति के अपरिवर्तित रहने पर, पूरी हो जायगी।

किसी मनुष्य को चीनी की आवश्यकता है। उसे एक सेर चीनी से जो संतोष प्राप्त होता वह मान लो कि १०० है। अस्तु, पहले सेर से उसे १०० उपयोगिता प्राप्त होती है। अब यदि उसे एक सेर चीनी और मिल जाय तो उसे उस से उतना संतोष न मिलेगा जितना कि पहले सेर से प्राप्त हुआ था। मान लो उसे दूसरे सेर से ८० उपयोगिता प्राप्त होती है। अब यदि उसे एक सेर और चीनी मिल जाय तो उसे इस तीसरे सेर से जो संतोष प्राप्त होगा वह दूसरे सेर से प्राप्त होनेवाले संतोष से कम होगा। यानी तीसरे सेर से उसे ६० उपयोगिता प्राप्त हुई। इस प्रकार बाद में मिलने वाले प्रत्येक सेर चीनी से उसे क्रमशः कम ही कम उपयोगिता प्राप्त होती है। कोई भी एक वस्तु जितनी ही ज़्यादा मिलती जाती है उस की आवश्यकता उतनी ही कम होती जाती है और उस वस्तु की प्रत्येक बाद में मिलती जानेवाली इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता कम होती जाती है। यही उपयोगिता-ह्रास नियम है।

इस नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि, परिस्थिति के पूर्ववत् रहने पर, किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जितना ही अधिक परिमाण होता जायगा वह उसी वस्तु की बाद में मिलनेवाली इकाई के लिए उतनी ही कम क़ीमत देने को तैयार होगा।

परिस्थिति का पूर्ववत् रहना ज़रूरी है। यदि सब बातें पहले ऐसी न रहीं, कुछ रद्दोबदल हो गया तो यह नियम लागू न होगा। यदि कोई मनुष्य अधिक धनवान हो जाय या उस की रुचि में फ़र्क़ पड़ जाय तो वह

बाद में मिलनेवाली इकाइयों के लिए अधिक क़ीमत भी दे देगा।

उपयोगिता-ह्रास नियम के कुछ अपवाद

यदि किसी वस्तु की इकाइयां उचित मात्रा से कम होंगी तो यह संभव है कि प्रत्येक बाद में मिलनेवाली इकाई की उपयोगिता घटने के बदले बढ़ती चली जाय। यदि जलाने के समय कोयले की इकाइयां तौल के हिसाब से मानी जायँ तो निश्चय ही प्रत्येक बाद में मिलनेवाली इकाइयों के उपभोग या संग्रह से अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। अस्तु इकाइयों का परिमाण सामान्यतः इतना छोटा न हो कि साधारण स्थिति से भिन्नता उपस्थित हो जाय।

सीमांत उपयोगिता

किसी वस्तु को ख़रीदते समय मनुष्य उस वस्तु की कुछ इकाइयां ही ख़रीद कर रुक जाता है, क्योंकि उस के विचार में उस परिस्थिति में जो क़ीमत देनी पड़ती है उस को देखते हुए वह उसी वस्तु की और अधिक इकाइयां लेना लाभदायक नहीं समझता। उस वस्तु की वह अंतिम इकाई जिसे ख़रीदने के बाद वह ख़रीद बंद कर देता है और जिस को ख़रीदते समय उस के मन में यह दुबिधा पैदा हो जाती है कि इसे ख़रीदना ठीक होगा या नहीं, उस की ख़रीद की सीमा होती है। इसी सीमांत इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता को सीमांत उपयोगिता कहते हैं। एक आदमी एक सेव या एक सेर चीनी ख़रीदता है तो उसे पहला सेव या सेर ही उस की सीमांत इकाई है। और उसी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता होगी। यदि कोई मनुष्य दो सेव या दो सेर चीनी ख़रीदता है तो दूसरा सेव या सेर उस की सीमांत ख़रीद होगी और उस दूसरे सेव या सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता होगी। यदि कोई मनुष्य दस सेव या दस सेर चीनी ख़रीदता है तो दसवां सेव या सेर उस की सीमांत ख़रीद होगी और उस दसवें सेव या सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस के लिए सीमांत उपयोगिता होगी।

ऊपर की व्याख्या इस प्रकार से स्पष्ट हो जायगी :—

जब १ सेव या १ सेर चीनी ख़रीदी गई तो सीमांत उपयोगिता १०० है।
,, २ ,, २ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ८० ,,
,, १० ,, १० ,, ,, ,, ,, ,, ,, १० ,,

सीमांत उपयोगिता किसी वस्तु की उपभोग में लाई जानेवाली अंतिम इकाई की उपयोगिता को कहते हैं।

एक आदमी दस सेर चीनी ख़रीदता है। तो दसों सेर चीनी से कुल मिला कर उसे जो उपयोगिता प्राप्त होगी उसे कुल उपयोगिता कहते हैं। प्रत्येक सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता इस प्रकार है :—

समस्त उपयोगिता

वस्तु की संख्या या परिमाण	उपयोगिता	सीमांत उपयोगिता	समस्त उपयोगिता
पहले सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता	१००	१००	१००
दूसरे ,, ,, ,,	९०	९०	१९०
तीसरे ,, ,, ,,	८०	८०	२७०
चौथे ,, ,, ,,	७०	७०	३४०
पाँचवें ,, ,, ,,	६०	६०	४००
छठें ,, ,, ,,	५०	५०	४५०
सातवें ,, ,, ,,	४०	४०	४९०
आठवें ,, ,, ,,	३०	३०	५२०
नवें ,, ,, ,,	२०	२०	५४०
दसवें ,, ,, ,,	१०	१०	५५०
ग्यारहवें ,, ,, ,,	०	०	५५०
बारहवें ,, ,, ,,	—१०	—१०	५४०

ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे वस्तु के परिमाण में वृद्धि होती है, उस की बाद में मिलनेवाली इकाइयां बढ़ती जाती हैं,

वैसे ही वैसे कुल उपयोगिता भी बढ़ती जाती है, किंतु क्रमशः ह्रास रूप से। यानी पहले सेर से उसे १०० उपयोगिता प्राप्त होती है। दो सेर चीनी लेने पर उसे १०० से अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। किंतु ठीक दूनी नहीं, वरन् १९० ही। अर्थात् दूसरे सेर से जो उपयोगिता प्राप्त हुई वह पहले सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से कुछ कम। इसी प्रकार तीसरे सेर से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह दूसरे सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से भी कम है, यानी केवल ८०। किंतु तीन सेर लेने पर कुल उपयोगिता जाकर २७० होती है, न कि ३००। इसी प्रकार दस सेर चीनी लेने पर कुल उपयोगिता ५५० प्राप्त होती है। यानी जैसे-जैसे बाद में ली जानेवाली इकाइयों की संख्या बढ़ती गई वैसे ही वैसे समस्त उपयोगिता भी बढ़ती गई।

यहां एक बात ध्यान देने योग्य है। बाद में ली जानेवाली इकाइयों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे सीमांत उपयोगिया क्रमशः घटती जाती है। प्रत्येक बाद में ली जानेवाली इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस से पहलेवाली इकाई की उपयोगिता से कम होती जाती है, और अंत में दस सेर लेने पर दसवीं इकाई की सीमांत उपयोगिता केवल १० ही रह जाती है। अस्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे बाद में ली जानेवाली इकाइयों के संख्या बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे समस्त उपयोगिता बढ़ती जाती है, किंतु सीमांत उपयोगिता घटती जाती है। किसी वस्तु के अधिक परिमाण में सेवन करने से तब तक कुल उपयोगिता बढ़ती जाती है, साथ ही सीमांत उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है, जब तक कि उस आवश्यकता की पूर्ण-रूप से तृप्ति नहीं हो जाती। किंतु कुल उपयोगिता के बढ़ने का अनुपात क्रमशः कम होता जाता है।

यदि उस वस्तु का सेवन बराबर जारी रक्खा गया तो एक समय ऐसा आ जाता है कि पूर्ण तृप्ति हो जाती है; और पूर्ण तृप्ति होने पर अंत में जो इकाई सेवन की गई थी उस से कुछ भी संतोष प्राप्त नहीं होता।

अस्तु उस अंतिम इकाई की उपयोगिता शून्य मानी जाती है। अस्तु, सीमांत उपयोगिता भी शून्य होगी। इस के ठीक पहले सेवन की जाने वाली इकाई तक तो कुल उपयोगिता बराबर बढ़ती चली जाती है। किंतु जहां पूर्ण तृप्ति हो जाती है, और सीमांत उपयोगिता शून्य होती है वहीं से कुल उपयोगिता का बढ़ना बंद हो जाता है। और उस के बाद भी यदि उस वस्तु की और अधिक इकाई या इकाइयों का सेवन जारी रक्खा गया तो उपयोगिता के स्थान में अनुपयोगिता प्राप्त होगी, जो ऋण-उपयोगिता द्वारा सूचित की जायगी।

इस का कारण यह है कि पूर्ण तृप्ति के बाद जो भी इकाई सेवन की जायगी उस से संतोष के बजाय कष्ट हानि, या असंतोष होगा जो पूर्व प्राप्त संतोष में से कुछ हिस्सा ले लेगा। फल यह होगा कि पूर्ण तृप्ति के बाद जो भी इकाइयां सेवन की जायँगी उन के कारण सीमांत उपयोगिता ऋण में दिखलाई जायगी और समस्त उपयोगिता बढ़ने के बजाय क्रमशः घटती ही जायगी।

ऊपर के कोष्टक को देखने से विदित होगा कि दस सेर चीनी लेने तक पूर्ण तृप्ति नहीं होती, अस्तु समस्त उपयोगिता बढ़ती ही जाती है और सीमांत उपयोगिता कुछ न कुछ रहती ही है। पर ग्यारहवें सेर के लेने पर पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो जाती है और उस सेर से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता शून्य मानी गई है। इसी स्थान से समस्त उपयोगिता का बढ़ना बंद हो जाता है। यदि बारहवां सेर और ले लिया जाता है तो चीनी के उस बारहवें सेर से संतोष के बजाय कष्ट, हानि या असंतोष होता है। अस्तु, इस बारहवें सेर की उपयोगिता ऋण १० मानी गई है। चूँकि इस इकाई के कारण संतोष के बजाय असंतोष हुआ इस कारण पूर्व-संचित उपयोगिता में से १० उपयोगिता कम हो जाती है। अस्तु, इस स्थान से कुल उपयोगिता बजाय बढ़ने के, घटने लगती है। दसवें सेर तक कुल उपयोगिता बराबर बढ़ती ही जाती थी और कुल मिला कर २२० हुई थी।

ग्यारहवें सेर से उस का बढ़ना रुक गया, किंतु कुल मिला कर उपयोगिता ५५० ही रही, क्योंकि यदि कुछ मिला नहीं तो उस में से कुछ कमी भी नहीं हुई। किंतु बारहवें सेर से कुल उपयोगिता कम होने लगती है और वह ५४० ही रह जाती है, क्योंकि बारहवें सेर से संतोष के बजाय असंतोष प्राप्त होता है और उस इकाई की उपयोगिता ऋण १० होती है।

उपयोगिता-ह्रास नियम के संबंध में ख़ास समय, रुचि, स्वभाव, परिस्थिति और परिमाण का विचार अत्यावश्यक है। उपयोगिता-ह्रास नियम तभी लागू होगा जब किसी एक वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों का सेवन एक ख़ास समय में लगातार किया जायगा। यदि समय का ख़्याल न रक्खा जायगा तो नियम लागू न होगा।

यदि कोई मनुष्य एक सेव सबेरे खाय, दूसरा दोपहर को, तीसरा शाम को और चौथा रात को, तो यह ज़रूरी नहीं है कि दूसरे सेव से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता पहले से, तीसरे से प्राप्त होनेवाली उपयो-दूसरे से, और चौथे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता तीसरे सेव से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से क्रमशः कम हो। क्योंकि, बीच में इतने अधिक समय का अंतर पड़ चुका है कि ह्रास, नियम लागू न होगा। यदि एक ही समय में चारों सेव क्रमशः एक के बाद एक खाए जायँगे तो ज़रूर यह नियम लागू होगा।

रुचि, स्वभाव और परिस्थिति का पूर्ववत्, अपरिवर्तित रहना भी जरूरी है। यदि रुचि में भेद हो गया, स्वभाव बदल गया या परिस्थिति में फ़र्क़ पड़ गया तो ह्रास नियम लागू न हो सकेगा, क्योंकि इस परिवर्तन के कारण वस्तु के उपभोग से होने वाले संतोष और उस से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में अंतर पड़ जायगा। यदि एक मनुष्य एकाएक बहुत अधिक धनवान हो जाय तो सारी बातें बदल जायँगी, और एक ही वस्तु की बाद वाली इकाइयों से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस के लिए वह न रह जायगी जो उसे धनवान होने के पूर्व जान पड़ती थी। इसी प्रकार यदि किसी की

रुचि बदल जाय तो संभव है कि सेव के खाने से उसे वह उपयोगिता न प्राप्त हो जो उस के पहले प्राप्त होती थी।

इसी तरह वस्तु की इकाई के परिमाण का भी प्रभाव इस नियम पर बहुत अधिक पड़ता है। यदि इकाई का परिमाण बहुत ही कम रक्खा गया तो यह भी संभव है कि प्रत्येक बाद में ली जानेवाली इकाई के सेवन से उत्तरोत्तर अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त हो। यदि एक पूरे सेव की एक इकाई न मान कर उस के बराबर-बराबर पचास टुकड़े कर दिए जायँ और प्रत्येक टुकड़े को इकाई माना जाय तो संभव है कि प्रत्येक बाद में ली जानेवाली इकाई के सेवन से बजाय क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होने के अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त हो।

इस नियम के अपवाद-स्वरूप कुछ ऐसी वस्तुएं पेश की जाती हैं जिन की बाद में ली जानेवाली इकाइयों से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस से पहलेवाली इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक ही होती है। शान-शौकत, दिखावट, फ़ैशन, शृंगार की वस्तुओं और दुष्प्राप्य और अप्राप्य पदार्थों की गणना इसी तरह की वस्तुओं में की जाती है। यदि किसी मनुष्य के पास एक क़ीमती हीरा हो तो उस की जोड़ी के दूसरे हीरे का दाम वह पहले से ज़्यादा देने को तैयार हो जायगा, क्योंकि उसे दूसरे हीरे के प्राप्त करने से पहले के बनिस्बत कहीं अधिक उपयोगिता मालूम पड़ेगी, क्योंकि बराबर के दो हीरे होने से उस की श्रेष्ठता बहुत बढ़ जायगी। इसी प्रकार एक मोटरकार से दूसरे मोटरकार की उपयोगिता और एक महल से दूसरे महल की उपयोगिता ज़्यादा होगी क्योंकि उस के मालिक का दर्जा पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ जायगा और उस की धाक अधिक हो जायगी। पुराने सिक्कों, औज़ारों और अन्य ऐतिहासिक वस्तुओं के बारे में भी यही सोचा जाता है।

किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों के संबंध में भी एक बात स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। इस नियम के संबंध में यह मान लिया जाता है कि

परिमाण, गुण, उपयोगिता आदि में किसी वस्तु की इकाइयां बिल्कुल एक-सी और समान ही होती हैं, अस्तु किसी भी एक इकाई के स्थान में कोई भी दूसरी इकाई काम में लाई जा सकती है।

इकाइयों के संबंध में एक बात और ज़रूरी है। सीमांत इकाई कोई ख़ास इकाई नहीं है। किसी वस्तु की कोई भी इकाई सीमांत इकाई हो सकती है। सीमांत इकाई होने के लिए उपभोग के क्रम में सब से अंत में उपभुक्त होना ही ज़रूरी है। जो भी इकाई उपभोग के क्रम में सब से अंत में उपभुक्त होगी वही सीमांत इकाई होगी। दस सेर चीनी के प्रत्येक सेर को उपभोग-क्रम के अनुसार सीमांत इकाई होने का अवसर आ सकता है। जैसे प्रत्येक सेर चीनी का नाम क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ रख दिया गया। अब यदि च से शुरू करके ञ तक क्रम से प्रत्येक सेर का सेवन किया गया तो ञ सेर अंत में पड़ने से सीमांत इकाई होगी। यदि क्रम बदल दिया जाय और ञ से शुरू करके अंत में क पर ख़त्म किया जाय तो क सेर सीमांत इकाई होगी। यदि कोई ख़ास सेर का ख़याल न करके पहली बार झ, फिर ख, फिर ञ फिर घ आदि का क्रम से उपभोग किया जाय और अंत में ग का उपभोग हो तो ग सेर जाकर सीमांत इकाई होगी। सीमांत इकाई होने के लिए उपभोग-क्रम के अंत की इकाई होना ज़रूरी है।

दूसरी बात यह है कि क से ञ तक दस सेर सेवन किए जाने के क्रम में जिसी इकाई पर सेवन ख़त्म मान लिया जायगा और उस से आगे सेवन या उपभोग बंद कर दिया जायगा, वहीं वह अंतिम इकाई सीमांत इकाई होगी। जैसे यदि केवल क सेर का उपभोग किया गया तो क इकाई ही सीमांत इकाई होगी। यदि क और ख दो इकाइयों का उपभोग किया गया तो ख इकाई सीमांत इकाई होगी। यदि क, ख, ग, घ, ङ, इन पाँच इकाइयों का क्रम से सेवन किया गया तो अंत में पड़ने वाली ङ इकाई ही सीमांत इकाई होगी। यदि क से लेकर ञ तक दस इकाइयों

का यथाक्रम सेवन किया गया तो अंत में पड़नेवाली ञ इकाई ही सीमांत इकाई होगी।

किसी एक मनुष्य के पास जैसे-जैसे द्रव्य बढ़ता जायगा वैसे ही वैसे उस की सीमांत उपयोगिता कम होती जायगी। यदि किसी मनुष्य की आय ४०) माहवार से १००) माहवार हो जाय तो उस के लिए इस तरक़्क़ी के पहले अंतिम रुपए की जो उपयोगिता थी उस से उस अंतिम रुपए की उपयोगिता कम होगी जो उस के पास १००) माहवार पाने पर होगी। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि ४०) माहवार पाने पर चीनी, पानसुपारी, मनबहलाव आदि की वस्तुओं पर होनेवाला उस का जो ख़र्च था वह सौ रुपए माहवार पाने पर बढ़ जाता है। उसी दामों पर वह वस्तुओं को अधिक मात्रा में लेने लगता है। इस से साबित होता है कि आय बढ़ने पर उस के लिए रुपए की सीमांत उपयोगिता कम हो जाती है। इस के विपरीत आमदनी कम होने पर रुपए की सीमांत उपयोगिता बढ़ जाती है। यदि किसी को १००) के स्थान में ४०) माहवार मिलने लगें तो वह अनेक वस्तुओं की मात्रा में कमी कर देगा।

द्रव्य या रुपए-पैसे की सीमांत उपयोगिता

एक ग़रीब मनुष्य के लिए द्रव्य की सीमांत उपयोगिता एक अमीर मनुष्य से अधिक होती है, क्योंकि ग़रीब के पास कम द्रव्य रहता है। जिस मनुष्य को ५०) मासिक मिलते हों, उसे ५० वें रुपए की उपयोगिता उस अमीर आदमी के हज़ारवें रुपए की उपयोगिता से अधिक होगी जिस को १०००) मासिक की आय हो।

द्रव्य की उपयोगिता बहुत तेज़ी से नहीं घटती। वह बहुत धीरे-धीरे घटती है, क्योंकि द्रव्य से प्रायः सभी आवश्यक वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं। अस्तु, द्रव्य के बढ़ने पर अन्य अनेक नई-नई वस्तुएं प्राप्त करके उस की सीमांत उपयोगिता तेज़ी से कम होने से रोकी जा सकती है। असल

में द्रव्य अनेकानेक वस्तुओं का एक सम्मिलित रूप माना जाना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि द्रव्य से प्रायः सभी वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं।

समसीमांत उपयोगिता

यदि किसी मनुष्य के पास एक ऐसी वस्तु हो जिसे वह अनेक उपभोगों (कामों) में ला सकता है, तो वह उस वस्तु को उन उपयोगों में इस तरह बाँटेगा कि प्रत्येक उपभोग में उस वस्तु की सीमांत उपयोगिता बराबर ही रहे। इस का कारण यह है कि केवल इसी तरह के बँटवारे से वह उस वस्तु के उपभोग द्वारा सब से अधिक संतोष और उपयोगिता प्राप्त कर सकता है।

यदि उस के पास एक थान कपड़ा है तो वह उसे कुर्ते, टोपियां, चादर आदि में इस तरह बाँटेगा कि प्रत्येक प्रकार के उपयोग में होनेवाले उपभोग से समान ही सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। यदि वह कुर्ते अधिक बनवा ले और टोपियां और चादरें कम, तो सीमांत उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार कुर्तों की संख्या अधिक हो जाने से कुर्तों की सीमांत उपयोगिता कम हो जायगी। अस्तु कुल उपयोगिता को अधिक से अधिक परिमाण में प्राप्त करने के लिए उसे प्रत्येक प्रकार के सेवन में थान को इस तरह से बाँटना पड़ेगा कि प्रत्येक सेवन में सीमांत उपयोगिता बराबर बराबर रहे। इसी को समसीमांत उपयोगिता नियम, प्रतिस्थापन नियम, अथवा उदासीनता नियम कहते हैं। इसे समसीमांत नियम इस लिए कहते हैं कि वस्तु के प्रत्येक प्रकार के सेवन या उपयोग में सीमांत उपयोगिता प्रायः बराबर-बराबर रहती है। प्रतिस्थापन नियम इस लिए कहते हैं कि जिस सेवन या उपयोग या वस्तु से कम उपयोगिता प्राप्त होगी उस के स्थान पर ऐसे सेवन, उपयोग या वस्तु का प्रयोग होगा जिस से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो।

इसे उदासीनता-नियम इस लिए कहते हैं कि वस्तु के भिन्न-भिन्न सेवनों या उपयोगों में, या भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उपभोगों से जो सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है वह बराबर-बराबर रहती है। अस्तु, उपभोक्ता

इस असमंजस में पड़ जाता है कि किस उपयोग या वस्तु को स्वीकार करे और किसे त्याग दे। वस्तु या उपयोग के चुनने में उसे उदासीन हो जाना पड़ता है।

द्रव्य और समसीमांत उपयोगिता नियम

सभी की इच्छा होती है कि अपने द्रव्य को इस तरह ख़र्च किया जाय कि उस से अधिक से अधिक उपयोगिता और संतोष प्राप्त हो सके। यह तभी हो सकता है जब द्रव्य को विविध वस्तुओं के ख़रीदने में इस तरह लगाया जाय कि प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च किए गए अंतिम रुपए से बराबर-बराबर सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। प्रत्येक मनुष्य को अनेक वस्तुओं को अनेक मात्रा में ख़रीदना पड़ता है। अस्तु, उसे इस बात का विचार करना पड़ता है कि किस वस्तु से उसे कितना संतोष और उपयोगिता प्राप्त होगी। तुलना करने पर उसे जिस वस्तु से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती जान पड़ेगी, पहले वह उसी को ख़रीदेगा। किंतु कोई भी वस्तु, उस से पहले चाहे कितनी ही अधिक उपयोगिता क्यों न प्राप्त हो यदि अधिक मात्रा में ख़रीदी जायगी तो उस की उपयोगिता क्रमशः घटती जायगी। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को भिन्न-भिन्न वस्तुओं को उसी मात्रा में ख़रीदना चाहिए जिस से सब से प्राप्त होनेवाली कुल उपयोगिता सब से अधिक हो। ऐसा तभी हो सकेगा जब वह अपने रुपयों को प्रत्येक वस्तु पर इस प्रकार व्यय करे कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किए गए अंतिम रुपए की सीमांत उपयोगिता प्रायः बराबर हो। नीचे लिखे कोष्ठक से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

रुपया	वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता				
	अन्न	वस्त्र	घी	फल	दूध
पहला	१००	८०	७०	५०	५५
दूसरा	९०	७५	३०	३५	४०
तीसरा	६०	५०	२०	३०	३५

चौथा	४५	३०	१५	२५	३०
पाँचवां	३०	२०	१०	२०	२५
छठा	२०	१०	५	१०	२०
सातवां	१०	५	०	५	१५
आठवां	५	३	—५	३	१०
नवां	०	२	—१०	२	५
दसवां	—५	१	—१५	१	०
कुल उपयोगिता	३६५	२७६	१२०	१८१	२३५

मान लो किसी मनुष्य को दस रुपए ख़र्च करना है । उसे अन्न, वस्त्र घी, फल, दूध इन पाँच वस्तुओं पर दसों रुपए ख़र्च करना है । यदि वह अपने दसों रुपए केवल अन्न पर ख़र्च करे तो उसे सब मिला कर कुल ३६५ उपयोगिता प्राप्त होती है । इसी प्रकार केवल वस्त्र पर दसों रुपए ख़र्च करने से २७६, घी से १२०, फल से १८१, दूध से २३५ उपयोगिता प्राप्त होती है । किंतु यदि वह प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च किए गए प्रत्येक रुपए से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की तुलना करके इस प्रकार ख़र्च करता है कि प्राप्त वस्तु से उसे सब से ज़्यादा उपयोगिता प्राप्त हो तो कुल मिला कर सब वस्तुओं पर ख़र्च किए गए दस रुपयों से उसे कुल उपयोगिता ६६५ प्राप्त होती है । और चूँकि यह उन दस रुपयों के ख़र्च से प्राप्त होने वाली अधिक से अधिक उपयोगिता है, अस्तु वह इसी प्रकार तुलना कर के प्रत्येक वस्तु पर रुपया ख़र्च करके ६६५ उपयोगिता प्राप्त करेगा ।

वह तुलना इस प्रकार करेगा—पहले रुपए के व्यय से उसे अन्न से १०० उपयोगिता प्राप्त होती है जो अन्य किसी भी वस्तु से प्राप्त होने-वाली पहले रुपए की उपयोगिता से अधिक है । अस्तु वह पहला रुपया अन्न पर खर्च करेगा । दूसरा रुपया भी अन्न ही पर ख़र्च होगा, क्योंकि अन्न पर दूसरे रुपए के व्यय करने से ९० उपयोगिता प्राप्त होती है, जो

अन्य किसी भी वस्तु पर ख़र्च किए गए दूसरे रुपए के बदले में मिलने वाली उपयोगिता से अधिक है। तीसरा रुपया वस्त्र पर ख़र्च होगा, क्योंकि उस के एवज में ८० उपयोगिता प्राप्त होती है, जो तीसरे रुपए के अन्य किसी भी वस्तु पर ख़र्च से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक है। इसी प्रकार, चौथा रुपया भी वस्त्र पर ख़र्च होगा और उस से ७५ उपयोगिता प्राप्त होगी, जो अन्य किसी भी वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक है। पाँचवां रुपया घी पर ख़र्च होगा और उस से ७० उपयोगिता मिलेगी। छठा रुपया अन्न पर ख़र्च होगा और ६० उपयोगिता मिलेगी। सातवां रुपया दूध पर ख़र्च होगा और ५५ उपयोगिता मिलेगी। आठवां रुपया फल पर ख़र्च होगा और ५० उपयोगिता मिलेगी। नवां रुपया अन्न पर ख़र्च होगा और ४५ उपयोगिता मिलेगी। दसवां रुपया वस्त्र पर ख़र्च होगा और ४० उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार चार रुपए अन्न पर ख़र्च किए गए और उन से १०० + ९० + ६० + ४५ = २९५ उपयोगिता मिली। तीन रुपए वस्त्र पर व्यय हुए और उन से ८० + ७५ + ४० = १९५ उपयोगिता मिली। और बाक़ी तीन रुपयों में से एक रुपया घी पर, एक दूध पर और एक फल पर ख़र्च किया गया और क्रमशः ७०, ५५ और ५० उपयोगिता मिली। सब वस्तुओं से कुल मिला कर १०० + ९० + ६० + ४५ + ८० + ७५ + ४० + ७० + ५५ + ५० = ६६५ उपयोगिता मिली। यह उपयोगिता की अधिक से अधिक मात्रा है जो सम-सीमांत उपयोगिता नियम का ख़याल कर के प्राप्त की जा सकती है। पाँचों वस्तुओं पर बाँट कर रुपए इस तरह से ख़र्च किए गए कि प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च होनेवाले रुपए की सीमांत उपयोगिता बराबर रही। इस प्रकार ख़र्च करने से उसे एक रुपए के बदले में जो कम से कम उपयोगिता मिली वह है ४०। किंतु यदि वह किसी भी एक वस्तु पर दसों रुपए व्यय करता तो उसे प्रत्येक रुपए के लिए इस से भी कम उपयोगिता प्राप्त होती। यदि वह दसों रुपए अन्न पर ख़र्च करता तो सब मिला कर

उसे ३३५ प्राप्त होती; वस्तु पर ख़र्च करने से २७६; घी पर ख़र्च करने से १२०; फल पर ख़र्च करने से १८१; और केवल दूध पर ख़र्च करने से २३५ उपयोगिता कुल मिला कर प्राप्त होती। अस्तु कुल उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता दोनों ही बहुत कम होतीं।

प्रति दिन के जीवन में प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ इसी प्रकार की तुलना कर के सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार अपनी आवश्यकताओं की भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर कमोबेश रुपए ख़र्च करके अधिक से से अधिक संतोष और उपयोगिता पाने की चेष्टा करता है। यह ज़रूरी नहीं है कि वह हर समय इस तरह का कोष्ठक बना कर निश्चय करता हो या प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक रुपए के लिए प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा की ठीक-ठीक तुलना करता ही हो। पर रुपए ख़र्च करते समय हर एक आदमी सरसरी तौर से सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार यह तुलना ज़रूर कर लेता है कि किस वस्तु की कितनी मात्रा ली जाय और प्रत्येक वस्तु पर कितना रुपया ख़र्च किया जाय ताकि उसे अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सके।

इस नियम के संबंध में समय का ख़याल रखना बहुत ज़रूरी है। किस वस्तु से कितनी उपयोगिता मिलेगी, उस की कितनी मात्रा ली जाय और प्रत्येक वस्तु पर कितना ख़र्च किया जाय इस की तुलना और निर्णय एक ख़ास समय में हो जाना चाहिए। समय के बदलते ही प्रत्येक वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा भी बदल जायगी, घट-बढ़ जायगी और तुलना की ज़रूरत पड़ेगी।

भविष्य और वर्तमान की तुलना

जिस तरह मनुष्य इस बात की तुलना करता है कि किस वस्तु के कितनी मात्रा लेने से उसे अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सकेगी उसी तरह उसे इस बात की भी तुलना करनी पड़ती है कि वर्तमान समय में किए जाने वाले उपभोग या ख़र्च से प्राप्त होनेवाली कुल उपयोगिता से, भविष्य

में किए जानेवाले उपभोग या खर्च के द्वारा प्राप्त होनेवाली उपयोगिता में कितना अंतर है, दोनों में से किस का पलड़ा भारी पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य को भविष्य के लिए कुछ न कुछ बचाना ही पड़ता है। अस्तु, उसे यह तय करना पड़ता है कि कितना द्रव्य वर्तमान समय में खर्च किया जाय और कितना भविष्य के खर्च के लिए बचा कर रख दिया जाय ताकि वर्तमान और भविष्य दोनों समयों में मिलनेवाला संतोष और उपयोगिता मिल कर अधिक से अधिक हो। यह तुलना भी सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार ही होती है।

अध्याय २६

माँग और उस के नियम

प्रत्येक मनुष्य को विविध वस्तुओं की चाह या इच्छा होती है। किंतु केवल कोरी चाह या इच्छा ही से किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए, क़ब्जे में लाने के लिए, तीन बातों की ज़रूरत होती है: (१) उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा; (२) खरीदने के साधन और (३) उन साधनों को काम में लाने की मानसिक प्रेरणा। जिस इच्छा में ये तीनों बातें मौजूद हों उसी को अर्थशास्त्र में आवश्यकता (अथवा माँग या कारगर, प्रभावोत्पादक माँग) कहते हैं। आवश्यकता मनुष्य की वह इच्छा है जिस के लिए वह उद्योग और प्रयत्न करने तथा उस की पूर्ति के लिए उस के एवज़ में कुछ देने के लिए तैयार हो। आवश्यकता की तृप्ति-पूर्ति के गुण को उपयोगिता कहते हैं। और उपयोगिता अर्थात् आवश्यकता को तृप्त करनेवाली शक्ति मापी जाती है उस उद्योग के द्वारा जो उस की प्राप्ति के लिए किया जाय, अथवा उस क़ीमत से जो उस के पाने के लिए दी जाय। किसी आवश्यक वस्तु के प्राप्त करने के लिए जो अन्य वस्तु उस के बदले में दी जाती है वह उस आवश्यक वस्तु का मूल्य होती है और जो द्रव्य बदले में दिया जाता है उसे क़ीमत कहते हैं।

माँग से किसी आवश्यक, इच्छित वस्तु की उस मात्रा का बोध होता है जिसे कोई ख़ास क़ीमत पर ख़रीदने को तैयार हो। यदि कोई आदमी दस सेर चीनी चार आना सेर की दर से लेने को तैयार हो तो दस सेर चीनी उस की माँग होगी। माँग के साथ एक निश्चित क़ीमत का रहना

ज़रूरी है। कोई भी माँग बिना किसी ख़ास क़ीमत के कोई भी मतलब नहीं रखती। प्रत्येक माँग के साथ एक ख़ास क़ीमत जुड़ी रहती है। १०० किताबों, या १०० सेर चीनी की माँग तब तक बे मतलब होगी जब तक कि यह न कहा जाय कि दो रुपए फ़ी क़िताब या चार आने सेर के हिसाब से सौ किताबों या सौ सेर चीनी की माँग है। माँग के संबंध में पहली ज़रूरी बात है एक ख़ास क़ीमत का होना; माँग के संबंध में दूसरी ज़रूरी बात है समय। प्रत्येक माँग एक ख़ास समय में ही कारगर मानी जायगी।

अर्थशास्त्र में माँग के मतलब होते हैं वस्तुओं की प्राप्ति के लिए द्रव्य का दिया जाना। किसी वस्तु की माँग से उस वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राओं के लिए भिन्न-भिन्न क़ीमतों के दिए जाने का बोध होता है।

माँग के अनुसार क़ीमत

किसी एक वस्तु की किसी एक ख़ास मात्रा के लिए एक मनुष्य जितनी क़ीमत देने को तैयार होगा, उसे उस मात्रा की माँग के अनुसार क़ीमत कहते हैं। किसी मनुष्य की किसी वस्तु की माँग की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए यह जानना ज़रूरी होगा कि वह उस वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राओं के लिए कितनी-कितनी क़ीमतें देगा। अस्तु हमें उस की माँग के अनुसार सभी विभिन्न क़ीमतों को जानने की ज़रूरत पड़ेगी।

एक व्यक्ति की माँग

माँग	क़ीमत
२ सेर सेव—जब क़ीमत	१ रुपया सेर है
४ ,, ,, ,, ,,	८ आना ,, ,,
६ ,, ,, ,, ,,	४ ,, ,, ,,
८ ,, ,, ,, ,,	२ ,, ,, ,,

यदि सभी बीचवाली मात्राओं की उचित क़ीमतें भर दी जायँ ताकि माँग के अनुसार क़ीमतों की पूरी सूची तैयार हो जाय तो हमें उस मनुष्य की माँग की पूरी जानकारी हो जायगी। किसी मनुष्य की माँग

के अनुसार क़ीमतों की पूरी सूची को उस मनुष्य की माँग की सारिणी कहते हैं। माँग की सारिणी वह सूची है जिस में भिन्न-भिन्न क़ीमतों पर माँग की भिन्न-भिन्न मात्राएं दिखलाई गई हों।

ऊपर की सारिणी के देखने से पता चलता है कि जैसे-जैसे क़ीमत घटती है वैसे ही वैसे माँग बढ़ती है। और जैसे-जैसे क़ीमत बढ़ती है वैसे ही वैसे माँग घटती है। जब सेब की क़ीमत एक रुपए सेर है तो माँग की मात्रा केवल २ सेर है। जब क़ीमत आठ आना सेर हो जाती है तो माँग बढ़ कर ५ सेर हो जाती है। क़ीमत के २ आना सेर होने पर माँग ८ सेर पर पहुँच जाती है।

बाज़ार बहुत से व्यक्तियों के समूह से बनता है। बाज़ार में शामिल होनेवाले सभी व्यक्तियों की सम्मिलित माँगों से बाज़ार की माँग निर्धारित होती है।

बाज़ार की माँग

किंतु बाज़ार में बहुत तरह के व्यक्ति सम्मिलित हैं। कोई अमीर है, कोई ग़रीब, किसी की रुचि बहुत तीव्र होती है, किसी की कम तीव्र। किसी का स्वभाव एक तरह का है, किसी का दूसरी तरह का। पेशों में भी फ़र्क़ है। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि बाज़ार में जिन व्यक्तियों का समावेश किया जाता है उन की कोई सम्मिलित माँग निश्चित की जा सके। किंतु सब बातों का विचार करने पर यह मान लेने में कोई हानि नहीं होती कि भिन्न स्थिति, रुचि, स्वभाव, पेशा के मनुष्य सब मिल कर एक-दूसरे की कमी-बढ़ी और विभिन्नताएं परस्पर पूरी कर लेंगे और औसत लेने पर उन सब की एक सम्मिलित माँग निश्चित की जा सकेगी। बाज़ार में जिन मनुष्यों का समावेश किया गया है उन में से कुछ ऐसे निकलेंगे जिन्हें चीनी की बहुत अधिक आवश्यकता होगी, तो कुछ ऐसे भी होंगे जिन्हें बहुत कम। साथ ही कुछ ऐसे भी होंगे जिन्हें चीनी की आवश्यकता औसत दर्जे की जान पड़ेगी। अस्तु, पहले दो प्रकार के मनुष्य आपस में एक-दूसरे की कमी-बढ़ी की इस प्रकार पूर्ति कर देंगे कि

कुल का औसत लेने पर चीनी की साधारण आवश्यकता विदित हो जाय। इस प्रकार बाज़ार की माँग का निर्णय किया जा सकता है। बाज़ार के सभी व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न माँगों को जोड़ देने से बाज़ार की माँग निकल आती है।

माँग का नियम

अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, किसी वस्तु की क़ीमत में कमी होने पर (चाहे वह कमी कितनी ही कम क्यों न हो) बाज़ार में उस वस्तु की कुल माँग बढ़ जायगी, और इस तरह क़ीमत के बढ़ जाने पर बाज़ार में उस वस्तु की कुल माँग घट जायगी।

बाज़ार की माँग के अनुसार क़ीमतों की तालिका को बाज़ार की माँग की सारिणी कहते हैं।

यदि किसी बाज़ार के व्यक्तियों की संख्या १०,००० मान ली जाय तो, स्थिति, रुचि, स्वभाव, पेशा आदि की विभिन्नता रहने पर भी सब की औसत माँग एक औसत दर्जे के साधारण मनुष्य की व्यक्तिगत माँग के लगभग बराबर ही होगी। अस्तु कुल बाज़ार की माँग निकालने के लिए, एक ख़ास समय में, एक ख़ास कीमत पर, एक औसत दर्जे की माँग में उतने व्यक्तियों की संख्या से गुणा कर देना चाहिए। इसी तरह संख्या के गुणन द्वारा बाज़ार के माँग की सारिणी भी तैयार की जा सकती है। २०३ पृष्ठ की व्यक्तिगत सारिणी में १०००० का गुणा, कर देने से बाज़ार की सारिणी निकल आती है:—

१०००० × २ = २०००० सेर सेव माँग जब कि कीमत १ रुपया सेर है
१०००० × ४ = ४०००० ,, ,, ,, ,, ८ आना सेर है
१०००० × ६ = ६०००० ,, ,, ,, ,, ४ ,, ,, ,,
१०००० × ८ = ८०००० ,, ,, ,, ,, २ ,, ,, ,,

यदि बीचवाली सभी मात्राओं की उचित क़ीमतें भर दी जायँ तो एक ख़ास समय में, एक ख़ास स्थिति में, बाज़ार की माँग के अनुसार

क़ीमतों की पूरी सूची तैयार हो जायगी और इस प्रकार बाज़ार की माँग की पूरी जानकारी हो जायगी।

माँग की प्रबलता और प्रसार

जब हम पहली क़ीमत पर किसी वस्तु को अधिक मात्रा में ख़रीदते हैं अथवा पहले से अधिक क़ीमत पर पहले के बराबर मात्रा (या उस से अधिक मात्रा में) ख़रीदते हैं तो इस बढ़ी हुई माँग को माँग की प्रबलता कहते हैं। किंतु जब किसी वस्तु की क़ीमत के पहले से कम होने पर जो कुछ माँग बढ़ती है उसे माँग का प्रसार कहते हैं।

रीति, रिवाज, फ़ैशन आदि के बदलने से जब कोई वस्तु ज़्यादा चल पड़ती है अथवा स्वभाव, रुचि, स्थिति, आमदनी के बदल जाने से किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ जाती है तो पहली ही क़ीमत के रहने (या क़ीमत के बढ़ जाने पर भी) उस वस्तु की माँग बढ़ जाती है। इसी को माँग की प्रबलता कहते हैं।

माँग की शिथिलता और घटी

जब कोई वस्तु पहली ही क़ीमत पर कम परिमाण में बिकती है या क़ीमत के पहले से कम हो जाने पर भी पहले के बराबर मात्रा में या कम मात्रा में बिकती है तो तो इसे माँग की शिथिलता कहते हैं। ऐसा तभी होता है जब कोई वस्तु रिवाज, चलन, फ़ैशन आदि से निकल जाती है, अथवा रुचि, स्वभाव, आमदनी, स्थिति आदि में फ़र्क़ पड़ जाने से उस वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है।

जब क़ीमत के बढ़ने से किसी वस्तु की माँग में कमी आती है तो उसे माँग की घटी कहते हैं।

माँग का नियम

किसी वस्तु की क़ीमत के कम होने से उस वस्तु की ख़रीद की मात्रा बढ़ जाती है और किसी वस्तु की क़ीमत के बढ़ जाने से उस वस्तु की ख़रीद की मात्रा में कमी आजाती है। किसी वस्तु की माँग, क़ीमत कम होने से बढ़ जाती है और

क़ीमत के बढ़ जाने से कम होजाती है। माँग का घटना-बढ़ना क़ीमत के बढ़ने-घटने पर निर्भर रहता है।

जब आम आठ पैसे का एक मिलेगा तो बाज़ार में १०० आमों की माँग होगी। यदि चार पैसे का एक आम मिलने लगे तो बाज़ार में ५०० आमों की माँग होगी। यदि आम पैसे-पैसे को बिकने लगे तो १०००० आमों की माँग हो जायगी। किंतु यदि चार आने का एक आम हो तो शायद ४० आमों ही की माँग हो।

माँग का नियम सीमांत-उपयोगिता नियम और समसीमांत उपयोगिता नियम से निकला है। जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उस की सीमांत उपयोगिता कम होती जाती है। अस्तु, प्रत्येक बादवाली इकाई के लिए मनुष्य कम ही कम दाम देने को तैयार होगा क्योंकि प्रत्येक बादवाली इकाई से उसे कम ही कम उपयोगिता प्राप्त होगी। अस्तु, यदि क़ीमत कम हो जाय तो प्रत्येक मनुष्य किसी वस्तु की कुछ ज़्यादा इकाइयां लेने को राज़ी होगा क्योंकि उन के बदले में उसे कम क़ीमत देनी पड़ेगी। यह ऊपर वाले आमों के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। अस्तु, माँग का नियम सीमांत उपयोगिता के नियम पर निर्भर है।

समसीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार यह ज़रूरी है कि प्रत्येक मनुष्य तभी अपने द्रव्य या वस्तुओं के उपभोग से सब से अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सकता है जब वह इस तरह द्रव्य या वस्तुओं को विभिन्न उपयोगों में बाँट दे कि प्रत्येक उपयोग में लगाए गए रुपयों में से अंतिम रुपया या वस्तु की इकाईयों में से अंतिम इकाई की सीमांत उपयोगिता क़रीब-क़रीब बराबर हो यानी प्रायः सभी जगह समसीमांत उपयोगिता प्राप्त हो। इस नियम के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु के बदले में तब तक दी जायगी जब तक कि दोनों की इकाइयों की उपयोगिता बराबर-बराबर हो। जब बदले में दी जानेवाली एक वस्तु की सीमांत उपयो-

गिता दूसरी वस्तु की सीमांत उपयोगिता से कम होगी तो विनिमय बंद हो जायगा। एक आम के बदले में एक नारंगी तभी तक ली जायगी जब तक कि दोनों की उपयोगिता बराबर हो। यदि कोई एक आने का एक आम ख़रीदता है तो यह ज़रूरी है कि उसे उस आम से इतनी उपयोगिता प्राप्त हो जो एक आने से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता के बराबर हो। यदि एक आने से प्राप्त होने वाली उपयोगिता एक आम की उपयोगिता से अधिक होगी तो कोई भी समझदार आदमी एक आना देकर एक आम न ख़रीदेगा। यदि एक आम की उपयोगिता एक आना से अधिक होगी तो वह आदमी तब तक एकाएक आना देकर आम ख़रीदता जायगा जब तक कि आम की उपयोगिता एक आना की उपयोगिता के बराबर न आ जायगी।

क़ीमत में कमी और माँग की वृद्धि का संबंध

क़ीमत में कमी-बढ़ी होने और माँग के बढ़ने-घटने में कोई भी एक-सा आनुपातिक संबंध नहीं है। यदि क़ीमत आधी रह जाय तो यह ज़रूरी नहीं है कि माँग ठीक दूनी ही हो। माँग सवाई, ड्योढ़ी भी हो सकती है और चौगुनी, पँचगुनी या दसगुनी भी। इसी प्रकार क़ीमत के सवाई, दूनी होने पर माँग आधी तिहाई, पौनी हो सकती है। यह ज़रूरी नहीं है कि क़ीमत जिस हिसाब से घटे या बढ़े माँग उसी हिसाब से बढ़े या घटे, अर्थात् क़ीमत और माँग के घटने-बढ़ने में कोई आनुपातिक संबंध नहीं है।

सीमांत उपयोगिता और बाज़ार की दर

किसी वस्तु, की बाज़ार दर के उस वस्तु की प्रत्येक ख़रीदार के लिए व्यक्तिगत सीमांत उपयोगिता की माप हो जाती है। किंतु आमतौर पर बाज़ार के सभी ख़रीदारों के लिए कोई भी एक-सी सम्मिलित सीमांत उपयोगिता नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सीमांत खरीद एक ही या एक-सी नहीं होती। इस का कारण स्पष्ट

है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव, स्थिति, क्रयशक्ति भिन्न-भिन्न होती हैं।

ऊपर की तालिका में माँग के अनुसार वे क़ीमतें दी गई हैं जिन पर

प्रतियोगी वस्तु और माँग

एक बाज़ार में किसी एक ख़ास समय और ख़ास परिस्थित में किसी एक वस्तु की विभिन्न मात्राएं बेंची जायँगी। यदि किसी तरह से भी स्थिति में परिवर्तन होगा तो शायद क़ीमतें बदलनी पडेंगी। यदि रुचि, फ़ैशन, चलन में रद्दोबदल हो जाय अथवा प्रतियोगी वस्तु या वस्तुएं सस्ती हो जायँ अथवा नई प्रतियोगी वस्तु या वस्तुएं बाजार में आ जायँ तो पूर्व-कथित वस्तु की विभिन्न क़ीमतों में ज़रूर ही रद्दोबदल करनी पड़ेगी। यदि चीनी के स्थान में गुड़ या सेक्रीन के इस्तेमाल का रवाज चल पड़े या बढ़ जाय, अथवा कोई ऐसी नई वस्तु निकल आवे जो चीनी के स्थान में काम में लाई जा सके तो जिन क़ीमतों पर चीनी की विभिन्न मात्राएं ख़रीदी जाती थीं उन क़ीमतों में निश्चय ही रद्दोबदल करनी पड़ेगी।

अध्याय २७

वस्तुओं का विभाजन

प्रत्येक प्राणी अपना जीवन बनाए रखना चाहता है। शरीर को बनाए रखने के लिए भोजन, वस्त्र, सुरक्षित स्थान आदि बहुत ज़रूरी हैं। इन के बिना काम ही नहीं चल सकता। किंतु इन के उपभोग से मनुष्य का निर्वाह भर हो सकता है, इन के सेवन से शरीर और जीवन की रक्षा होती है। इसी से इन पदार्थों को जीवन-रक्षक पदार्थ कहते हैं। जीवन-रक्षक पदार्थ, चाहे मँहगे मिलें, चाहे सस्ते, एक ख़ास मात्रा में आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी को लेने पड़ते हैं। इन पदार्थों की क़ीमत बढ़ने पर भी इन की एक ख़ास माँग में कमी नहीं पड़ती क्योंकि इन की एक ख़ास मात्रा का लेना ज़रूरी है।

जीवन-रक्षक पदार्थ

जिन पदार्थों के सेवन से मनुष्य की कार्य करने की योग्यता, शक्ति, कुशलता, निपुणता, बल, उत्साह, आदि बढ़ें उन्हें निपुणता-दायक पदार्थ कहते हैं, जैसे पुष्टिकारक, स्वास्थ्य-वर्धक पदार्थ, उचित व्यायाम और मनोरंजन के साधन, शिक्षा आदि। निपुणता-दायक पदार्थों के सेवन में जो व्यय पड़ता है, उस के अनुमान में वह लाभ कहीं अधिक मूल्यवान होता है जो उतने पदार्थों के सेवन से प्राप्त होता है। इन की क़ीमत बढ़ जाने पर भी इन की माँग में वैसे बहुत कमी नहीं आती। किंतु क़ीमत बढ़ जाने पर निपुणता-दायक पदार्थों की माँग वैसी अपरिवर्तित नहीं रहती जैसी कि जीवन-रक्षक पदार्थों की। क़ीमत बढ़ने पर निपुणता-दायक पदार्थों की माँग में कुछ न कुछ कमी तो आती ही है।

निपुणता-दायक पदार्थ

जिन पदार्थों के उपभोग से शरीर को सुख और आराम तो मिलता है और निपुणता भी कुछ थोड़ी बढ़ती है किंतु जिस हिसाब से इन वस्तुओं के सेवन में ख़र्च पड़ता है उसी अनुपात में उन के उपभोग से निपुणता, योग्यता, शक्ति, उत्साह आदि नहीं बढ़ते। आराम की वस्तुओं की क़ीमत बढ़ जाने से उन की माँग में काफ़ी कमी आजाती है।

आराम की वस्तुए

जिन पदार्थों का सेवन सामाजिक चलन, रीति-रस्म, आचार-व्यवहार के दबाव, लोकनिंदा के भय या आदत पड़ जाने के कारण विवश होकर ज़रूर ही करना पड़ता है, पर जिन का सेवन जीवन-रक्षा, निपुणता प्राप्ति या आराम के लिए ज़रूरी नहीं है, उन्हें कृत्रिम आवश्कता की वस्तुएं कहते हैं। इन पदार्थों के सेवन से अकसर निपुणता, कार्य-कुशलता आदि कम हो जाती है। किंतु, इन का उपभोग इतना ज़रूरी समझा जाता है कि पैसे की कमी होने पर मनुष्य जीवन-रक्षक पदार्थों को कम मात्रा में लेकर भी उस मद से बचत करके इन पदार्थों को ज़रूर लेगा। इस कारण इन वस्तुओं की क़ीमत के बढ़ जाने पर भी इन की माँग में कमी नहीं आती। शराब, भंग, गाँजा, ताड़ी, तंबाकू, रीति-रस्म, उत्सवों आदि पर काम में लाई जाने वाली निश्चित वस्तुएं, ख़ास तरह की पोशाक, ज़ेवर आदि इसी तरह के पदार्थ हैं।

कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुए

जिन वस्तुओं के उपभोग से शान-शौकत, दिखावा आदि तो बढ़े पर जीवन-रक्षा, निपुणता, आराम से जिन का वैसा कोई संबंध न हो, उन्हें विलासिता की वस्तुएं कहते हैं। ऐसी वस्तुओं के उपभोग से निपुणता, कुशलता शक्ति, उत्साह आदि बढ़ने के बजाय प्रायः घटते हैं। आलीशान महल, बढ़िया शराब, तड़क-भड़क के वस्त्र ज़ेवर आदि इसी तरह की वस्तुएं हैं। इन की क़ीमत में थोड़ी भी कमी-बढ़ी होने से माँग बहुत बढ़ या कम हो जाती है।

विलासिता की वस्तुएं

कोई भी वस्तु अपने आप किसी भी वर्ग में नहीं रक्खी जा सकती।

परिस्थिति और वस्तुओं का विभाजन

देश, काल, समय, जलवायु, मनुष्य की आर्थिक-सामाजिक स्थिति, स्वभाव, आदत, फ़ैशन, रीति-रस्म, चलन, वस्तुओं की क़ीमत आदि पर वस्तुओं का विभाजन, वर्गीकरण निर्भर रहता है। उपभोक्ता की परिस्थिति के अनुसार वही एक वस्तु एक के लिए जीवन-रक्षक, दूसरे के लिए निपुणता-दायक, तीसरे के लिए विलासिता की वस्तु होगी। एक ऐसे डाक्टर के लिए जिसे प्रति दिन सैकड़ों रोगियों को दूर-दूर के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर देखना पड़ता हो मोटर आवश्यक वस्तु होगी। वही मोटर एक वकील के लिए आराम की वस्तु और एक मामूली आदमी के लिए या मज़दूर के संबंध में विलासिता की वस्तु ठहरेगी। आदत पड़ जाने के कारण बिजली का पंखा एक धनी आदमी को केवल आराम की वस्तु होगी, किंतु एक मामूली किसान के लिए वह विलासिता की वस्तु समझी जायगी।

किसी मनुष्य के रहन-सहन के दर्जे या आमदनी के बदल जाने, समय के बदलने, या चलन-फ़ैशन के परिवर्तन से या क़ीमत के कमोबेश होने पर एक ही वस्तु एक समय विलासिता की वस्तु, दूसरे समय आराम की वस्तु, बाद में निपुणता-दायक या जीवन-रक्षक पदार्थ मानी जा सकती है।

विलासिता की वस्तुएं आमतौर पर अनावश्यक, व्यर्थ और अनुचित तथा हानिकारक मानी जाती हैं। किंतु कुछ मनुष्य विलासिता की वस्तुओं को भी हितकर बतलाते हैं। साधारणतः उपभोक्ताओं में तीन तरह के मनुष्य होते हैं। एक तो वे जो केवल अपने स्वार्थ और सुख की दृष्टि से विचार कर सकते हैं। उन का कहना है कि जब हमारे पास द्रव्य और साधन हैं तो हम क्यों न खुल कर मौज लूट लें? हमें दुनिया के किसी अन्य प्राणी के सुख-दुःख से क्या वास्ता? अपना-अपना सब देखें। जब हमें किसी बात की ज़रूरत पड़ती है तो क्या हमारी ज़रूरत पूरी करने

कोई दूसरा आता है, जो हम दूसरों के पीछे अपना सुख हराम करते घूमें ? इन के ख़याल में विलासिता कोई बुरी बात न होकर ज़रूरी है। दूसरे तरह के मनुष्य समझदारी से चलनेवाले होते हैं जो न तो बहुत विलासिता ही चाहते और न एकदम उस का अभाव ही। इन की राय में इतनी विलासिता बुरी नहीं (बल्कि ज़रूरी है) जो आसानी से निभ सके। तीसरे दर्जे में वे हैं जो यह देख कर चलना चाहते हैं कि उन के कामों और ख़र्चों का दूसरे मनुष्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसे मनुष्यों में से कुछ विलासिता को ठीक नहीं समझते। किंतु इन में कुछ ऐसे भी हैं जिन के विचार से विलासिता के कारण अनेक लाभ संसार को पहुँचते हैं। इन के विचार से लाभ ये हैं:—

(१) विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से उद्योग-धंधों और व्यापार-वाणिज्य को उत्तेजना प्राप्त होती है प्रोत्साहन मिलता है, और इस प्रकार अनेक ग़रीब बेकारों को काम मिलता है।

(२) विलासिता की वस्तुएं ऊँचे दर्जे की चीज़ें होती हैं, अस्तु उन के बनानेवालों को अधिक सुरुचिपूर्ण, संस्कृत, दक्ष और उच्च श्रेणी का होना ज़रूरी है। अस्तु, विलासिता के कारण उन्नति और सुसंस्कृति की वृद्धि होती है।

(३) जिन के पास अधिक धन होता है वे ही विलासिता की वस्तुओं का इस्तेमाल कर सकते हैं। यदि वे इन वस्तुओं को न लें तो उन के पास का धन व्यर्थ में उन के पास पड़ा रहे। इस से समाज को हित के बजाय हानि हो। विलासिता की वस्तुएं ख़रीदने के कारण उन के हाथ से निकल कर द्रव्य समाज के उन व्यक्तियों के हाथों में आ जाता है जिन के द्वारा उस का अधिक उपयुक्त उपयोग होता है। अस्तु, विलासिता की वस्तुओं के कारण समाज को लाभ ही होता है।

(४) विलासिता के द्वारा उन्नति को प्रोत्साहन मिलता है। नई-नई वस्तुएं और उन के बनाने के लिए मशीनों का आविष्कार किया जाता है।

उत्पादन के साधनों में सुधार होता है। इन सब बातों से देश और समाज का हित होता है।

(५) विलासिता की वस्तुओं से मनोरंजन और सुख मिलने के कारण थकावट, जीवन की नीरसता, एकरसता दूर होती और नई स्फूर्ति और कार्य-शक्ति प्राप्त होती है। अस्तु सभी के लिए किसी न किसी रूप में विलासिता की वस्तुएं लाभदायक हैं।

(६) दूसरों को विलासिता की वस्तुओं का उभोग करते देख ग़रीबों को उन्नति करने और अधिक कुशलता प्राप्त कर के अधिक द्रव्य कमा कर उन वस्तुओं का उपभोग करने का प्रोत्साहन मिलता है। इस कारण उन व्यक्तियों का तथा देश और समाज का बड़ा लाभ होता है।

(७) जो विलासिता की वस्तुओं का सेवन करते हैं। उन का रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊंचा होता है। अस्तु, वे अपने रहन-सहन के दर्जे को क़ायम रखने के ख़याल से कम बच्चे पैदा करते हैं। इस से व्यर्थ की जन-संख्या नहीं बढ़ने पाती।

(८) विलासिता की कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिन के रूप में मनुष्य भविष्य के लिए धन संग्रह कर के आकस्मिक आवश्यकता तथा भविष्य की ज़रूरत के लिए अनायास ही प्रबंध कर सकता है, जैसे बहुमूल्य रत्न, ज़ेवर, फ़रनीचर, महल, कोठी आदि जिन्हें बेंच कर वक्त ज़रूरत वह रुपया खड़ा कर सकता है।

(९) केवल विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से ही सामाजिक, औद्योगिक, व्यापारिक तथा आर्थिक उन्नति हो सकती है और मज़दूर आदि हर प्रकार के मनुष्यों को अधिकाधिक काम दिया जा सकता है, क्योंकि केवल विलासिता की वस्तुएं ही ऐसी होती हैं जिन की आवश्यकता दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ सकती है, न कि जीवन-रक्षक, निपुणता-दायक पदार्थों की। कारण कि एक ख़ास मात्रा के बाद इन पदार्थों से पूर्ण तृप्ति प्राप्त हो जाती है और उन का और अधिक उपभोग नहीं किया जा सकता। किंतु

विलासिता की वस्तुओं के उपभोग का कोई अंत नहीं। दूसरे, वे वस्तुएं नित नई और अपरिमित आकार-प्रकार, रंग-रूप में बनाई जा सकती हैं और उन नई-नई वस्तुओं के द्वारा नई-नई विलासिता की आवश्यकताएं उत्पन्न की जा सकती हैं। इस प्रकार मानव समाज की उन्नति और सभ्यता का विकास विलासिता की वस्तुओं द्वारा ही हो सकता है और उद्योग, व्यापार, उत्पादन को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

उपर्युक्त तर्क ऊपर से बहुत ठोस जान पड़ते हैं और ऐसा मालूम होने लगता है कि विलासिता कोई बुरी बात न हो कर समाज और उन्नति के लिए बहुत ज़रूरी है। किंतु विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि तर्क थोथे हैं और उन में तथ्य नहीं है। ऊपर के तर्कों के उत्तर इस प्रकार हैं:—

(१) एक ख़ास समय में किसी समाज के श्रम, पूँजी आदि उत्पादक साधन एक परिमित मात्रा ही में रहते हैं। इन्हीं साधनों के उपयोग से समाज का उस समय का सारा उत्पादन कार्य चलता है। यदि विलासिता की वस्तुएं बनाई जाने लगेंगी तो उस श्रम, पूँजी आदि का एक ख़ासा भाग ज़रूरी वस्तुओं के उत्पादन से हट कर विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में लगेगा। इस से समाज के लिए जो अधिक उपयोगी वस्तुएं हैं उन के उत्पादन में कमी पड़ेगी। अस्तु समाज को हानि होगी। अस्तु यह कहना कि विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन से उद्योग व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है, ठीक नहीं है।

(२) विलासिता की वस्तुओं के सेवन में जो धन लगाया जाता है उसे यदि अन्य उपयोगी कामों में लगाया जाय तो देश, समाज और धन लगानेवाले व्यक्ति सभी का लाभ हो।

(३) यह ज़रूरी नहीं है कि जो भी आविष्कार, सुधार, होते हैं वे सभी विलासिता की वस्तुओं के कारण होते हैं।

(४) विलासिता के कारण शक्ति, योग्यता, उत्साह का ह्रास होता है और आलस्य और निकम्मापन आता है।

(५) जब देश में लाखों, करोड़ों व्यक्तियों को जीवन-रक्षक पदार्थ पूरी मात्रा में नहीं मिलते हैं तब थोड़े से आलसियों के लिए विलासिता की वस्तुओं के बनाने में व्यर्थ श्रम और पूँजी आदि फँसाना बड़ा अन्याय होगा। पहले देश के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-रक्षक, निपुणता-दायक वस्तुओं का पूरी मात्रा में मिलने का प्रबंध होना ज़रूरी है।

(६) धन-संग्रह विलासिता की वस्तुओं के बिना भी अन्य साधनों द्वारा हो सकता है। अस्तु विलासिता में व्यर्थ धन फूँकना उचित नहीं है।

(६) उन्नति के लिए विलासिता की वस्तुओं का होना ज़रूरी नहीं है। निपुणता-दायक पदार्थ और आराम की वस्तुओं से भी वही मक़सद पूरा होता है।

अध्याय २८

माँग की लोच

माँग की लोच क्या है ?

साधारणतः किसी वस्तु की क़ीमत जब घट जाती है तो उस की माँग बढ़ जाती है और जब उस की क़ीमत बढ़ जाती है तो उस की माँग घट जाती है। क़ीमत में परिवर्तन हो जाने से उस वस्तु की माँग में भी परिवर्तन हो जाता है। यह माँग का एक ख़ास गुण है। माँग के इस गुण को "माँग की लोच" कहते हैं। जब किसी वस्तु की क़ीमत में थोड़ी घटी-बढ़ी आ जाने से उस वस्तु की माँग में काफ़ी बढ़ी-घटी आ जाती है तो कहा जाता है कि उस वस्तु की माँग लोचदार है।

जैसे-जैसे हमारे पास किसी एक वस्तु का परिमाण या संग्रह बढ़ता जाता है, अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, वैसे ही वैसे उस वस्तु के लिए हमारी चाह या आवश्यकता कम होती चली जाती है। कुछ वस्तुएं तो ऐसी होती हैं कि उन के परिमाण या संग्रह के बढ़ने से (उन से संबंध रखनेवाली) हमारी आवश्यकता, बहुत तेज़ी से कम होती जाती है; किंतु कुछ ऐसी भी होती हैं जिन के परिमाण के बढ़ते जाने पर उन के संबंध की चाह या आवश्यकता कम तो होती जाती है पर बहुत धीरे-धीरे। यदि हमारी चाह या आवश्यकता धीरे-धीरे कम होगी तो उस वस्तु की क़ीमत में थोड़ी भी कमी होने से हमारी माँग अधिक बढ़ जायगी और क़ीमत यदि थोड़ी भी बढ़ी तो माँग बहुत घट जायगी। ऐसी दशा में कहा जायगा कि माँग अधिक लोचदार है। यदि उस वस्तु के परिमाण या संग्रह के बढ़ने पर साथ ही साथ उस वस्तु के लिए हमारी चाह या आवश्यकता

तेज़ी से कम होती है तो उस वस्तु की क़ीमत के घटने पर उस की माँग बढ़ेगी, पर बहुत कम और उस की क़ीमत के बढ़ जाने पर उस की माँग घटेगी, पर ज़्यादा नहीं। ऐसी दशा में कहा जायगा कि उस वस्तु की माँग में कम लोच है, माँग कम लोचदार है।

यदि एक वस्तु की क़ीमत में कुछ कमी होने से माँग अधिक लोचदार होगी तो उसी वस्तु की क़ीमत के बढ़ने पर भी माँग अधिक लोचदार होगी। (१) जब किसी एक क़ीमत पर माँग में अधिक लोच होगी (माँग अधिक घटे या बढ़ेगी) तो कहा जाता है कि माँग अधिक लोचदार है; (२) जब किसी एक क़ीमत पर माँग में कम लोच होगी (माँग कम घटे या बढ़ेगी) तो कहा जाता है कि माँग कम लोचदार है।

लोच क़ीमत के साथ बदलती रहती है। आमतौर पर किसी एक श्रेणी के मनुष्य के लिए किसी वस्तु की माँग की लोच ऊँची क़ीमत पर अधिक, मध्यम क़ीमत पर अधिक या काफ़ी ज़्यादा होगी, और जैसे-जैसे क़ीमत कम होती जायगी वैसे-वैसे लोच में कमी आती जायगी और अंत में क़ीमत में इतनी कमी आ जायगी कि उस श्रेणी के सभी व्यक्तियों की तृप्ति हो जायगी तो माँग की लोच धीरे-धीरे लुप्त हो जायगी।

लोच का नियम

माँग की लोच के संबंध में यह बात जान लेनी ज़रूरी है कि प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिए ऊँची, मध्यम और कम क़ीमतों की सतह अलग-अलग होती है। जो क़ीमत ऊँचे दर्जे या श्रेणी के लिए कम होगी वही क़ीमत मज़दूर श्रेणी वालों के लिए बहुत ऊँची क़ीमत होगी और मध्यम श्रेणी वालों के लिए काफ़ी ज़्यादा क़ीमत होगी। दो रुपए सेर बादाम धनी लोगों के लिए साधारण क़ीमत का मध्यम श्रेणी वालों के लिए काफ़ी ऊँची क़ीमत का, और ग़रीब मज़दूर श्रेणी वालों के लिए बहुत अधिक क़ीमत का माना जायगा। ऊँची, मध्यम, या कम क़ीमत स्वतंत्र रूप से कुछ मतलब नहीं रखती। किसी भी क़ीमत का ऊँची मध्यम या

या कम होना प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य के संबंध पर निर्भर है। एक ही क़ीमत धनी के लिए कम लेकिन मज़दूर के लिए ऊँची होगी।

माँग की लोच से संबंध रखने वाले नियम

भिन्न-भिन्न वस्तुओं की माँग की लोच भिन्न-भिन्न होती है और एक ही वस्तु की माँग की लोच भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न होती है। आगे विभिन्न वस्तुओं तथा मनुष्यों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों को लेकर प्रत्येक के संबंध में माँग की लोच का अलग-अलग विवेचन किया जाता है। इस प्रकार के विवेचन से माँग की लोच से संबंध रखने-वाले नियम स्पष्ट हो जायँगे।

बहुत क़ीमती विलासिता की वस्तुएं

बहुत क़ीमती विलासिता की वस्तुओं की क़ीमत में कुछ कमी होने पर इन की माँग धनी लोगों में बढ़ जायगी अस्तु धनी वर्ग के लिए अधिक मूल्य वाली विलासिता की वस्तुओं की माँग काफ़ी लोचदार होती है। यदि मोटरों के दाम ४०००) के बजाय ३०००) हो जायँ तो धनी लोगों में मोटरों की माँग पहले से अधिक हो जाय। पर ग़रीबों के लिए ऐसी क़ीमती वस्तुओं की माँग, क़ीमत इस प्रकार घटने पर भी, बिल्कुल बे-लोच होगी, क्योंकि वे उतने दामों पर भी उन वस्तुओं को ख़रीदने की शक्ति नहीं रखते। क़ीमती वस्त्र, ज़ेवर रत्न, महल आदि इसी तरह की वस्तुएं हैं जिन के दाम यदि कुछ घट जायँ तो उन वस्तुओं के लिए ग़रीबों की माँग में कोई लोच न आ सकेगी, हालाँकि अमीरों की माँग बढ़ जायगी। अमीरों के लिए उस माँग में लोच होगी।

कुछ कम क़ीमती विलासिता की वस्तुए

कुछ कम क़ीमती विलासिता की वस्तुओं की क़ीमत यदि कुछ घट जाय तो अमीरों और ग़रीबों की माँग में कुछ फ़र्क़ न पड़ेगा, वह लोचदार न होगी, क्योंकि उस वस्तु की जितनी मात्रा अमीरों को लेनी थी उतनी पहले ही ले चुके थे। अस्तु उन की तृप्ति हो चुकी थी। इस

कारण क़ीमत के घटने पर उन की माँग न बढ़ेगी। और ग़रीबों के लिए यह घटी हुई क़ीमत भी ऊँची क़ीमत ठहरेगी। अस्तु, वे इस घटी हुई क़ीमत पर भी उस वस्तु को ख़रीद न सकेंगे। हां मध्यम श्रेणी के लोगों की माँग ज़रूर बढ़ेगी, क्योंकि वे इस से ऊँची क़ीमत पर उस वस्तु को ले न सकते थे, या कम मात्रा में ले सकते थे, अस्तु मध्यम श्रेणी के लोगों की माँग लोचदार होगी।

इसी प्रकार बहुत कम क़ीमत की विलासिता की वस्तुओं के लिए ग़रीब श्रेणी वालों की माँग सब से ज़्यादा बढ़ेगी; मध्यम श्रेणी वालों की माँग ग़रीबों की माँग से कुछ कम और अमीरों की माँग बिल्कुल न बढ़ेगी।

जीवन-रक्षक पदार्थ

आम तौर से जीवन-रक्षक पदार्थों की माँग कम लोचदार या बे-लोच मानी जाती है। इस का कारण यह है कि जीवन-रक्षक पदार्थों का लेना सभी के लिए ज़रूरी होता है। अस्तु, कोई भी क़ीमत हो, अमीर-ग़रीब सभी को अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए जीवन-रक्षक पदार्थों की पर्याप्त मात्रा लेनी ही पड़ती है। अस्तु, जीवन-रक्षक पदार्थों की क़ीमत घट जाने पर भी माँग में वैसा कोई रद्दोबदल नहीं होता; क्योंकि क़ीमत की घटी के पहले ही आमतौर पर उन की इतनी मात्रा ख़रीदी जाती है जो तृप्ति की दशा तक पहुँच जाती है।

यह बात उन संपन्न देशों के बारे में अधिक लागू होती है, जहां ग़रीब श्रेणीवाले भी इतने संपन्न होते हैं कि वे जीवन-रक्षक पदार्थों को पर्याप्त मात्रा में ले सकें। किंतु भारत ऐसे ग़रीब देश में यह बात नहीं है। यहां ग़रीब और नीची मध्यम श्रेणी वालों को जीवन-रक्षक पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होते। अस्तु, ग़रीब देशों में जीवन-रक्षक पदार्थों की क़ीमत में कमी होने से ग़रीब और नीची मध्यम श्रेणियों के मनुष्यों की माँगें बहुत बढ़ जायँगी। अस्तु जीवन-रक्षक पदार्थों की माँग भी ग़रीबों और नीची मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए लोचदार होती है।

जो वस्तुएं जीवन-रक्षा के लिए ज़रूरी नहीं हैं उन की माँग आम तौर

पर अधिक लोचदार होती है। बढ़िया मकान, वस्त्र, फ़रनीचर, सवारी, व्यंजन आदि ऐसी ही वस्तुएं हैं जिन की माँग अधिक लोचदार होती है।

अभ्यास और लोच

जिन पदार्थों के सेवन का अभ्यास पड़ जाता है वे जीवन-रक्षक पदार्थ न होने पर भी ज़रूर ख़रीदे जाते हैं। अस्तु उन की माँग में लोच नहीं रह जाती।

एक वस्तु के विभिन्न उपयोग और लोच

जिन वस्तुओं का उपयोग एक से अधिक कामों के लिए होता है उन की माँग लोचदार होती है। क्योंकि क़ीमत के घटने-बढ़ने से विभिन्न उपयोगों के लिए वह वस्तु अधिक या कम मात्रा में ली जायगी।

प्रतियोगी वस्तुए और माँग

जिस वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तु या वस्तुएं उपयोग में लाई जा सकती हैं उस की माँग काफ़ी लोचदार होती है। कारण कि उस वस्तु की क़ीमत में कमी होने से अन्य प्रतियोगी वस्तुओं के मुक़ाबले में वह अधिक ली जायगी। और क़ीमत के बढ़ जाने पर अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले में वह वस्तु कम ली जायगी, क्योंकि अन्य प्रतियोगी वस्तुएं सस्ती होने से अनुपात में अधिक ख़रीदी जायँगी। गेहूँ और चावल दोनों भोजन के काम में आते हैं। यदि गेहूँ सस्ता हो जाय तो पहले से ज़्यादा ख़रीदा जायगा।

संपत्ति के वितरण का लोच पर प्रभाव

आम तौर पर समाज के विभिन्न व्यक्तियों में संपत्ति का जितना ही अधिक समान वितरण होगा माँग उतनी ही अधिक लोचदार होगी। इस के विपरीत संपत्ति का वितरण जितना ही असम होगा, यानी समाज के कुछ व्यक्ति बहुत धनी होंगे कुछ बहुत ग़रीब, तो माँग की लोच उतनी ही कम होगी।

माँग की लोच नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहती है :—

(१) जिन वस्तुओं के प्रतियोगी पदार्थ न होंगे उन की लोच कम होगी। क्योंकि बिना उन के काम न चलेगा अस्तु उन का लेना ज़रूरी होगा। नमक के स्थान में कोई दूसरी चीज़ से काम नहीं चल सकता।

अस्तु नमक की माँग कम लोचदार है। चीनी का काम सेक्रीन, गुड़, राब आदि से चल जाता है, अस्तु चीनी की माँग में ज़्यादा लोच होता है।

(२) जिन वस्तुओं की आवश्यकता जितनी ही ज़्यादा होगी उन की माँग में उतनी ही कम लोच होगी। जीवन-रक्षक पदार्थ की माँग बेलोच या कम लोचदार होती है, कारण कि अत्यंत आवश्यक होने से लोग उन्हें वैसे ही ज़्यादा से ज़्यादा परिमाण में ख़रीदने के लिए बाध्य होते हैं।

(३) जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति की कुल आमदनी का जितना ही कम हिस्सा ख़र्च होगा उस की माँग में उतनी ही कम लोच होगी। दियासलाइयों की क़ीमत बहुत ही कम हो जाय तो भी माँग एक हद से ज़्यादा न बढ़ सकेगी।

(४) जब कोई एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन या तैयारी में काम में लाई जाती है तो उस पर कुल लागत का जितना ही कम भाग ख़र्च होगा उतनी ही कम लोच उस की माँग में होगी। कोट कमीज़ के बटनों की माँग बहुत लोचदार न होगी, क्योंकि कपड़े और सिलाई के मुकाबले में कुल ख़र्च का एक बहुत ही छोटा हिस्सा बटनों पर सर्फ़ किया जाता है।

(५) जो वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ मिल कर उपयोग में लाई जाती हो उस वस्तु की माँग की लोच साथवाली वस्तुओं की माँग की लोच पर कुछ अंशों में निर्भर रहती है, क्योंकि उन वस्तुओं के अधिक काम में आने पर यह वस्तु भी अधिक माँगी जायगी, और अन्य वस्तुओं के कम माँगे जाने पर यह वस्तु भी कम मात्रा में माँगी जायगी।

लोच की माप

क़ीमत में रद्दोबदल होने पर भी यदि किसी वस्तु के ख़रीदने में उतना ही द्रव्य ख़र्च किया जाता हो जितना कि क़ीमत के बदलने के पहले तो उस वस्तु की माँग की लोच एक के बराबर मानी जाती है। क़ीमत में रद्दोबदल होने पर जब किसी एक वस्तु पर ख़र्च किए गए कुल द्रव्य की तादाद (पहले होने वाले ख़र्च के

मुक़ाबले में) बढ़ जाती है तो कहा जाता है कि माँग की लोच इकाई से अधिक है; और यदि कुल खर्च घट जाता है तो कहा जाता है कि लोच इकाई से कम है। यह नीचे वाले कोष्टक से स्पष्ट हो जाता है।

ख़रीद के मनों की संख्या	क़ीमत रुपयों में	कुल खर्च	लोच
१	३०	३०	
२	१५	३०	१
३	१०	३०	
४	७½	३०	
५	७	३५	१ से अधिक
६	६	३६	
७	४	२८	
८	३	२४	१ से कम

ऊपर के कोष्ठक में यह दिखलाया गया है कि जब क़ीमत ३० रुपए मन है तब एक मन वस्तु ख़रीदी जाती है। जब कीमत १५ रुपए मन हो जाती है, तब वह वस्तु दो मन ख़रीदी जाती है। कुल तीस रुपए ही ख़र्च किए जाते है। भाव १० रुपए मन और ७२ रुपए मन होने पर भी कुल ख़र्च पूर्ववत् रहता है केवल वस्तु की ख़रीद का परिमाण बढ़ जाता है। यहां तक माँग की लोच १ बराबर रहती है। किंतु जब क़ीमत ७ रुपए मन हो जाती है तब वस्तु की ख़रीद का परिमाण तो बढ़ता ही है साथ ही उस पर होनेवाला कुल ख़र्च भी बढ़ जाता है। अस्तु ७ रुपए और ६ रुपए मन का भाव रहने पर लोच इकाई से अधिक रहती है। किंतु जब भाव ४ रुपए और ३ रुपए मन हो जाता है तब वस्तु की ख़रीद का परिमाण तो बढ़ता है किंतु कुल ख़र्च का परिमाण घट जाता है। अस्तु माँग की लोच इकाई से कम ठहरती है।

माँग की लोच मापने के लिए यह देखना पड़ता है कि वस्तु की क़ीमत में प्रतिशत कितना बदलाव हुआ और इस अंतर के कारण वस्तु की माँग की मात्रा में कितना अंतर पड़ा। इन दोनों अंतरों का आपस में जो संबंध

है वहीं उस वस्तु की माँग की लोच होगी। यदि क़ीमत में ५ प्रतिशत कमी हुई और इस के कारण माँग में १० प्रतिशत कमी हुई तो माँग की लोच $\frac{२}{१}$ = २ हुई।

किसी वस्तु की क़ीमत कम होने पर भी थोड़े समय में उस की माँग पर उतना असर नहीं पड़ता जितना कि अधिक समय बीतने पर पड़ता है, क्योंकि लोगों को फ़ौरन ही क़ीमत की कमी-बढ़ी का पता नहीं चलता। अस्तु माँग में भी जल्दी बढ़ी-कमी नहीं होती। अस्तु कम समय में माँग की लोच दूसरी होती है, और अधिक समय में और ही माँग की लोच के संबंध में ठीक अनुमान करने के लिए क़ीमत के बहुत थोड़े परिवर्तन को लेकर यह देखना ज़रूरी है कि उस का माँग पर क्या प्रभाव पड़ता है, माँग में कितनी घटी-बढ़ी आती है।

समय और लोच

सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही रूपों में माँग की लोच से बड़ी सहायती मिलती है। लोच से इस बात का पता लग जाता है कि क़ीमत के परिवर्तन से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संबंध में विभिन्न दर्जे के मनुष्यों की माँगों पर क्या-कैसा प्रभाव पड़ता है। माँग की लोच जान लेने पर उत्पादकगण, और ख़ास कर एकाधिकारी उत्पादक यह निर्णय कर सकते हैं कि किस क़ीमत पर बेंचने से माल सब से अधिक बिकेगा, और किस क़ीमत पर बेंचने से उन्हें सब से अधिक लाभ हो सकेगा। जिस वस्तु की माँग में कम लोच हो उस वस्तु की क़ीमत मन-मानी रख कर एकाधिकारी उत्पादक बेहद लाभ उठा सकते हैं।

किसी देश की सरकार को कर लगाते समय माँग की लोच का ख़याल रखना बहुत ज़रूरी होता है। जिन वस्तुओं की माँग कम लोचदार हो उन पर लगाए गए कर से सरकार को अधिक आमदनी हो सकती है, क्योंकि कर लगने पर क़ीमत के बढ़ जाने से भी माँग में वैसी ज़्यादा कमी न पड़ेगी, इस के विपरीत यदि माँग ज़्यादा लोचदार हुई तो कर लगने पर क़ीमत बढ़ते ही माँग में काफ़ी कमी पड़ जायगी। अस्तु, सरकार को कम

माल पर कर मिलेगा और इस प्रकार उस कर से आमदनी कम होगी।

इस के साथ ही सरकार को किसी वस्तु पर कर लगाते समय यह भी ख़याल रखना ज़रूरी है कि उस वस्तु से ग़रीबों का क्या-कैसा संबंध है। यदि माँग की लोच ग़रीबों के लिए भी अधिक हो तो उस वस्तु पर लगाए गए कर से ग़रीबों को हानि उठानी पड़ेगी, क्योंकि या तो उस कर का भार ग़रीबों पर पड़ेगा, या वे उस वस्तु का ख़रीदना कम कर देंगे। अस्तु, यदि वह वस्तु जीवन-रक्षक या निपुणता-दायक पदार्थ है तो ग़रीबों को कर से बहुत हानि उठानी पड़ेगी।

अध्याय २९

उपभोक्ता की बचत

एक आदमी इलाहाबाद में रहता है। उस का भाई मदरास में है। वह आदमी अपने भाई को कुछ समाचार देना चाहता है। वह एक आने के लिफ़ाफ़े में रख कर डाक द्वारा पत्र भेजता है। यदि उसे एक लिफ़ाफ़ा एक आने में न मिलता तो वह एक रुपया तक उस पत्र को भेजने के लिए दे देता। किंतु वर्तमान परिस्थिति के कारण उस का काम एक आना में ही चल जाता है। अस्तु लिफ़ाफ़े को इतना सस्ता ख़रीदने के कारण उसे उस से कुछ अधिक उपयोगिता मिलती है जितना कि वह असल में दामों के रूप में देता है। यानी उस लिफ़ाफ़े को एक आना में ख़रीद कर वह नफ़े में रहता है, उसे उपयोगिता में कुछ बचत होती है। वह असल में एक आना देता है। पर यदि उसे इतने सस्ते में लिफ़ाफ़ा न मिलता तो वह समाचार भेजने के लिए एक रुपया तक दे देता। यानी उसे उस लिफ़ाफ़े की उपयोगिता १६ आना के बराबर मालूम पड़ी, किंतु देना पड़ा केवल एक आना। अस्तु, उसे १५ आना के बराबर की उपयोगिता की बचत हुई। यही बचत 'उपभोक्ता की बचत' कहलाती है। एक मनुष्य एक वस्तु की एक ख़ास मात्रा के प्राप्त करने के लिए जितना द्रव्य देने को तैयार हो सकता है और जितना द्रव्य असल में वह उस मात्रा के लिए देता है, उन के अंतर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं। इलाहाबाद वाला आदमी एक लिफ़ाफ़े के लिए १६ आना तक देने को तैयार हो जाता। पर उस ने असल में दिया एक ही आना। इस प्रकार १५ आना उस के लिए उपभोक्ता की बचत हुई।

'उपभोक्ता की बचत' प्रत्येक मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक

वातावरण, उस की आस-पास की स्थिति पर निर्भर रहती है। सभ्यता की वृद्धि और उन्नति के कारण अनेक देशों में अख़बार, पोस्टकार्ड, लिफ़ाफ़े, नमक, सवारियां, मनोरंजन के साधन आदि विविध प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं उन दामों से बहुत सस्ते में, आसानी से प्राप्त हो जाती हैं जितना कि आम तौर पर लोग उन के लिए देने को तैयार हो सकते। अस्तु, इन देशों के निवासियों को परिस्थितियों के कारण अपने प्रति-दिन के उपभोग की अनेक वस्तुओं से बहुत अधिक 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हो जाती है। यानी सभ्य देशों के निवासियों को थोड़े ख़र्च ही में वे सब वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं जो कम सभ्य या असभ्य देशों में उस से कई गुने अधिक खर्च करने पर भी आसानी से प्राप्त नहीं हो सकतीं। अस्तु, जो देश कम सभ्य हैं उन में 'उपभोक्ता की बचत' कम प्राप्त होती है।

कुल उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता के सिद्धांतों पर ही 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धांत अवलंबित है।

मंडी में प्रत्येक वस्तु की जो क़ीमत देनी पड़ती है वह सीमांत उपयोगिता के बराबर होती है, क्योंकि कोई भी परिवर्तन या अदला-बदली तभी तक होगी जब तक कि बदले में दी जानेवाली वस्तुओं की उपयोगिता बराबर हो। एक मनुष्य ५ सेब ख़रीदता है। उसे पाँचों सेबों से बराबर उपयोगिता नहीं प्राप्त होती। उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक बाद वाले सेब से उसे क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होती है, और अंतिम सेब से सब से कम। किंतु मंडी में प्रत्येक सेब का दाम बराबर-बराबर ही रहता है, क्योंकि क़ीमत सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार लगाई जाती है। यदि उस मनुष्य के लिए अंतिम सेब की उपयोगिता २० है, जो उस के लिए एक आना के बराबर है, तो वह सेब के लिए एक ही आना देगा। अस्तु उसे कुल ५ आने देने पडे। पर उपयोगिया ज़्यादा मिली।

कुल उपयोगिता इस प्रकार मिली :—

सेब	सीमांत उपयोगिता	कुल उपयोगिता	उपभोक्ता की बचत	(आनों में)
पहला	१००	१००	१ सेब से	८०
दूसरा	८०	१८०	२ सेबों से ८० + ६० =	१४०
तीसरा	६०	२४०	३ ,, ,, ८० + ६० + ४० =	१८०
चौथा	४०	२८०	४ ,, ,, ८० + ६० + २० =	२००
पाँचवां	२०	३००	५ ,, ,,	०

पहले सेब से उसे १०० उपयोगिता मिली पर उस ने दिया एक ही आना जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे १०० − २० = ८० के बराबर अधिक उपयोगिता मिली जो पहले सेब से उस की 'उपभोक्ता की बचत' है। दूसरे सेब से उसे ६० उपयोगिता मिली किंतु उस ने इस सेब के लिए भी दिया एक आना ही जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे दूसरे सेब से ४० उपयोगिता अधिक मिली। इस प्रकार पहले और दूसरे सेबों से उसे १०० के बराबर ज़्यादा उपयोगिता मिली जो 'उपभोक्ता की बचत' हुई। तीसरे सेब से उसे ४० उपयोगिता मिली। पर इस के लिए भी उस ने दिया एक ही आना जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे ६० − २० = ४० उपयोगिता ज़्यादा मिली। अस्तु, तीन सेबों से मिला कर उसे ८० + ६० + ४० = १८० ज़्यादा मिली जो उस की तीन सेबों से प्राप्त होनेवाली 'उपभोक्ता की बचत' है। चौथे सेब से उसे ४० उपयोगिता मिली। पर उस ने उस के लिए भी दिया केवल एक ही आना जो २० उपयोगिता के बराबर है। अस्तु उसे चौथे सेब से ४० − २० = २० के बराबर 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हुई। और कुल मिला कर चार सेबों से उसे ८० + ६० + ४० + २० = २०० उपयोगिता मिली जो उपभोक्ता की बचत है। पाँचवें सेब के लिए उस ने एक आना दिया और उपयोगिता मिली २० के बराबर जो क़ीमत के बराबर ही है। अस्तु, पाँचवें सेब से उसे कुछ भी बचत न हुई।

पाँच सेबों के लिए उस ने ५ आने दिए जो ५ × २० = १०० उपयोगिता के बराबर हैं। पर उसे पाँचों सेबों से कुल उपयोगिता मिली १०० + ८० + ६० + ४० + २० = ३००। इस ३०० उपयोगिता के लिए उस ने ५ आने दिए जो १०० उपयोगिता के बराबर हैं। अस्तु उसे ३०० − १०० = २०० उपयोगिता की बचत हुई। और पाँच सेबों से उसे यही २०० उपयोगिता क़ीमत से ज़्यादा मिली जो उपभोक्ता की बचत है।

यदि उसे प्रत्येक सेब १ आना फ़ी सेब के हिसाब से न मिलता और उसे सेबों से कुल उपयोगिता ३०० के बराबर प्राप्त करनी होती तो उसे ३०० ÷ २० = १५ आने देने पड़ते, क्योंकि पहले सेब से चूँकि उसे १०० उपयोगिता प्राप्त होती है अस्तु वह उस के लिए ५ आना देने को तैयार हो जाता। दूसरे सेब से उसे ८० उपयोगिता प्राप्त होती है, अस्तु वह उस के लिए ८० ÷ २० = ४ आना देने को तैयार हो जाता। तीसरे सेब से उस ६० उपयोगिता प्राप्त होती है अस्तु वह उस के लिए ६० ÷ २० = ३ आना देने को तैयार हो जाता है। चौथे सेब से उसे ४० उपयोगिता प्राप्त होती है अस्तु उस के लिए वह ४० ÷ २० = २ आना देने को तैयार हो जाता; और पाँचवें सेब के लिए २० ÷ २० = १ आना देता है। इस प्रकार उपयोगिता की प्राप्ति के हिसाब से उसे ३०० उपयोगिता के लिए कुल मिला कर ५ + ४ + ३ + २ + १ = १५ आने देने पड़ते, पर परिस्थिति के कारण उसे देने पड़े केवल ५ ही आने। अस्तु उसे १५−५ = १० आने की बचत हुई। यही उस की 'उपभोक्ता की बचत' है। यानी ५ आना ख़र्च करने में उसे १० आने क बराबर अधिक तृप्ति होती है।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु की कुल इकाइयों की कुल उपयोगिता में से उन इकाइयों के लिए दी गई क़ीमत के रूप में दी गई कुल उपयोगिता बचती है; वही उपयोगिता को निकाल देने से 'उपभोक्ता की बचत' कहलाती है।

इस प्रकार उपयोगिता-ह्रास नियम, कुल उपयोगिता तथा सीमांत

उपयोगिता के सिद्धांतों से ही 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धांत निकलता है।

ऊपर यह बतला दिया गया है कि एक वस्तु की ख़रीद से प्राप्त होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' कैसे निकाली जाती है। पर प्रत्येक मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। अस्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओं से एक व्यक्ति को जो भिन्न-भिन्न 'उपभोक्ता की बचतें' प्राप्त होती हैं उन सब को जोड़ देने से समस्त वस्तुओं के उपयोग से मिलने वाली उस व्यक्ति की 'कुल उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हो सकती है।

एक व्यक्ति की कुल 'उपभोक्ता की बचत'

एक व्यक्ति की कुल 'उपभोक्ता की बचत' के द्वारा किसी एक मनुष्य की भिन्न-भिन्न समयों और स्थानों में उस की भिन्न-भिन्न संपन्नताओं की और भिन्न-भिन्न मनुष्यों की एक ही समय या स्थान पर की भिन्न-भिन्न संपन्नताओं की तुलना की जा सकती है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से यह तुलना बड़ी महत्वपूर्ण होती है। अन्य वस्तुओं के समान रहने पर यह माना जाता है कि 'उपभोक्ता की बचत' जितनी ही ज़्यादा होगी, संपन्नता उतनी ही अधिक होगी।

जैसे माँग के संबंध में मंडी में सम्मिलित कुल व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न कुल माँगों के योग से मंडी की कुल माँग निकाली जाती है, उसी प्रकार मंडी में शामिल होनेवाले समस्त व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न स्थिति, स्वभाव, रुचि, संपन्नता, श्रेणी के होते हुए भी औसत लेकर कुल व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत उपभोक्ताओं की बचतों से योग से मंडी की 'कुल उपभोक्ता की बचत' प्राप्त की जा सकती है।

मंडी की 'उपभोक्ता की बचत'

मंडी की 'कुल उपभोक्ता की बचत' द्वारा दो भिन्न-भिन्न देशों या समाजों की एक ही, या भिन्न-भिन्न समयों की एक ही समाज की भिन्न-भिन्न समयों की, संपन्नताओं की तुलना करके आर्थिक प्रगति का पता

लगाया जा सकता है। यदि यूरोप में परिस्थितियों के कारण भारत की अपेक्षा नागरिकों को 'उपभोक्ता की बचत' अधिक प्राप्त होती है तो यह स्पष्ट हो जायगा की यूरोप में संपन्नता भारत की अपेक्षा अधिक है। इसी तरह यदि १८ वीं शताब्दी में यूरोप में नागरिकों को जो 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त होती थी उस से २० वीं शताब्दी में ज़्यादा होती है तो मानना पड़ेगा कि २० वीं शताब्दी में यूरोप अधिक संपन्न है।

पहले-पहल प्रोफ़ेसर मार्शल ने 'उपभोक्ता की बचत' का शास्त्रीय विवेचन किया था। उस समय और बाद में भी अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस पर आक्षेप किए थे। किंतु 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत को कोई काट न सका। नीचे हम आक्षेप और समाधान संक्षेप में देते हैं।

आक्षेप और उन के समाधान

आक्षेपः—'उपभोक्ता की बचत' का विवेचन केवल कपोल-कल्पित और भ्रमात्मक है। यह कहना कि एक मनुष्य १०० रुपए मासिक व्यय करके १००० रुपए की उपयोगिता प्राप्त करता है, महज़ हिमाक़त है। इस में कोई तथ्य नहीं है।

उत्तरः—सीमांत उपयोगिता और कुल उपयोगिता, के सिद्धांत और उपयोगिता-ह्रास नियम यदि सत्य हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य एक वस्तु की एक ख़ास मात्रा के लिए जो क़ीमत देता है आम तौर पर वह उस वस्तु की उस मात्रा से कहीं अधिक उपयोगिता प्राप्त करता है। यदि एक पोस्टकार्ड तीन पैसे को न मिलता तो उस के लिए १६ आना तक देने को लोग तैयार हो जाते। इसी तरह अन्य वस्तुओं के लिए भी जो क़ीमत देनी पड़ती है लोग मजबूरी हालत में उस से कहीं ज़्यादा देते (और अनेक ऐसी वस्तुएं हैं जिन के लिए लोग उन वस्तुओं के सस्ती होने के पहले ज़्यादा देते ही थे।) यदि सब बातों पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि परिस्थिति के कारण लोगों को किसी वस्तु के लिए जो क़ीमत देनी पड़ती है, उसे देखते हुए उपयोगिता उस वस्तु से

कहीं ज़्यादा प्राप्त होती है। और यही अंतर 'उपभोक्ता की बचत' है। एक मनुष्य जो बंबई शहर में १०० रुपए मासिक ख़र्च करके किन्हीं फलों, मेवों, मनोरंजन की वस्तुओं सवारियों आदि का उपभोग करता था, उन्हीं वस्तुओं के उपभोग के लिए उसे आसाम के जंगलों-पहाड़ों में १००० रुपए मासिक के क़रीब देना पड़ेगा अस्तु, आसाम के जंगलों के मुक़ाबले में बंबई में उसे १०० रु० मासिक में १००० रु० मासिक की उपयोगिता प्राप्त होती है, इस में कोई असंभव या अत्युक्तिवाली बात नहीं देख पड़ती।

आक्षेपः—जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों तथा कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुओं और दिखावे की वस्तुओं के संबंध में 'उपभोक्ता की बचत' का सिद्धांत ठीक से लागू नहीं होता। जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए कोई व्यक्ति कितना देने को तैयार हो जायगा यह हिसाब नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि इन वस्तुओं से अपरिमित संतोष प्राप्त होता है। अस्तु, उन वस्तुओं से प्राप्त होनेवाली उपभोक्ता की बचत का अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार बहुमूल्य पदार्थ, जैसे, हीरा, मोती आदि के बारे में भी यह अंदाज़ नहीं लगाया जा सकता कि अपनी शान-शौकत क़ायम रखने के लिए कोई कितना तक देने को तैयार हो जायगा। इस कारण यह सिद्धांत अधूरा है।

उत्तरः—यह ठीक है। पर इस से यह सिद्ध नहीं होता कि उपभोक्ता की बचत के सिद्धांत से अन्य वस्तुओं से प्राप्त होनेवाली बचत का भी अंदाज़ नहीं लगाया जा सकता है। अपवाद सभी में होते हैं।

आक्षेपः—द्रव्य की सीमांत उपयोगिता बदल जाती है और इस प्रकार 'उपभोक्ता की बचत' की माप ही नहीं की जा सकती। इस सिद्धांत में मान लिया जाता है कि द्रव्य की सीमांत उपयोगिता कभी नहीं बदलती। जब कि प्रत्येक ख़रीद के बाद द्रव्य की सीमांत उपयोगिता बराबर बदलती रहती है।

उत्तरः—यह ठीक है। पर यह मान लेना अनुचित नहीं कि प्रत्येक

मनुष्य किसी एक वस्तु की एक ख़ास मात्रा पर अपनी आय का एक बहुत छोटा अंश ही व्यय करता है और इस प्रकार उस के द्रव्य की सीमांत उपयोगिता में बहुत अंतर नहीं आता।

आक्षेपः इस सिद्धांत के संबंध में प्रतियोगी पदार्थों का कुछ भी ख़याल नहीं किया जाता। असल में प्रतियोगी पदार्थ जो एक दूसरे के स्थान में उपयुक्त हो सकते हैं एक नई समस्या पैदा कर देते हैं। यदि चीनी और गुड़ दोनों का ख़याल किया जाय तो दोनों के सम्मिलित उपयोग से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह उस कुल उपयोगिता से कहीं अधिक होती है जो किसी एक पदार्थ के उपयोग से प्राप्त होती है। ऐसी दशा में उपभोक्ता की बचत वाला सिद्धांत लागू नहीं होता।

उत्तरः—ऐसे प्रतियोगी पदार्थों को एक ही में साथ लेकर एक वस्तु के रूप में विचार करने से कठिनाई दूर हो जाती है।

आक्षेपः माँग की सारिणी प्रायः पूरी नहीं बन सकती। आम तौर पर जो क़ीमतें मंडी में साधारणतः चालू रहती हैं उन के आस-पास की क़ीमतों की तो सारिणी बन सकती है, किंतु असाधारण क़ीमतों के बारे में कुछ भी नहीं कहा जासकता। यह नहीं कहा जा सकता कि यदि चीनी ५ रुपए सेर बिके तो उस की कितनी मात्रा एक मनुष्य लेने को तैयार होगा, और न यही मालूम किया जा सकता कि यदि एक आना की ५ सेर चीनी मिले तो वह कितनी लेगा। क्योंकि इस प्रकार के असाधारण मौक़े कभी आए ही नहीं। अस्तु जो माँग की सारिणी बनाई जा सकती है वह पूरी न होगी। इस कारण 'उपभोक्ता की बचत' को सही आँकना कठिन है।

उत्तरः—जो कठिनाई बतलाई जाती है, व्यावहारिक रूप से विचार करने पर वह दूर हो जाती है। कारण कि 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत द्वारा जिन परिवर्तनों का बोध होता है वे ऐसे परिवंतन हैं जो वस्तुओं की साधारण क़ीमत से और उस में होनेवाले साधारण रद्दोबदल से ही संबंध रखते हैं। असाधारण परिवर्तनों का इस सिद्धांत से वैसा ही संबंध

नहीं रहता जैसा साधारण स्थिति से जीवन के असाधारण उलट-फेरों का।

'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत का महत्व

इस सिद्धांत के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु की प्रचलित क़ीमत से उस वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की माप ठीक-ठीक नहीं हो सकती। यानी आमतौर पर हमें बाज़ार में किसी वस्तु की जो क़ीमत देनी पड़ती है उस के मुक़ाबले में उस वस्तु से हमें उपयोगिता साधारणतः कहीं ज़्यादा मिलती है। और इस प्रकार 'उपभोक्ता की बचत' के रूप में हमें बहुत सी अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है। हमें अपने सुसंगठित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक वातावरण के कारण प्रतिदिन के उपभोग में आनेवाली अनेकानेक छोटी-बड़ी वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए जो क़ीमतें देनी पड़ती हैं वे उन उपयोगिताओं से बहुत कम होती हैं जो हमें उन वस्तु से असल में प्राप्त होती हैं। यदि प्रचलित क़ीमत पर हमें ये आवश्यकीय वस्तुएं और सेवाएं न मिलतीं तो हम निश्चय ही उस से बहुत अधिक देने को तैयार हो जाते जो वर्तमान परिस्थिति के कारण हम उन के लिए देते हैं। 'उपभोक्ता की बचत' के द्वारा हम उन लाभों का अंदाज़ लगा सकते हैं जो केवल परिस्थिति के कारण किसी व्यक्ति को अनायास प्राप्त होते हैं।

इस सिद्धांत के व्यावहारिक लाभ

(१) 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत के द्वारा विभिन्न देशों या स्थानों की तुलनात्मक आर्थिक परिस्थिति तथा संपन्नता का बोध किया जा सकता है। यदि एक स्थान या देश में दूसरे स्थान या देश के मुक़ाबले में किसी समाज, श्रेणी या व्यक्ति को 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा में उपलब्ध होनी है, तो अन्य बातों के समान रहने पर, यह माना जायगा कि उस स्थान या देश का आर्थिक जीवन अधिक उन्नत है, वह स्थान या देश अधिक संपन्न, सभ्य और सुसंस्कृत, सुसंगठित है। इसी प्रकार किसी एक ही स्थान या देश के किसी एक ही समाज, श्रेणी या व्यक्ति के संबंध में विभिन्न

समयों को दृष्टि में रख कर संपन्नता और आर्थिक उन्नति का तुलनात्मक विवेचन किया जा सकता है। यदि सन् १६०० के मुक़ाबले में १६४० में भारत में मिल मज़दूरों को 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा में प्राप्त होती हो तो, अन्य बातों के समान या पूर्ववत् रहने पर, यह माना जायगा कि १६४० में मिल-मज़दूरों की आर्थिक दशा अधिक उन्नत है, १६०० के मुक़ाबले में वे अधिक संपन्न हैं।

(२) क़ीमत में परिवर्तन करते, कर लगाते, उद्योग-धंधों और व्यवसाय-वाणिज्य को सहायता-प्रोत्साहन देते समय इस सिद्धांत से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। किसी वस्तु की क़ीमत तय करते समय विक्रेता अथवा एकाधिकारी को अपने सब से अधिक लाभ के विचार के साथ ही इस बात का भी ख़याल कर लेना चाहिए कि क़ीमत उतनी ही हो जिस से उपभोक्ताओं को उस वस्तु से क़ीमत के मुक़ाबले में अधिक से अधिक 'उपभोक्ताओं की बचत' प्राप्त हो सके। इसी में जनता और देश का हित है। यदि एक लिफ़ाफ़े का दाम आठ आना रख दिया जायगा तो जनता को क़ीमत के मुक़ाबले में लिफ़ाफ़े के उपयोग से शायद ही कुछ 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त हो सके। इसी तरह किसी वस्तु पर कर लगाते समय सरकार को यह सोच लेना चाहिए कि उस के कारण क़ीमत में और ख़रीद-फ़रोख़्त की मात्रा में जो रद्दोबदल होंगे उन से, उस वस्तु से प्राप्त होनेवाली ' उपभोक्ता की बचत ' पर तो हानिकर प्रभाव नहीं पड़ेगा। जिन वस्तुओं से जनता को, और ख़ास कर मज़दूरों तथा ग़रीबों को, 'उपभोक्ता की बचत' अधिक प्राप्त होती हो, उन वस्तुओं पर इतना अधिक कर न बैठा दिया जाय कि उन की क़ीमत के बढ़ जाने से, उन वस्तुओं से प्राप्त होनेवाली ' उपभोक्ता की बचत ' की मात्रा बहुत अधिक कम हो जाय। कारण कि ऐसा होने से देश की संपन्नता में फ़र्क़ पड़ जायगा। इसी भाँति किसी उद्योग-धंधे या वाणिज्य-व्यवसाय को सहायता-प्रोत्साहन देते समय सरकार को इस बात की छान-बीन कर लेनी चाहिए कि उस

से जनता को 'उपभोक्ता की बचत' की कितनी मात्रा प्राप्त होती है। जिन उद्योग-धंधों, वाणिज्य-व्यवसायों की वस्तुओं के द्वारा जनता को 'उपभोक्ता की बचत' की अधिक मात्रा प्राप्त होती हो उन्हें अधिक सहायता-प्रोत्साहन देना जनता की दृष्टि से उचित और हितकर होगा।

कर लगाते समय सरकार को यह भी देख लेना चाहिए कि कर द्वारा सरकारी ख़जाने में जितनी आय होती है उस के मुक़ाबले में जनता, और ख़ास कर ग़रीब लोगों तथा मज़दूरों को 'उपभोक्ता की बचत' के रूपमें कमी होने के कारण अधिक हानि तो नहीं उठानी पड़ती। यदि कर द्वारा जो आय होती है उस के मुक़ाबले में 'उपभोक्ता की बचत' में कमी ज़्यादा आती है, तो वह कर देश के लिए हानिकर सिद्ध होगा। इसी प्रकार किसी उद्योग-धंधे, वाणिज्य-व्यवसाय को सहायता-प्रोत्साहन देते समय यह तय करने की ज़रूरत पड़ती है कि उस के लिए सरकार को जो व्यय सहन करना पड़ता है, उस के मुक़ाबले में जनता को 'उपभोक्ता की बचत' के रूप में अधिक लाभ होता है, या नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर ही अन्य बातों के समान रहने पर; देश का आर्थिक हित हो सकेगा।

जैसे-जैसे विभिन्न श्रेणियों के उपभोग, व्यय, आय आदि से संबंध रखने वाले प्रामाणिक आँकड़े मिलने सुलभ होते जाते हैं, वैसे ही वैसे 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत का व्यावहारिक रूप से अधिकाधिक लाभ उठाया जाना संभव होता जा रहा है। जनता की आर्थिक संपन्नता से संबंध रखनेवाले प्रश्नों से 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धांत का बहुत गहरा और बहुत ही व्यावहारिक संबंध है।

विनिमय

अध्याय ३०

विनिमय और उस से लाभ

विनिमय क्या है ?

पिछले अध्यायों में अनेक बार कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है। कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएं ख़ुद ही तैयार नहीं कर सकता। वह अपनी वस्तुओं अथवा सेवाओं को देकर अन्य व्यक्तियों से अपनी आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएं बदले में प्राप्त करता है। प्रत्येक देश तथा समाज के विभिन्न व्यक्ति आपस में एक-दूसरे को विभिन्न वस्तुएं दे-लेकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति-तृप्ति करते हैं। अर्थशास्त्र में इसी को विनिमय कहते हैं।

मान लो कि राम के पास चावल है और श्याम के पास दाल। राम को दाल की आवश्यकता है और श्याम को चावल की। राम कुछ चावल देकर श्याम से कुछ दाल ले लेता है। यही विनिमय है।

विनिमय के भेद

विनिमय के मुख्यतः दो भेद होते हैं। एक तो अदला-बदला और दूसरा क्रय-विक्रय। जब एक वस्तु का परिवर्तन किसी दूसरी वस्तु से किया जाता है तो उसे अदला-बदला कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में चावल के बदले में चावल-दाल का लिया-दिया जाना अदला-बदला माना जायगा। द्रव्य के बदले में जब कोई, वस्तु ली या दी जाती है तब उस परिवर्तन को क्रय-विक्रय कहते हैं। जैसे रुपया देकर बदले में चावल, या दाल, या कपड़ा, या किताब का ख़रीदा जाना।

द्रव्य एक ऐसी सर्वमान्य वस्तु है जिस के बदले में किसी समाज या देश में विभिन्न वस्तुओं का परिवर्तन किया जा सकता है। जिस के पास रुपया है वह रुपए देकर अपनी आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएं ख़रीद सकता है। द्रव्य देकर उस के बदले में किसी वस्तु का लेना क्रय या ख़रीद कहा जाता है। और द्रव्य लेकर किसी वस्तु को देना विक्रय या फ़रोख़्त कहलाता है।

विनिमय से दोनों पक्षों के लाभ

विनिमय (या अदला-बदला) तभी होगा जब कम से कम दो व्यक्ति ऐसे हों जिन में से प्रत्येक के पास ऐसी एक-एक वस्तु हो जिसे दूसरा चाहता हो और उस वस्तु के बदले में अपनी वस्तु देने के लिए तैयार हो। यह तभी होगा जब दोनों व्यक्तियों को अपने पास की वस्तु से अधिक उपयोगिता दूसरे के पास वाली वस्तु से प्राप्त होती जान पड़े। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। ऊपर कहा जा चुका है कि राम के पास चावल है और श्याम के पास दाल और राम को दाल की आवश्यकता है और श्याम को चावल की। मान लो कि राम के पास ८ सेर चावल है और श्याम के पास ८ सेर दाल। राम अपने चावलों में से एक सेर चावल देकर श्याम से एक सेर दाल तभी लेगा जब उसे एक सेर दाल से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा एक सेर चावल से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक जान पड़ेगी। इसी प्रकार श्याम अपनी दाल में से एक सेर दाल दे कर राम से एक सेर चावल तभी लेगा जब उसे एक सेर चावल से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता उस उपयोगिता से अधिक जान पड़ेगी जो उसे उस एक सेर दाल से प्राप्त होती है, जो उसे देना पड़ता है। यह इस कारण कि उसे एक सेर दाल के दे देने में कुछ त्याग करना पड़ेगा। अस्तु, उसे जो चावल के द्वारा उपयोगिता प्राप्त होती है वह एक सेर दाल के देने के त्याग से अधिक होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो वह अपनी एक सेर दाल दे-कर हानि उठाने के लिए तैयार न होगा। विनिमय तभी तक होता रहता

है जब तक दी जानेवाली वस्तु की उपयोगिता के मुक़ाबले में, देनेवाले को, प्राप्त होनेवाली वस्तु की उपयोगिता अधिक जान पड़ेगी। नीचे के कोष्ठक से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस कोष्टक में राम के चावलों के विभिन्न सेरों की और दाल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता दी गई है।

सेरों की क्रम-संख्या	राम के लिए चावल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता	राम के लिए दाल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता	श्याम के लिए दाल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता	श्याम के लिए चावल के विभिन्न सेरों की उपयोगिता
१	१००	११५	१००	१२०
२	९५	१०५	९५	१००
३	९०	९५	९०	७५
४	८५	८०	८५	५०
५	८०	७०	८०	२०
६	७५	६०	७०	०
७	६०	५०	६०	—१५
८	५०	४०	५०	—३०

राम एक सेर दाल प्राप्त करने के लिए श्याम को एक सेर चावल देता है। राम को पहले एक सेर दाल से ११५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है, और बदले में उसे एक सेर चावल देने पड़ते हैं। चावल के एक सेर की उपयोगिता उस के लिए ५० इकाई है, क्योंकि आठवें सेर की उपयोगिता उस के लिए केवल ५० इकाई के बराबर है। इस प्रकार राम एक सेर चावल के रूप में ५० इकाई उपयोगिता देकर एक सेर दाल के रूप में ११५ इकाई उपयोगिता प्राप्त करता है। इस अदला-बदला में उसे ११५ − ५० = ६५ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है।

इधर श्याम एक सेर दाल देकर एक सेर चावल लेता है। उसे एक सेर दाल के रूप में केवल ५० इकाई उपयोगिता का त्याग करना पड़ा, क्योंकि आठवें सेर दाल की उपयोगिता उस के लिए केवल ५० इकाई के

बराबर है, और बदले में जो एक सेर चावल मिले उन से उसे १२० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। इस प्रकार श्याम को इस विनिमय द्वारा १२०—५०= ७० इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। इस से स्पष्ट है कि विनिमय या अदला-बदला से दोनों को ही लाभ हुआ।

आगे बढ़ने पर राम एक सेर चावल और देकर एक सेर और दाल लेता है। इस बार उसे दाल से १०५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और चावल के रूप में ६० इकाई उपयोगिता दे देनी पड़ती है। इस में भी उसे १०५ – ६० = ४५ इकाई उपयोगिता का लाभ रहा। उधर श्याम इस बार एक सेर चावल के रूप में १०० इकाई उपयोगिता प्राप्त करता है और एक सेर दाल के रूप में ६० इकाई उपयोगिता देता है। उसे १०० – ६० = ४० इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। इस प्रकार इस बार भी दोनों को लाभ रहता है। इस कारण दोनों ही ख़ुशी से अदला-बदला करेंगे।

आगे चल कर श्याम को तीसरे सेर चावल के लेने से ७५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और एक सेर दाल के देने पर ७० इकाई उपयोगिता का त्याग करना पड़ता है। अस्तु इस से उसे ७५ – ७० = ५ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। इधर राम को इस बार एक सेर दाल से ९५ उपयोगिता प्राप्त होती है और एक सेर चावल के रूप में उसे ७५ उपयोगिता दे देनी पड़ती है, अस्तु उसे इस परिवर्तन द्वारा ९५ — ७५ = २० इकाई उपयोगिता का लाभ रहता है। इस प्रकार इस बार भी परिवर्तन से दोनों को लाभ होता है। अस्तु वे राज़ी-ख़ुशी से परिवर्तन करेंगे।

और आगे चलने पर श्याम को एक सेर चावल से केवल ५० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है, और एक सेर दाल के रूप में उसे ८० उपयोगिता दे देनी पड़ती है। इस प्रकार उसे इस बार के विनिमय से ३० इकाई उपयोगिता की हानि उठानी पड़ती है। इस कारण वह इस बार परिवर्तन करने के लिए तैयार न होगा। दूसरी ओर राम को इस बार एक सेर दाल से ८० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और उस के बदले में दिए जाने-

वाले एक सेर चावल के रूप में उसे ८० इकाई उपयोगिता का त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार उसे न हानि होती है और न लाभ ही। इस कारण वह इस दुविधा में रहेगा कि विनिमय करे या न करे। किंतु इस के आगे अदला-बदला जारी रखने से उसे खुल कर हानि होगी, इस कारण वह इस के आगे और अधिक विनियम के लिए तैयार न होगा।

इस तरह जब तक दोनों पक्षों को लाभ होता रहा तब तक तो विनिमय चलता रहा। किंतु जहां से एक पक्ष को हानि होनी शुरू हो गई, वहीं से विनिमय रुक गया।

इस कुल अदला-बदला से भी कुल मिला कर दोनों पक्षों को काफ़ी लाभ रहा। यदि वे आपस में परिवर्तन न करते तो राम को अपनी ८ सेर दाल से कुल मिला कर १०० + ९५ + ९० + ८५ + ८० + ७५ + ६० + ५० = ६३५ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती। परिवर्तन करने के कारण उसे कुल मिला कर ११५ + १०५ + ९५ = ३१५ इकाई उपयोगिता तीन सेर दाल से (जो उस को चावल के बदले में मिली) प्राप्त की और १०० + ९५ + ९० + ८५ + ८० = ४५० इकाई उपयोगिता चावल से प्राप्त की। दाल और चावल दोनों से उस ने ३१५ + ४५० = ७६५ इकाई उपयोगिता प्राप्त की। इस प्रकार उसे विनिमय द्वारा ७६५ - ६३५ = १३० इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। दूसरी ओर श्याम यदि विनिमय न करता तो उसे अपने आठ सेर चावल से कुल मिला कर १०० + ९५ + ९० + ८० + ८५ + ७० + ६० + ५० = ६३० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती। किंतु परिवर्तन के कारण श्याम को चावल से कुल मिला कर १२० + १०० + ७५ = २९५ इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई और दाल से १०० + ९५ + ९० + ८५ + ८० = ४५० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। इस प्रकार चावल और दाल दोनों से कुल मिला कर २९५ + ४५० = ७४५ इकाई उपयोगिता प्राप्त की। अर्थात् विनिमय के कारण उसे ७४५–६३० = ११५ इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। इस प्रकार अदला-बदला के

कारण राम और श्याम दोनों को ही अधिक लाभ हुआ।

अदला-बदला कब होगा? (१) जब ऐसे दो व्यक्ति या दल हों जिन्हें एक-दूसरे की वस्तु को लेने की चाह हो; (२) और जो दूसरे की वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपनी वस्तु देने के लिए तैयार हों; और (३) जिन को बदले में मिलने वाली वस्तु से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की मात्रा, उस उपयोगिता की मात्रा से अधिक जान पड़े जो उन्हें अपनी वस्तु से प्राप्त हो सकती है। इन तीन बातों के बिना अदला-बदला या विनमय नहीं हो सकता। जब अदला-बदला या विनिमय ख़ुशी से हो तो उस से यह सिद्ध होगा कि उस से दोनों पक्षों को लाभ हो रहा है।

अदला-बदला कब?

वर्तमान आर्थिक स्थिति विनिमय पर अवलंबित है। जैसे-जैसे संसार उन्नति के शिखर पर पहुँचता जाता है, वैसे ही वैसे विनिमय का महत्व बढ़ता जाता है। किसी भी व्यक्ति का कार्य बिना विनिमय के चल नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएं (तथा सेवाएं) दूसरों से लेनी पड़ती हैं, और उन के बदले में अपनी वस्तुएं (तथा सेवाएं) देनी पड़ती हैं। कोई भी व्यक्ति केवल अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं से ही अपनी इस युग की सभी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकता।

विनिमय का महत्व

यदि विनिमय न किया जाय तो उत्पादन व्यर्थ हो जाय, और वितरण तथा उपभोग असंभव हो उठें। विनिमय के कारण ही व्यक्तियों तथा राष्ट्रों की वर्तमान संपत्ति तथा उत्पादक शक्तियां पूरी तरह से उपयोग में लाई जा सकती हैं। साथ ही विनिमय की उत्तरोत्तर उन्नति के द्वारा ही उत्पादक शक्ति की उत्तरोत्तर उन्नति तथा वृद्धि-विकास किया जा सकता है। उत्पादक शक्ति तथा साधनों की प्रगतिशील उत्तरोत्तर वृद्धि का एकमात्र कारण विनिमय है। इन कारणों से अर्थशास्त्र में विनिमय का बड़ा महत्व है। विनिमय से अनेक लाभ होते हैं जो इस प्रकार हैं: —

(१) विनिमय के कारण ही उस संपत्ति का अधिक से अधिक उत्तम रूप में उपभोग किया जा सकता है, जो बिना विनिमय के ठीक से उपयोग में आए बग़ैर ही पड़ी रह जाती। यदि विनिमय इतनी उन्नत दशा को न पहुँच गया होता तो भारतवर्ष की रूई, जूट; आस्ट्रेलिया का अन्न और गेहूं; इंगलैंड का कोयला इतनी अच्छी तरह से उपभोग में न लाए जा सकते।

(२) विनमय के कारण व्यक्तियों तथा राष्ट्रों की वह उत्पादक शक्ति अच्छी तरह से काम में लाई जाती है, जो बिना विनिमय के व्यर्थ में बेकार पड़ी रह जाती, और उतनी अच्छी तरह काम में न लाई जा सकती, जितनी कि इस समय काम में लाई जा रही है। यदि विनिमय न हो तो प्रत्येक व्यक्ति (तथा राष्ट्र) को अपनी आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु स्वयं ही उत्पन्न करनी पड़े, चाहे वह उस वस्तु के बनाने में कुशल हो अथवा अकुशल। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र की विशेष शक्तियों तथा कुशलताओं का उतना अच्छा उपयोग न हो सकेगा जैसा उस समय होगा, जब कि उसे अपनी शक्ति, सामर्थ्य तथा कुशलता-योग्यता के अनुसार केवल ख़ास वस्तु या वस्तुएं ही उत्पन्न करने दी जायँगी। यदि विनिमय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र अपनी शक्तियों के तथा कुशलताओं के अनुसार ही वस्तुएं उत्पन्न करे और अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं के विनिमय द्वारा अन्य वस्तुएं प्राप्त कर सके तो उस की उत्पादक शक्ति तथा कुशलता अधिक बढ़ जायगी, और तब उत्पादन अधिक अच्छा तथा अधिक परिमाण में हो सकेगा इस प्रकार विनिमय द्वारा उस व्यक्ति तथा राष्ट्र को तो लाभ होगा ही, साथ ही अन्य व्यक्तियों तथा राष्ट्रों को भी लाभ होगा।

(३) विनिमय द्वारा उत्पादन में तथा सभ्यता में उन्नति होती है। विनिमय के कारण उत्पादन में उन्नति और वृद्धि होती है, उत्पादन में उन्नति तथा वृद्धि होने से वस्तुएं सस्ती तथा अधिक मात्रा एवं प्रकार में उत्पन्न

होने लगती हैं। इस से मंडी का विस्तार बढ़ जाता है। इस से उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के कारण श्रम-विभाग में उन्नति होती है, मशीन आदि में सुधार, उन्नति होती है तथा अनेक प्रकार के आविष्कार होते हैं, और व्यवस्था आदि में भी सुधार तथा उन्नति होती है। सारा आर्थिक जीवन ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगता है।

विनिमय के साधन

व्यापारी, मंड़ी, द्रव्य तथा संवाद-वहन और आवागमन के साधन ही विनिमय के प्रमुख साधन हैं। इन्हीं के द्वारा विनिमय का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है, विनिमय में उन्नति हो सकती है। इन के बिना विनिमय का कार्य हो ही नहीं सकता। इन में से मंडी का अपना ख़ास महत्व है। इस कारण आगे के अध्याय में मंडी का वर्णन विस्तार पूर्वक किया जाता है।

अध्याय ३१

मंडी

विनिमय के लिए मंडी बहुत ज़रूरी है। जब से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की प्रत्येक वस्तु स्वयं उत्पन्न न करके केवल एक या कुछ ख़ास-ख़ास वस्तुएं अपनी शक्ति, कुशलता तथा सुविधाओं के अनुसार उत्पन्न करके अपनी आवश्यकताओं की अन्य वस्तुएं समाज के अन्य व्यक्तियों से लेने लगता है, और बदले में अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुएं देने लगता है, तभी से मंडी का अस्तित्व प्रारंभ हो जाता है। आर्थिक स्थिति में उन्नति होने के साथ ही साथ मंडी की स्थिति में उन्नति हो जाती है। प्रारंभ में मंडी से उस स्थान का बोध होता था जहां वस्तुएं बिक्री के लिए रक्खी जाती थीं। किंतु अब आर्थिक उन्नति के कारण मंडी से अर्थशास्त्र में उस समस्त प्रदेश का बोध होता है जिस में एक वस्तु के बेचनेवालों और ख़रीदनेवालों का इस प्रकार का स्वतंत्र एवं प्रतियोगितापूर्ण संबंध हो कि उस वस्तु की क़ीमत का रुख़ आसानी से और जल्दी एक होने का हो। आर्थिक मंडी विनिमय करनेवालों का वह दल है जो एक-दूसरे के साथ क्रय-विक्रय में प्रतियोगिता कर रहा हो।

मंडी किसे कहते हैं

इस व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं :—(१) ख़रीदनेवालों और बेचनेवालों के दल ; (२) उन में आपस में क्रय-विक्रय को लेकर प्रतियोगिता का होना; और (३) किसी एक समय में, किसी एक वस्तु की क़ीमत का एक होना। मंडी जितनी ही अधिक और जितनी ही पूरी तरह से सुसंगठित होगी, क्रय-विक्रय करनेवालों में क्रय-विक्रय के लिए आपस में प्रतियोगिता जितनी ही अधिक और जितनी ही ज़्यादा स्वतंत्रतापूर्वक

होगी उतनी ही अधिक संभावना मंडी के सभी भागों में, उस ख़ास समय में, उस ख़ास वस्तु की क़ीमत के एक होने की होगी। मंडी के विभिन्न भागों में क़ीमत के संबंध में जो भी विभिन्नता होगी, वह उसी अंश तक होगी जिस अंश में उस वस्तु की ढुलाई का ख़र्च अन्य स्थानों से उस स्थान पर लाने में अधिक पड़ेगा। अन्यथा उस काल में क़ीमत मंडी के सभी भागों में समान ही होगी।

यहां यह मान लिया जाता है कि ख़रीदनेवाले और बेचनेवाले ख़रीद-फ़रोख़्त करने और कम-ज़्यादा क़ीमत लगाने के लिए पूर्ण स्वतंत्र हैं। उन के आने-जाने आदि में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ती। उन्हें मंडी के विभिन्न भागों का, वस्तु के भंडार (स्टाक) और माँग-पूर्ति का, उस के प्रकार आदि का, जनता की रुचि, फ़ैशन आदि का पूरा ज्ञान है। वे अन्य बेचने और ख़रीदनेवालों को, उन की ख़रीदने-बेचने की शक्ति ज़रूरत आदि को और वर्तमान तथा भविष्य की अनुमानित माँग तथा पूर्ति को अच्छी तरह से जानते हैं।

ऊपर मंडी के बहुत ही विकसित, एक प्रकार से पूर्ण रूप का वर्णन किया गया है। किंतु प्रारंभ में यह बात नहीं रहती। ऊपर की स्थिति तक पहुँचने के लिए मंडी को अनेक प्रारंभिक स्थितियों से होकर गुज़रना पड़ता है, क्रम-क्रम से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना पड़ता है।

मंडी का क्रम-विकास

जिस समय प्रत्येक मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएं ख़ुद ही उत्पन्न कर लेता था, उस समय मंडी या बाज़ार का कोई भी अस्तित्व नहीं हो सकता था। किंतु जब से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की केवल कुछ ही वस्तुएं उत्पन्न करने लगता है और बाक़ी और वस्तुओं तथा सेवाओं को अपनी वस्तुएं अथवा सेवाएं देकर दूसरों से प्राप्त करने लगता है तभी से मंडी या बाज़ार का प्रारंभ हो जाता है। पहले अदला-बदला होता है। वस्तुओं के बदले में वस्तुएं ली-दी जाती हैं। इस स्थिति में प्रारंभ में तो

अदला-बदला के लिए कोई एक स्थान नियत नहीं रहता। विभिन्न व्यक्तियों के दलों को, जब, जहां, जिस के पास अपनी आवश्यकता की वस्तु प्राप्त हो सकती है और बदले में वह दूसरा व्यक्ति उस पहले व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की वस्तु को लेना पसंद करता है वहीं जाकर अदला-बदला कर लिया जाता है। पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार की वस्तुएं अदला-बदला या क्रय-विक्रय के लिए एक ही स्थान पर आने लगती हैं, क्योंकि अनेक व्यक्तियों को; अनेक स्थानों में घूम-घूम कर अपनी-अपनी वस्तुओं के बदले में अन्य वस्तुओं की तलाश करने और बदलने में बड़ा कष्ट होता है, और बड़ा समय नष्ट करना पड़ता है। इस कारण एक ऐसा स्थान ठीक कर लिया जाता है जहां अनेक वस्तुओं को लेकर अनेक व्यक्ति अदला-बदला के लिए एकत्र होने लगते हैं। अनेक प्रकार की वस्तुओं और बदलनेवालों का एक ही स्थान पर जमा होना सब के लिए सुविधाजनक होता है। यहीं से बाक़ायदा बाज़ार या संगठित मंडी का प्रारंभ हो जाता है। जैसे-जैसे आर्थिक उन्नति होती जाती है, वैसे ही वैसे मंडी भी अधिकाधिक सुसंगठित और विशिष्ट रूप धारण करती जाती है और प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग बाज़ार या मंडी क़ायम होती जाती है। पहले अन्न, तरकारियां, किराना, कपड़ा आदि हर प्रकार की वस्तुएं एक ही मंडी या बाज़ार में बिकती हैं; और गाँवों, खेड़ों, क़स्बों, शहरों के साधारण स्थानों में इस समय भी इस प्रकार के बाज़ार बहुतायत से पाए जाते हैं। धीरे-धीरे अन्न की मंडी, तरकारियों की मंडी से अलग हो जाती है। अन्न की मंडी में केवल अन्न ही बेचा जाने लगता है। बाद में और अधिक विशिष्टता होने पर विभिन्न प्रकार के अन्नों के लिए भी विभिन्न मंडियां क़ायम हो जाती हैं। जैसे चावल की मंडी में केवल अनेक प्रकार के चावल ही बेचे जाने लगते हैं। पर यह तभी होता है जब आर्थिक उन्नति बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच जाती है। इस से ख़रीद व फ़रोख़्त में बहुत आसानी होती है—पर थोक या अधिक ख़रीद-फ़रोख़्त में ही।

ख़रीद-फ़रोख़्त की दृष्टि से मंडी का क्रम-विकास विशेष ध्यान देने योग्य है। (१) प्रारंभ में बाज़ार या मंडी एक निश्चित स्थान पर होती है और ख़रीद करनेवाले माल को ख़ुद देख-परख कर ख़रीदते हैं। (२) कुछ और उन्नति होने पर कुल माल के देखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ख़रीद करनेवाले केवल नमूना देख कर ही सौदा तय कर लेते हैं। इस स्थिति में केवल किसी एक स्थान-विशेष से मंडी का बोध नहीं रह जाता। माल कहीं रक्खा रहता है और बेचनेवाले कहीं और ही स्थानों पर माल के नमूने ख़रीदारों को दिखला कर सौदा तय कर लेते हैं। (३) इस के आगे एक स्थिति और आती है, जब नमूने दिखलाने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती। इस स्थिति में वस्तुओं की विभिन्न श्रेणियां क़ायम कर दी जाती हैं और प्रत्येक वस्तु की एक ख़ास श्रेणी का हवाला देकर सौदा तय कर लिया जाता है। इस स्थिति में मंडी बहुत विस्तृत हो जाती है। संसार के एक छोर पर बैठे हुए व्यापारी दूसरे छोर के व्यापारियों से वस्तु की श्रेणी का हवाला देकर ख़रीद-फ़रोख़्त कर लेते हैं। किंतु ऐसा तभी होता है जब आर्थिक स्थिति बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँच जाती है।

मंडी के विभेद

स्थान और समय के अनुसार भी मंडी के विभिन्न विभेद किए जाते हैं, जो इस प्रकार हैं :—(अ) स्थान की दृष्टि से मंडी के तीन भेद होते हैं, यथा, स्थानीय मंडी; राष्ट्रीय मंडी; अंतर्राष्ट्रीय मंडी। स्थानीय मंडी की हद एक ख़ास स्थान तक ही रहती है। राष्ट्रीय मंडी की हद एक देश तक ही सीमित रहती है, और एक देश एक मंडी माना जाता है। अंतर्राष्ट्रीय अथवा विश्व मंडी अधिक व्यापक होती है, और वह एक देश तक सीमित न होकर अनेक अथवा सारे संसार में व्याप्त मानी जाती है, यानी सारा संसार एक मंडी माना जाने लगता है।

(आ) समय के अनुसार दो भेद होते हैं। एक अल्पकालीन मंडी और दूसरी दीर्घकालीन मंडी। एक दिन या एक हफ़्ते तक चलनेवाले बाज़ार से अल्पकालीन मंडी का बोध होता है। अनेक महीनों या वर्षों तक चलने

वाली मंडी को दीर्घ-कालीन मंडी कहते हैं।

वर्तमान समय में रुख़ मंडी के विस्तृत होने की ओर है। कुछ ख़ास बातों पर मंडी का विस्तृत होना अवलंबित है। सभी वस्तुओं की मंडी विस्तृत नहीं हो सकती। जिन वस्तुओं में निम्न-लिखित गुण होते हैं उन्हीं की मंडी विस्तृत होती है :—(१) विस्तृत माँग। जितने ही अधिक स्थानों से और मनुष्यों की जितनी ही अधिक उस वस्तु के लिए माँग होगी उस वस्तु की मंडी भी उतनी ही विस्तृत होगी। (२) शीघ्र-बोधित्व। जिस वस्तु का जितनी ही अधिक आसानी से वर्णन किया जा सकेगा तथा ख़रीदार जितनी ही अधिक आसानी से उसे समझ सकेंगे उतनी ही अधिक विस्तृत उस की मंडी होगी; क्योंकि ख़रीदार स्टाक से दूर रह कर भी सौदा कर सकेगा। (३) वहनीयता। जो वस्तु जितनी ही आसानी से दूर तक ले जाई जा सकेगी, उस का आकार और वज़न उस के मूल्य के अनुपात में जितना ही कम होगा और उस के ढोने में जितना ही कम किराया लगेगा और अड़चन जितनी ही कम होगी उतनी ही अधिक उस की माँग होगी, और उतनी ही विस्तृत उस की मंडी होगी। (४) टिकाऊपन। जो वस्तु जितनी ही टिकाऊ होगी, जितने ही अधिक दिन ठहर सकेगी, जल्दी न बिगड़ेगी उतनी ही विस्तृत उस की मंडी होगी। (५) बड़ी मात्रा में पूर्ति। जो वस्तु जितनी ही बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जा सकेगी उस की मंडी उतनी ही विस्तृत होगी।

किस वस्तु की मंडी विस्तृत होगी ?

जो वस्तुएं भारी भरकम होने के साथ ही कम-क़ीमती होती हैं, शीघ्र नष्ट हो जानेवाली होती हैं, ख़ास-ख़ास मनुष्यों के काम की होती हैं, उन की मंडी परिमित और छोटी होती है। साधारण ईंटें सब जगहों पर खप सकती हैं, पर वे मूल्य के हिसाब से इतनी भारी और अधिक आकार की होती हैं कि उन की ढुलाई का ख़र्च उन की क़ीमत से अधिक बैठ जाता है, अस्तु वे बहुत दूर तक नहीं भेजी जा सकतीं। इसी प्रकार ताज़ा

किस वस्तु की मंडी विस्तृत न होगी ?

दूध, ताज़ी तरकारियां आदि भी जल्दी नष्ट हो जानेवाली होने के कारण बहुत दूर नहीं भेजी जा सकतीं। ख़ास नाप और तर्ज़ के कपड़े ख़ास-ख़ास मनुष्यों के लिए ही तैयार हो सकते हैं, इन की माँग अधिक नहीं बढ़ सकती। इस कारण इस तरह की वस्तुओं की मंडी विस्तृत नहीं हो सकती।

मंडी माप है

मंडी अपने समाज, अपने देश की व्यापारिक तथा आर्थिक उन्नति की माप है। जो देश, जो समाज जितना ही अधिक उन्नत होगा उस की मंडी उतनी ही अधिक सुसंगठित होगी।

आवागमन के साधनों से सुभीता

मंडी के साथ ही विनिमय के लिए व्यापारी, द्रव्य और आवागमन तथा संदेश-वहन के साधनों की भी नितांत आवश्यकता पड़ती है। इन में से व्यापारियों के संबंध में विशेष कहने की यहां आवश्यकता नहीं है। गाड़ी, रेल, जहाज़ आदि आवागमन के तथा तार, केबिलग्राम आदि संदेश-वहन के साधनों के संबंध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि माल के एक स्थान से दूसरे स्थान में ले आने-ले जाने में जितनी ही जल्दी और सहूलियत होगी, भाड़ा जितना ही कम पड़ेगा, टूट-फूट, नुक़सान, छीज और झंझट जितना ही कम होंगे, विनिमय उतना ही अधिक सुचार रूप से किया जा सकेगा और आर्थिक उन्नति उतनी ही अधिक हो सकेगी।

अदला-बदला की कठिनाइयां

द्रव्य भी विनिमय के लिए बहुत अधिक आवश्यक है। जब वस्तुओं का एक-दूसरे से सीधा विनिमय या अदला-बदला होता है, उस समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मान लो कि राम के पास एक गाय है। वह गाय के बदले में अन्न चाहता है। तो उसे ऐसे व्यक्ति को खोजना पड़ेगा जिस के पास अन्न भी हो और साथ ही वह अन्न को देकर बदले में गाय लेना चाहता हो। अब यदि अन्नवाले व्यक्ति को बदले में गाय की ज़रूरत न हो तो राम के सामने बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी। दोनों

को किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में भटकना पड़ेगा जो गाय तो चाहता हो पर बदले में कोई ऐसी वस्तु देने को तैयार हो जिसे अन्नवाला व्यक्ति लेना चाहता हो ।

इस के अलावा अदला-बदला में एक और बड़ी भारी अड़चन पड़ती है । यह सवाल उठ खड़ा होता है कि किस वस्तु की कितनी मात्रा के बदले में अन्य दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा दी जाय ? फिर यदि वस्तुएं ऐसी हुईं जिन को बाँटा नहीं जा सकता तब तो कठिनाइयां और भी अधिक बढ़ जाती हैं । यदि नाव, गाड़ी, गाय, घोड़ा, हल, घड़ा, मकान आदि का अदला-बदला करना हो तो बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा । ये वस्तुएं बाँटी, काटी या तोड़ी नहीं जा सकतीं । बाँटने या तोड़ने से उन की उपयोगिता नष्ट हो जायगी । तो फिर किस के बदले में क्या दिया जाय ? और कैसे अदला-बदला किया जाय ?

द्रव्य

इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक ऐसे पदार्थ की प्रतिष्ठा की गई जिसे सब अपनी-अपनी वस्तुओं के बदले में लेने-देने के लिए तैयार हों, और जिस से विभिन्न वस्तुओं की माप आदि का निर्णय से हो जाय । इसी को द्रव्य कहते हैं । रुपया-पैसा या द्रव्य के बदले में सभी तरह की वस्तुएं ली-दी जाती हैं । द्रव्य के उपयोग से विनिमय के कार्यों में बहुत सुभीता हो गया है । अब वस्तुओं को सीधे एक-दूसरे से बदलने की ज़रूरत नहीं रह गई है । यदि राम को अन्न लेना है तो वह अपनी गाय को बेच कर पहले रुपया प्राप्त करेगा । फिर उन रुपयों को देकर अन्न ख़रीद लेगा । इस तरह द्रव्य के उपयोग से उसे दो बार विनिमय करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । एक बार तो वह अपनी गाय को बेच कर रुपए प्राप्त करता है । फिर दूसरी बार रुपए देकर अन्न लेता है । पर वह ऊपर बतलाई गई सभी झंझटों से बच जाता है । साथ ही उसे गाय के बेचने से जो रुपए मिलते हैं उन में से यदि वह चाहे तो कुछ का ही अन्न ले सकता है, बाक़ी से या तो अन्य वस्तुओं

को ले सकता है या उन रुपयों को अपने पास आगे की ख़रीद के लिए रख सकता है। इस प्रकार द्रव्य के उपयोग से विनिमय में भी सहूलियत होती है और आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुओं की मात्रा तथा प्रकार आदि के प्राप्त करने में भी।

एक वस्तु के दूसरी वस्तु से या किसी वस्तु के द्रव्य से परिवर्तन को ही विनिमय कहते हैं। मंडी में इसी का निर्णय होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन वस्तु किस मात्रा या परिमाण में अन्य वस्तुओं के बदले में दी जाय? यह प्रश्न मूल्य का है। विनिमय और अर्थशास्त्र का सारा आधार मूल्य पर ही स्थिर है। इस कारण आगेवाले अध्याय में मूल्य के संबंध में विचार किया गया है।

अध्याय ३२

मूल्य

विनिमय में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का निर्णय किया जाता है। वर्तमान आर्थिक जीवन का और अर्थशास्त्र का केंद्र मूल्य ही है। और साथ ही मानव-समाज का सारा आर्थिक कार्य मूल्य के प्रश्न से सम्बद्ध है। समाज के आर्थिक जीवन का सारा दारोमदार मूल्य पर निर्भर है। मूल्य और क़ीमतों के प्रश्न समाज के छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों के प्रति-दिन के जीवन में भारी परिवर्तन उपस्थित किया करते हैं। वस्तुओं के दामों में कमी-बेशी होने से बड़ी विकट समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। आर्थिक मंदी के कारण संसार के सभी देशों में हलचल मच गई है। श्रम, पूँजी, भूमि आदि के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण संसार के सभी देशों में भारी उलट-फेर हो गए हैं और आए दिन होते रहते हैं। मूल्य पर ही अर्थशास्त्र की नींव स्थित है।

मूल्य का महत्व

मूल्य क्या है? विनिमय की जो शक्ति है वही मूल्य है। एक वस्तु के बदले में जिस गुण या शक्ति के कारण अन्य वस्तु या वस्तुएं मिल सकती हैं उसी को मूल्य कहते हैं। किसी वस्तु में अपने बदले में अन्य वस्तुओं के ख़रीदने, प्राप्त कर सकने की जो शक्ति होती है वही उस वस्तु का मूल्य है। एक तोला सोने के बदले में क़रीब ७० तोला चाँदी आती है। अस्तु एक तोला सोने का मूल्य ७० तोला चाँदी है। एक सेर गेहूं के बदले में दो सेर चना, या ४ आम, या १½ सेर चावल, या १ छटाँक घी आ सकता है तो यही उस का मूल्य है।

मूल्य क्या है?

कोई वस्तु तभी संग्रह की जायगी जब उस में मुख्य दो गुण अवश्य

मूल्य के कारण

हों। यानी वह उपयोगी हो और साथ ही उस की मात्रा परिमित हो। यदि वस्तु उपयोगी न होगी तो परिमित संख्या में होने पर भी उसे कोई न लेना चाहेगा, क्योंकि उस से किसी की किसी आवश्यकता की पूर्ति न हो सकेगी। और यदि वह वस्तु उपयोगी तो होगी किंतु परिमित संख्या या परिमाण में न होगी, वह इतनी अधिक होगी कि प्रत्येक व्यक्ति को मनचाही संख्या या परिमाण में मिल सकेगी, तो उस का महत्व न रहेगा, उस के बदले में कोई दूसरा व्यक्ति अपनी किसी भी वस्तु को देने के लिए तैयार न होगा; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को बिना कुछ बदले में दिए ही उस पहली वस्तु की मन-चाही मात्रा प्राप्त हो सकेगी। अस्तु, किसी एक वस्तु के चाहे जाने के लिए दो बातें जरूरी हैं, उस का उपयोगी होना और साथ ही परिमित संख्या या परिमाण में होना।

एक व्यक्ति किसी एक वस्तु को उत्पन्न, संग्रह अथवा प्राप्त करता है। वह उस के लिए उपयोगी होगी। किंतु उसे किसी दूसरे व्यक्ति को देकर वह तभी उस के बदले में अन्य वस्तु या वस्तुएं प्राप्त कर सकता है जब दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को अपने लिए उपयोगी समझे। यानी उस वस्तु का तभी मूल्य होगा जब वह वस्तु दूसरे के लिए भी उपयोगी हो। यानी मूल्य और विनिमय दोनों ही समाजिक धारणाएं हैं। विनिमय और मूल्य का तभी विचार हो सकेगा जब कि प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपनी व्यक्तिगत विभिन्न आवश्यकताओं की तुलनात्मक कमी-बेशी और महत्व की माप करेगा, वरन् जब वह अपने आस-पास वाले अन्य व्यक्तियों के साथ उन की तुलना करेगा। उसे आम का फल चाहे अधिक आवश्यक जान पड़े या कम, किंतु मूल्य और विनिमय के लिए यह ज़रूरी होगा कि वह इस बात का तुलनात्मक विचार करले कि आम के फल के बदले में अन्य व्यक्ति उसे कितने केले, संतरे या अमरूद देने को तैयार हैं।

कोई वस्तु कब चाही जायगी? जब वह किसी न किसी आवश्य-

विनिमय मूल्य

कता की पूर्ति करे, यानी वह व्यवहार में उपयोगी हो, तभी वह चाही जायगी। यह उस का पदार्थगत गुण है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी होना उस का अपना ख़ास गुण है। किंतु मूल्य के लिए यह पदार्थगत उपयोगिता वाला गुण ही काफ़ी नहीं है। किसी वस्तु का मूल्य तभी माना जायगा जब उस के बदले में अन्य वस्तुएं प्राप्त की जा सकें। यदि किसी वस्तु के बदले में अन्य वस्तुएं प्राप्त नहीं की जा सकतीं तो व्यवहार में उपयोगी होने पर भी उस वस्तु का कोई मूल्य न होगा। पानी जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। किंतु आमतौर पर पानी के एक घड़े के बदले में यदि अन्य कोई वस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती तो पानी आवश्यक और उपयोगी होते हुए भी विनिमय में कुछ भी मूल्य नहीं रखता। अस्तु, विनिमय-साध्य होने के लिए, विनिमय में मूल्य रखने के लिए, यह ज़रूरी है कि किसी एक वस्तु के बदले में अन्य वस्तुएं प्राप्त की जा सकें। तभी उस का विनिमय मूल्य माना जायगा; और यह तभी हो सकेगा जब वह वस्तु परिमित संख्या में हो, यानी उस की इकाइयां (संख्या) इतनी ज़्यादा न हों कि उन से सभी व्यक्तियों की सभी आवश्यकयाएं पूरी तरह से पूरी हो जाएं। जब उस वस्तु की संख्या केवल इतनी होगी कि उतने से सब व्यक्तियों की सभी आवश्यकताएं पूरी तरह से पूरी न हो सकेंगी, तभी उसे प्राप्त करने के लिए उस के बदले में लोग अन्य वस्तुएं देने के लिए तैयार होंगे।

उपयोगिता, परिमितता और मूल्य

किसी वस्तु में मूल्य लाने के लिए उपयोगिता और परिमितता—ये दोनों ही गुण ज़रूरी हैं। यदि इन में से एक भी गुण न होगा तो मूल्य न होगा। मूल्य के लिए दोनों ही ज़रूरी हैं। यही नहीं, इन दोनों गुणों के कमो-बेश होने पर ही मूल्य में कमी-बेशी होती है। यदि कोई वस्तु पहले से अधिक उपयोगी हो जाय (और साथ ही उस की संख्या या मात्रा न बढ़े) तो उस का मूल्य बढ़ जायगा। यदि किसी वस्तु

का परिमाण घट जाय, उस की संख्या कम हो जाय (पर साथ ही उस के उपयोगी होने में कमी न पड़े) तो उस का मूल्य बढ़ जायगा।

माँग-पूर्ति का सिद्धांत और मूल्य

यदि अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले में कोई एक वस्तु परिमाण (संख्या) में बढ़ जाय तो उस का मूल्य घट जायगा, उस की प्रत्येक इकाई के बदले में अन्य वस्तुओं की इकाई कम मिलेगी, बशर्ते कि उस वस्तु के परिमाण के बढ़ने के साथ ही समाज में किसी कारण से उस की माँग न बढ़े। इसी प्रकार यदि किसी एक वस्तु की माँग बढ़ जाय (उस के अन्य उपयोग निकल आवें, अथवा किसी कारण से और अधिक व्यक्ति उसे काम में लाने लगें) और यदि उस की संख्या (परिमाण) में वृद्धि न हो तो उस का मूल्य बढ़ जायगा, अन्य वस्तुएं उस के बदले में पहले से अधिक मिलने लगेंगी। यही माँग और पूर्ति का सिद्धांत है।

किसी वस्तु का तभी मूल्य होगा जब वह चाही जायगी, और जब वह अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले में अधिक चाही जायगी तो उस का मूल्य अधिक होगा, और कम चाही जायगी तो कम होगा। किसी वस्तु के कम चाहे जाने अथवा उस के बदले में अन्य वस्तुओं के कम परिमाण में दिए जाने का यही कारण होगा कि उस से जिस आवश्यकता की पूर्ति होती है वह (आवश्यकता) नगण्य या कम है, वनिस्बत उन आवश्यकताओं के जो कि बदले में दी जानेवाली वस्तुओं के द्वारा पूरी होती हैं।

परिमाण और मूल्य

क्रमागत-ह्रास नियम के अनुसार जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की संख्या (परिमाण) बढ़ती जायगी, वैसे ही वैसे उस की और अधिक आगे ली जानेवाली इकाई की उपयोगिता कम होती जायगी। अस्तु प्रत्येक और अधिक आगे ली जानेवाली इकाई की चाह क्रमशः कम होती जायगी और इसी कारण उस के बदले में दी जानेवाली वस्तुओं की संख्या कम होती जायगी। जो वस्तु किसी कम तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करती है, अथवा किसी आवश्यकता

की पूर्ति कम मात्रा में करती है, उस में बनिस्बत उस वस्तु के कम उपयोगिता होती है जो किसी अधिक तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करती है, अथवा किसी आवश्यकता की पूर्ति अधिक मात्रा में करती है। अस्तु, जो वस्तु कम उपयोगी ठहरेगी उस के बदले में अन्य अधिक उपयोगी वस्तुएं कम मात्रा में दी जायँगी और यह एक सर्वमान्य सिद्धांत है कि अन्य सभी बातों के पूर्ववत् रहने पर, किसी वस्तु की संख्या बढ़ने से उस की उपयोगिता कम हो जाती है और संख्या कम होने से उपयोगिता बढ़ जाती है। अस्तु उस वस्तु की संख्या बढ़ने से उस का मूल्य कम हो जाता है और संख्या घटने से उस का मूल्य बढ़ जाता है।

मूल्य का निर्णय

क्रमागत-ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की अधिकाधिक इकाइयां उपयोग में लाता जायगा, वैसे ही वैसे उस की उस वस्तु से संबंध रखने वाली आवश्यकता कम होती जायगी और अंत में वह पूरी हो जायगी। किंतु इस के साथ ही एक बात बड़े महत्व की यह है कि विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं की तीव्रता में और व्यापकता में बहुत विभिन्नता रहती है। किसी की किसी एक वस्तु की आवश्यकता अधिक तीव्र और व्यापक होती है किसी की कम। साथ ही उन्हीं व्यक्तियों की उन अन्य वस्तुओं की आवश्यकताओं की मात्रा में कम या अधिक तीव्रता होती है जो कि उस ख़ास वस्तु के बदले में वे देने के लिए तैयार होते हैं। अस्तु यदि किसी एक वस्तु की पूर्ति मंडी में थोड़ी मात्रा में हो तो वह उन व्यक्तियों के हाथों में जायगी जो उस वस्तु के बदले में अन्य वस्तुएं सब से अधिक परिमाण में देने के लिए तैयार रहेंगे। यदि दस सेर अंगूर बाज़ार में हो तो सब से पहले वे उन व्यक्तियों के हाथों में जायँगे जो उन (दस सेर) अंगूरों के बदले दस मन गेहूं, या दो मन चीनी देने को तैयार होंगे, न कि उन व्यक्तियों के जो केवल ४ मन गेहूं अथवा आधा मन चीनी देने को राज़ी होंगे। किंतु यदि अंगूरों का परिमाण बढ़

जाय यानी बजाय दस सेर के २० सेर अंगूर बाज़ार में आ जायँ तो उन की क़ीमत घट जायगी, जिस से पहले जिन व्यक्तियों ने अंगूर ख़रीदे थे वे सस्ते होने के कारण पहले से और अधिक अंगूर लेलें या वे नए ग्राहक लेने को राज़ी हो जायँ जो पहले ऊँचे दामों पर लेने के लिए तैयार न थे। अस्तु किसी वस्तु की पूर्ति के बढ़ जाने से उस का मूल्य घट जाता है, क्योंकि बढ़े हुए अंश को यदि पहलेवाले ख़रीदार लेंगे तो उन की उस आवश्यकता की पूर्ति होगी जो पहले के मुक़ाबले में कम तीव्र होगी और इस कारण वे उस के बदले में अन्य वस्तुएं कम देंगे। अथवा नए ग्राहक लेंगे जिन्हों ने पहले उस वस्तु को इस कारण नहीं ख़रीदा था कि उन की जिस आवश्यकता की पूर्ति अंगूरों से होती थी वह इतनी तीव्र न थी कि वे उस के बदले में अन्य वस्तुएं निश्चित परिमाण में देने के लिए तैयार होते। इस दशा में भी बढ़ी हुई पूर्ति के बदले में अन्य वस्तुएं आपेक्षाकृत कम ही परिमाण में मिलेंगी, क्योंकि जिस आवश्यकता की उस से पूर्ति होती है वह तीव्रता में कम ही ठहरती है।

आवश्यकता की तीव्रता और मूल्य

जैसे-जैसे किसी इच्छित वस्तु का परिमाण बढ़ता जाता है, उस की अधिकाधिक इकाइयां प्राप्त होती जाती हैं, वैसे ही वैसे उस से संबंध रखनेवाली आवश्यकता की तीव्रता कम होती जाती है। किंतु सभी आवश्यकताएं एक ही गति से, एक-सी तेज़ी से कम नहीं होतीं। कोई आवश्यकता बड़ी तेज़ी से कम होती जाती है, कोई बहुत ही धीरे-धीरे। नमक की आवश्यकता बड़ी तेज़ी से कम होती है, किंतु मिठाई की आवश्यकता बहुत धीरे-धीरे कम होती है। अस्तु नमक के थोड़े परिमाण से संतोष हो जाता है, और अधिक नमक का उपभोग नहीं किया जा सकता। किंतु नमक के मुक़ाबले में मिठाई बहुत अधिक परिमाण में उपभोग में लाई जा सकती है, क्योंकि उस की आवश्यकता की तीव्रता बहुत धीरे-धीरे कम होती है।

विनिमय में इस बात का भी बहुत अधिक असर पड़ता है कि जिन

वस्तुओं की आवश्यकता की तीव्रता धीरे-धीरे कम होती है उन के मूल्य में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है, क्योंकि उन को अधिक संख्या या परिमाण में उपभोग में लाया जा सकता है।

मूल्य का सिद्धांत

यह कहा गया है कि क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार मूल्य के संबंध में यह रुख देख पड़ता है कि, अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, वस्तु के परिमाण के बढ़ने पर उस का मूल्य घट जाता है और परिमाण घटने पर मूल्य बढ़ जाता है। किंतु इस प्रगतिशील संसार में अन्य सभी बातें सदा पूर्ववत् नहीं रहती। अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं, जिन में से कुछ तो परिमाण के घटने-बढ़ने पर मूल्य के बढ़ाने में सहायक होते हैं और कुछ उस के विपरीत पड़ते हैं, और उस के प्रभाव को कम कर देते या बदल ही डालते हैं। उदाहरण के लिए जन-संख्या घटती-बढ़ती रहती है; उस वस्तु के विषय में लोगों की रुचि बदल जाती है; उन अन्य वस्तुओं का परिमाण घटता-बढ़ता रहता है, जो इस वस्तु के बदले में दी जाती हैं तथा उन वस्तुओं के संबंध में लोगों की रुचि घटती-बढ़ती रहती है। इन में से किसी भी एक परिवर्तन के कारण उन अन्य वस्तुओं के परिमाण में कमी-बेशी हो सकती है, जो इस वस्तु के बदले में दी जाती हैं। यदि उन अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले में यह वस्तु अधिक चाही जायगी तो इस के बदले में वे अन्य सभी वस्तुएं अधिक मात्रा में दी जायँगी और यदि वे अन्य वस्तुएं इस ख़ास वस्तु के मुक़ाबले में अधिक चाही जायँगी तो इस के बदले में उन का कम परिमाण दिया जायगा। इस प्रकार इस वस्तु के मूल्य में फ़र्क़ पड़ेगा, वह घटे-बढ़ेगा।

माँग-पूर्ति तथा मूल्य

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का मूल्य केवल उस की पूर्ति या परिमाण पर ही निर्भर नहीं रहता, वरन् उस की माँग पर भी निर्भर रहता है; और माँग इस बात पर निर्भर रहती है कि उस वस्तु को कितने व्यक्ति चाहते हैं, प्रत्येक व्यक्ति उसे कितने परिमाण में लेना चाहता है, जो व्यक्ति इस वस्तु को चाहता है

उस के पास वे अन्य वस्तुएं किस-किस परिमाण में हैं जिन्हें वह इस के बदले में देगा और इन अन्य वस्तुओं को वह किस हद तक चाहता है।

यदि अधिक व्यक्ति इस वस्तु को चाहेंगे तो माँग अधिक होगी। और कम व्यक्ति चाहेंगे तो कम। यदि प्रत्येक व्यक्ति अधिक परिमाण में चाहेगा तो माँग अधिक होगी और कम परिमाण में तो माँग कम होगी। यदि उस के पास जो अन्य वस्तुएं हैं उन्हें वह इस वस्तु की बनिस्बत कम चाहेगा तो इस के बदले में वह उन वस्तुओं का अधिक परिमाण देगा और यदि इस वस्तु की बनिस्बत उन वस्तुओं को अधिक चाहेगा तो इस के बदले में उन वस्तुओं का कम परिमाण देगा। इस प्रकार अन्य सभी बातों का प्रभाव, मूल्य और विनिमय पर पड़ता है।

अभी तक जो विचार किया गया है उस से स्पष्ट हो जाता है कि (१) उसी वस्तु का मूल्य होगा जो चाही जायगी; (२) कोई वस्तु तभी चाही जायगी जब वह उपयोगी होने के साथ ही इतने परिमित परिमाण में होगी कि उस से सभी व्यक्तियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सके; (३) इस वस्तु के मूल्य का परिमाण इस बात पर निर्भर होगा कि वह अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले में कितनी चाही जाती है; (४) इस वस्तु का कितना परिमाण चाहा जायगा वह इस बात पर निर्भर होगा कि इस वस्तु की आवश्यकता का कितना अंश बिना पूरा हुए रह जाता है; (५) यह वस्तु अन्य वस्तुओं के मुक़ाबले में कितनी चाही जाती है यह इस बात पर निर्भर है कि वे अन्य वस्तुएं कितने परिमित परिमाण में हैं, और कितनी चाही जाती हैं।

मूल्य की माँग-पूर्ति पर निर्भरता

अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति पर निर्भर रहता है। यदि माँग अधिक होगी और पूर्ति कम तो मूल्य अधिक होगा, यदि माँग कम होगी और पूर्ति अधिक तो मूल्य कम होगा। इसी नियम के अनुसार मंडी में वस्तुओं के मूल्य का निर्णय होता है।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का तभी मूल्य होता है जब उस की माँग होती है, और साथ ही वह इतने परिमित परिमाण में होती है कि कुल माँग पूरी तरह से पूरी नहीं की जा सकती। अब सवाल यह उठता है कि कोई वस्तु परिमित परिमाण में क्यों होती है ? इस का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

अध्याय ३३

उत्पादन-व्यय और मूल्य

वस्तुएं परिमित परिमाण में क्यों होती हैं ? कारण कि बिना मनुष्य की सहायता के अकेली प्रकृति सभी आवश्यक वस्तुओं को इतने अधिक परिमाण या संख्या में नहीं उत्पन्न करती कि सभी मनुष्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति पूरी तरह से हो सके। इस कारण मनुष्य को अपने श्रम और उद्योग द्वारा अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को उत्पन्न करना पड़ता है। किसी वस्तु को उत्पन्न करने में अनेक साधनों को जुटा कर काम में लाना पड़ता है। इस में व्यय होता है, जो उत्पादन-व्यय (लागत-ख़र्च) कहलाता है। जिस वस्तु के उत्पादन में जितना ही अधिक आयोजन और प्रयत्न करना पड़ेगा, उस में उतना ही अधिक उत्पादन-व्यय होगा। कोई एक वस्तु तभी उत्पन्न की जायगी जब उस की इतनी ज़रूरत समझी जाय कि उस के उत्पादन में जो व्यय पड़े वह उस के मूल्य से निकल आए, यानी जब उस वस्तु के बदले में अन्य वस्तुएं इतने परिमाण में दी जा सकें कि उन का मूल्य कम से कम इतना तो हो जितना कि उस वस्तु के उत्पादन में व्यय करना पड़ा है। यदि उस वस्तु का मूल्य उस के उत्पादन-व्यय से कम होगा तो वह वस्तु उत्पन्न ही न की जायगी। अस्तु, किसी वस्तु के परिमित परिमाण में होने का कारण उस वस्तु का उत्पादन-व्यय ही है।

परिमित परिमाण क्यों ?

परिमितता मूल्य का एक कारण है, किंतु परिमितता ही मूल्य का एकमात्र कारण नहीं है। क्योंकि जैसा ऊपर सिद्ध हो चुका है, किसी वस्तु के परिमित होने पर भी उस का मूल्य कुछ भी न होगा यदि वह उपयोगी

न हो। इसी प्रकार किसी वस्तु के उपयोगी होने पर भी उस का कुछ भी मूल्य न होगा जब तक कि वह परिमित परिमाण में न हो। अस्तु मूल्य के लिए उपयोगिता और परमितता दोनों ही ज़रूरी हैं।

केवल उत्पादन-व्यय ही मूल्य का कारण नहीं

केवल उत्पादन-व्यय ही मूल्य का कारण नहीं हो सकता। यदि कोई मनुष्य हिमालय पर्वत पर एक बर्फ़ बनाने वाली मशीन बना कर खड़ी करे और उस से बर्फ़ बनाने का उद्योग करे, अथवा गरमी के दिनों में प्रयाग में मकान गर्म रखने की वस्तुएं अथवा उन वस्तुओं को बनानेवाली मशीन कितना ही ख़र्च करके क्यों न बनावे, तो उन का कुछ भी मूल्य न होगा। एक ऐसी मशीन का कुछ भी मूल्य न होगा जिस से केवल ज़ोर की, बेसुरी आवाज़ हो, उस के बनाने में चाहे जितना व्यय क्यों न पड़ा हो।

कार्य-कारण संबंध

मूल्य, माँग उपयोगिता तथा पूर्ति उत्पादन-व्यय और (उस के कारण परिमितता) का आपस में कार्य-कारण का संबंध है। उपयोगिता के कारण माँग होती है। उत्पादन-व्यय अथवा परिमितता पर पूर्ति निर्भर रहती है। उत्पादन-व्यय जितना ही अधिक होगा, वस्तु उतनी ही कम मात्रा में उत्पन्न की जायगी। अस्तु वह उतने ही परिमित परिमाण में प्राप्त हो सकेगी। उस की पूर्ति अधिक न होगी। इस प्रकार माँग में उपयोगिता समावेशित रहती है और पूर्ति में उत्पादन-व्यय तथा परिमितता; और माँग और पूर्ति-द्वारा ही मूल्य का निर्णय होता है। यदि माँग अधिक हुई और पूर्ति कम, तो मूल्य अधिक होगा, बनिस्बत उस के जब कि माँग कम होगी और पूर्ति अधिक। यदि माँग १००० मन चीनी की है और पूर्ति केवल ७०० मन की तो चीनी का मूल्य १२॥) मन होगा। किंतु यदि माँग ८०० मन हो और पूर्ति १००० मन तो चीनी का मूल्य १०) रुपए मन या इस से भी कम होगा। माँग से किसी वस्तु के मूल्य पर बड़ा असर पड़ता है। किंतु मूल्य का भी माँग पर कम असर नहीं पड़ता। जिस वस्तु का दाम जितना ही कम

होगा उस की माँग उतनी ही अधिक होगी। पूर्ति (परिमितता) का भी मूल्य पर बड़ा असर पड़ता है। जो वस्तु जितने ही परिमित परिमाण में होगी, उस का उतना ही अधिक मूल्य होगा। किंतु किसी वस्तु का मूल्य जितना ही ज़्यादा होगा उस की पूर्ति की चेष्टा उतनी ही अधिक होगी, उतने ही उत्पादक उतने ही अधिक परिमाण में उसे उत्पन्न करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार माँग और पूर्ति का प्रभाव मूल्य पर पड़ता है और साथ ही मूल्य का प्रभाव माँग और पूर्ति पर भी पड़ता है। माँग के अनुसार क़ीमत में, पूर्ति के अनुसार क़ीमत में, और जो तादाद उत्पन्न की जाती है उस में यानी इन तीनों में बहुत घनिष्ट संबंध है। ये तीनों परस्पर एक-दूसरे का निर्णय करती हैं। माँग के अनुसार क़ीमत जितनी ही ज़्यादा होगी वस्तु उतनी ही अधिक तादाद में उत्पन्न की जायगी। किसी वस्तु की जितनी अधिक तादाद उत्पन्न की जायगी, माँग के अनुसार क़ीमत उतनी ही कम होती जायगी। अस्तु, माँग और पूर्ति तथा मूल्य का आपस में कार्य-कारण का संबंध है, तीनों एक दूसरे का निर्णय करते हैं, और साथ ही एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

माँग और पूर्ति में सामंजस्य

मंडी में एक ख़ास समय में, ख़ास तादाद के लिए एक ख़ास (१) माँग के अनुसार क़ीमत और (२) पूर्ति के अनुसार क़ीमत रहती है। किसी वस्तु की एक ख़ास तादाद के लिए एक ख़ास माँग के अनुसार क़ीमत होती है, जिस पर उतनी तादाद माँगी जाती है, और उतनी तादाद में वह वस्तु बिक सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक ख़ास तादाद के लिए ख़ास पूर्ति के अनुसार क़ीमत होती है जिस क़ीमत पर उतनी ख़ास तादाद की पूर्ति की जाती है, बेचनेवाले उस क़ीमत पर उस ख़ास तादाद को बेचने के लिए तैयार होते हैं, बिक्री के लिए उतनी तादाद में उस वस्तु को बाज़ार में रखते हैं। यही माँग और पूर्ति का सामंजस्य है।

माँग के नियम के अनुसार, जैसे-जैसे क़ीमत घटती जाती है वैसे-वैसे

मंडी का नियम

माँग की तादाद बढ़ती जाती है; और जैसे-जैसे क़ीमत बढ़ती जाती है वैसे-वैसे माँग की तादाद घटती जाती है। पूर्ति के नियम के अनुसार जैसे-जैसे क़ीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पूर्ति की तादाद बढ़ती जाती है, और जैसे-जैसे क़ीमत घटती जाती है, वैसे-वैसे पूर्ति की तादाद घटती जाती है। यानी जैसे-जैसे क़ीमत अधिकाधिक होगी, वैसे-वैसे बेचनेवाले अधिकाधिक तादाद में उस वस्तु को बेचना चाहेंगे, पर ख़रीदार वैसे-वैसे उसे कम ख़रीदना चाहेंगे। किंतु जैसे-जैसे क़ीमत घटती जाती है, वैसे-वैसे ख़रीदार अधिकाधिक तादाद में ख़रीद करना चाहते हैं; पर बेचनेवाले उसी प्रकार क्रमशः कम से कम तादाद में बेचना चाहते हैं।

नीचे दिए हुए कोष्टक से यह सिद्धांत भलीभाँति स्पष्ट हो जाना चाहिए।

दर प्रति सेर चीनी	तादाद जो ख़रीदार ख़रीदने को तैयार हैं	तादाद जो बेचनेवाले बेचने को तैयार हैं
आठ आना	१००० सेर चीनी	४०००० सेर चीनी
छः आना	२००० ,,	२०००० ,,
चार आना	१०००० ,,	१०००० ,,
दो आना	४०००० ,,	३००० ,,

इस कोष्ठक से स्पष्ट है कि जब चीनी की क़ीमत आठ आना प्रति सेर रहती है तब बेचनेवाले सब से अधिक परिमाण में बेचने के लिए तैयार होते हैं, यानी वे ४०००० सेर बेचने को तैयार रहते हैं। पर ख़रीदार केवल १००० सेर तक ख़रीदने के लिए तैयार होते हैं। जब भाव गिर कर ६ आना सेर आ जाता है तब बेचनेवाले पहले से कम तादाद में बेचने को राज़ी होते हैं, यानी २०००० सेर बेचने को तैयार होते हैं। पर इन दामों पर ख़रीदार पहले से कुछ अधिक तादाद में ख़रीदने को तैयार होते हैं, यानी वे २००० सेर तक ख़रीदने को तैयार होते हैं। जब क़ीमत और

अधिक गिर जाती है और ४ आना सेर हो जाती है तब बेचनेवाले और भी कम तादाद में बेचना चाहते हैं, यानी केवल १००० सेर बेचने को तैयार होते हैं। पर ख़रीदार दूसरी बार से भी अधिक यानी १०००० सेर तक ख़रीदने को तैयार हो जाते हैं। अंत में जब भाव गिर कर २ आना सेर तक आ जाता है तब ख़रीदार तो और भी अधिक, यानी ५०००० सेर तक ख़रीदने को तैयार हो जाते हैं, पर बेचनेवाले केवल ३००० सेर ही बेचने को राज़ी होते हैं। जैसे-जैसे क़ीमत घटती जाती है, वैसे ही वैसे ख़रीदी जानेवाली तादाद बढ़ती जाती है और बेची जानेवाली तादाद घटती जाती है। यही मंडी का नियम है।

सामंजस्य और सब से अधिक बिक्री

ऊपर वाले कोष्टक में एक बात ध्यान देने की है। जब भाव चार आना फ़ी सेर होता है तब जितनी तादाद में ख़रीदार ख़रीदना चाहते हैं ठीक उतनी ही तादाद बेचनेवाले बेचना चाहते हैं। यही माँग और पूर्ति का सामंजस्य है। यही सामंजस्य-क़ीमत है। सामंजस्य-क़ीमत पर ही माँग और पूर्ति के परिमाण एक बराबर रहते हैं। जितने की माँग होती है उतने ही की पूर्ति होती है; और सामंजस्य-क़ीमत पर ही सब से अधिक बिक्री होती हैं। ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट हो जाता है कि सामंजस्य-क़ीमत पर १०००० सेर की बिक्री होती है। सामंजस्य-क़ीमत के पहले अधिक से अधिक केवल २००० सेर की बिक्री होती है, क्योंकि बेचनेवाले भले ही अधिक तादाद में बेचना चाहें पर लेनेवाले २००० सेर से अधिक लेने को राज़ी नहीं होते, अस्तु असल में बिक्री केवल २००० सेर ही तक होकर रह जाती है। इस सामंजस्य-क़ीमत से नीचे उतरने पर यद्यपि ख़रीदार ५०००० सेर की माँग करते हैं किंतु पाते केवल ३००० सेर ही हैं, क्योंकि बेचनेवाले इस से अधिक बेचने के लिए तैयार नहीं हैं। अस्तु, सामंजस्य-क़ीमत पर ही सब से अधिक बिक्री होती है।

बेचनेवाले उन्हीं दामों पर बेचने को तैयार होंगे जितने में कम से कम

बिक्री और लागत-व्यय

उन का लागत-खर्च निकल आए। यदि वस्तु के उत्पन्न करने में जो व्यय पड़ा है उस से क़ीमत कम मिलेगी तो उन्हें घाटा लगेगा। अस्तु, बेचनेवाले उस वस्तु को बेचना पसंद न करेंगे। बिक्री से लागत-खर्च कम से कम निकल आना ज़रूरी है।

दो तरह का उत्पादन-व्यय

इस संबंध में यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि उत्पादन-व्यय में दो तरह के व्यय सम्मिलित रहते हैं, एक तो पूरक लागत और दूसरी प्रमुख लागत। प्रमुख तथा पूरक लागतों का योग ही पूरी लागत होती है। साधारण स्थिति में बिक्री से पूरी लागत वसूल हो जानी चाहिए।

प्रमुख उत्पादन-व्यय

किसी एक कारख़ाने को ४००० गज़ कपड़ा तैयार करना है। अब इस ४००० गज़ कपड़े के लिए जो (१) रुई आदि कच्चा माल लगाना पड़ेगा उस के दाम; (२) जो मज़दूरी इस ख़ास कपड़े के तैयार करनेवाले मज़दूरों को देनी पड़ेगी वह; (३) इस ख़ास कपड़े के बनाने के लिए ईंधन आदि जो मशीन चलाने के काम में आवें; (४) इस की तैयारी के लिए मशीन आदि में घिसाई के कारण जो ह्रास तथा टूट-फूट होगी उस का खर्च आदि सब जोड़ कर जो लागत लगेगी वह सब प्रमुख लागत में आएगी। यह लागत ऐसी होगी जो केवल इसी ४००० गज़ कपड़े की तैयारी में बैठेगी। यदि यह ४००० गज़ कपड़ा तैयार न किया जाय तो जो इस की तैयारी के लिए कच्चे माल, मज़दूरी, ईंधन ह्रास तथा टूट-फूट आदि में लागत लगती वह सब बच जाती। इसी व्यय को प्रमुख लागत कहते हैं।

पूरक उत्पादन-व्यय

किंतु जो कारख़ाने पर बँधी हुई स्थायी लागत बैठती है वह ऊपर की लागत में नहीं जोड़ी गई है। (१) टिकाऊ मकान तथा मशीन आदि का खर्च (जैसे पूँजी पर का ब्याज, इंश्योरेंश, घिसावट, मूल्य-ह्रास आदि); (२) मैनेजर आदि

बड़े अफ़सरों के वेतन आदि ऐसे खर्च हैं जो स्थायी रूप से होते रहते हैं और उत्पादित वस्तु की किसी एक खास तादाद पर कुल के कुल नहीं बैठाए जा सकते। ये सब खर्च मिल कर पूरक लागत में शामिल होते हैं। पूरक लागत में वे सब साधारणतः स्थिर रूप से होनेवाले खर्च शामिल रहते हैं जो कारखाने पर आमतौर पर स्थायी रूप से होते रहते हैं और जिन का किसी एक खास माल से ही विशेष संबंध नहीं ठहराया जा सकता।

यदि उत्पादन कार्य थोड़े समय के लिए भी बंद कर दिया जाता है तो प्रमुख लागत बंद हो जाती है, क्योंकि उत्पादन बंद होते ही कच्चे-माल पर, ईंधन तथा मज़दूरों पर होनेवाले खर्च एक दम बंद हो जाते हैं; तथा मशीनों आदि के चलने से होनेवाला ह्रास, टूट-फूट भी बंद रहते हैं। यदि ४००० गज़ कपड़ा न बनाया जाय तो इस ४००० गज़ कपड़े में लगनेवाली रुई के दाम, इस कपड़े को बनानेवाले मज़दूरों की मजदूरी, इस कपड़े के बनाने में लगनेवाले ईंधन का व्यय आदि सभी फ़ौरन बच जायँगे। इस प्रकार इस ४००० गज़ कपड़े को न तैयार करने से जो खर्च की बचत होगी वही प्रमुख लागत में शामिल की जायगी।

किंतु यदि काम थोड़े समय के लिए बंद रहे तो भी कारखाने का स्थायी खर्च तो बंद न होगा, क्योंकि मशीनों और कारखाने में लगी हुई पूँजी पर तो ब्याज देते ही रहना पड़ेगा, मशीनों के इस्तेमाल न करने पर भी समय के कारण क्षति होगी, उस ह्रास को तो भुगतना ही पड़ेगा, चाहे कारखाना चले या बंद रहे। साथ ही, चूँकि ऊँचे दर्जे के वेतनभोगी अफ़सर आदि हमेशा जल्दी-जल्दी निकाले नहीं जा सकते, क्योंकि वैसे कुशल, अनुभवी, मँजे हुए कर्तव्य-परायण व्यक्ति जल्दी मिलते नहीं, अस्तु उन के वेतन का खर्च चालू रहेगा। इस प्रकार पूरक लागत बराबर चालू रहती है।

कारखाने को सदा चलाते रहने के लिए ज़रूरी है कि उत्पन्न की हुई वस्तु की क़ीमत कम से कम इतनी तो ज़रूर हो कि उस से पूरी लागत, यानी प्रमुख लागत और पूरक लागत दोनों ही वसूल हो सकें। यदि ऐसा

न होगा, क़ीमत पूरी लागत से कम होगी तो अंत में कारख़ाना बंद हो जायगा, उस वस्तु का उत्पादन रुक जायगा। किंतु कुछ समय के लिए तो केवल इतनी क़ीमत पर भी वस्तु बेची जा सकती है जिस से केवल प्रमुख-लागत निकल आए, क्योंकि यदि प्रमुख लागत निकल आयगी, तो आगे के लाभ की आशा से कारख़ाना चलाया जा सकता है और पूरक लागत आगे की बिक्री से पूरी की जा सकती है। कब और कैसे पूरी लागत वसूल होती है, और कब और कैसे केवल प्रमुख-लागत, इस का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

अध्याय ३४

मंडी में मूल्य का निर्णय

कोई एक वस्तु तभी तक उत्पन्न की जायगी जब तक कि मंडी में उस की बिक्री से जो मूल्य मिले उस से लागत खर्च तो कम से कम पूरा हो जाय। किंतु एक ही वस्तु का मंडी में हमेशा एक-सा मूल्य नहीं मिलता। कभी ज़्यादा मिलता है, कभी कम। मंडी में मूल्य का निर्णय, अन्य बातों के समान रहने पर, समय के अनुसार होता है। समय या काल का मूल्य के निर्णय पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मंडी का विचार समय के अनुसार ही किया जाता है, और मूल्य का निर्णय मंडी के अनुसार होता है।

समय और मूल्य

समय के अनुसार मंडी के मुख्य दो भेद होते हैं:— (१) अल्प कालीन मंडी, और (२) दीर्घकालीन मंडी। सूक्ष्म विचार करने पर प्रत्येक के दो-दो भेद और भी माने जाते हैं, यथा (अ) अति-अल्पकालीन मंडी, (आ) अल्पकालीन मंडी (इ) दीर्घकालीन मंडी (ई) अति-दीर्घकालीन मंडी। प्रत्येक प्रकार की मंडी में मूल्य के संबंध में जो परिवर्तन होते हैं, उस पर जोप्रभाव पड़ते हैं, उन का वर्णन आगे किया जाता है।

मंडी के भेद

अति-अल्पकाल (जैसे एक दिन) में मंडी का भाव अधिकतर माँग पर निर्भर रहता है। इस का कारण है। अति-अल्पकाल में नए उत्पादन द्वारा, अथवा अन्य स्थान से स्टाक लाकर उस वस्तु का परिमाण (या संख्या) नहीं बढ़ाया जा सकता। क्योंकि माल लाने या बनाने के लिए समय ही नहीं रहता। इस कारण जो भी

अति-अल्पकाल

परिमाण उस काल में उस वस्तु का रहता है केवल उतनी ही पूर्ति की मात्रा रहती है, और उसी की खपत या बिक्री की जा सकती है। फल यह होता है कि अधिकांश में माँग के द्वारा ही मूल्य का निर्णय किया जाता है। यदि माँग बढ़ गई तो ख़रीदारों में आपस में काफ़ी प्रतिस्पर्धा बढ़ जाती है, क्योंकि पूर्ति की मात्रा तो निश्चित रहती है, और उसी में से प्रत्येक ख़रीदार अधिक से अधिक परिमाण में लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में उन की आपसी चढ़ा-ऊपरी से भाव चढ़ जाता है। दाम बढ़ जाते हैं।

किंतु यदि माँग कम हो जाय तो दाम गिर जायँगे। क्योंकि बेचनेवाले आपस में प्रतिस्पर्धा करके ग्राहकों के हाथों अपना-अपना माल बेचने की धुन में भाव गिरा देंगे। ख़रीदार या तो उतने ही होंगे या कम हो जायँगे। यदि उतने ही रहेंगे तो प्रत्येक की ख़रीद की मात्रा अपेक्षाकृत कम हो जायगी। उन में आपस में प्रतियोगिता कम होगी। अस्तु भाव चढ़ेगा नहीं, दाम कम हो जायँगे। इस के साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि वह वस्तु दूध, हरी तरकारी आदि की तरह शीघ्र नष्ट होने वाली होगी तो बेचनेवाले उसे जल्दी से जल्दी निकालना चाहेंगे। अस्तु, बेचनेवालों में भी आपस में प्रतियोगिता होगी। इस प्रकार अति अल्प काल में पूरी लागत का वैसा अधिक असर न पड़ेगा और भाव का निर्णय माँग के अनुसार होगा। यदि बिक्री की वस्तु गेहूँ, चावल, कपड़ा आदि की तरह अधिक टिकाऊ होगी तो बेचनेवाले माँग कम होने पर पूरे परिमाण को बेचने के लिए तैयार होंगे, उस में से कुछ ही अंश बेचेंगे। पर भाव का निर्णय अधिकतर माँग के उपर ही निर्भर रहेगा, क्योंकि और नया स्टाक मंडी में न लाया जा सकेगा। अस्तु अति अल्प काल में पूर्ति का (और उस के द्वारा उत्पादन-व्यय या पूरी लागत का) वैसा विशेष प्रभाव भाव पर न पड़ेगा।

अल्पकाल में, जब कि कुछ महीनों का समय विचाराधीन रहता है,

अल्प काल

किसी वस्तु के स्टाक को अन्य स्थानों से पूरा किया जा सकता है, तथा नई फ़सल या उत्पत्ति के कारण उस में परिवर्तन किया जा सकता है। किंतु उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए साधनों में एकाएक ज़्यादा रद्दोबदल नहीं हो सकता। जितना श्रम, पूँजी, प्रबंध आदि उस व्यवसाय में पहले से लगे रहते हैं, उन्हीं से आवश्यकतानुसार कम-ज़्यादा उत्पत्ति की जाती है।

ऐसी दशा में यदि माँग बढ़ जायगी, तो अन्य सभी बातों के पूर्ववत् रहने पर, भाव बढ़ जायगा, क्योंकि यदि (१) पूर्ति पूर्ववत् ही रहने दी गई तो उतने ही परिमाण के लिए ख़रीदारों में अधिक प्रतियोगिता होगी, अस्तु दाम बढ़ जायँगे। (२) यदि पूर्ति बढ़ाने की चेष्टा की जायगी तो अधिकतर पहले से उपयोग में लगे हुए साधनों से ही काम लिया जायगा। अस्तु उन्हें अधिक उजरत देनी पड़ेगी। ऐसी दशा में और अधिक उत्पन्न की जानेवाली तादाद पर लागत-ख़र्च अपेक्षाकृत प्रति इकाई अधिक पड़ेगा। अस्तु पूर्ति की मात्रा बढ़ जाने पर भी लागत-खर्च के बढ़ जाने से दाम ज़्यादा हो जायँगे।

यदि अल्प काल में माँग घट जाय तो अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, दाम घट जायँगे, क्योंकि यदि पूर्ति में कमी न की गई तो ख़रीदारों के बीच तो उतनी ही या उस से कम प्रतियोगिता रहेगी, किंतु बेचनेवालों में आपस में प्रतियोगिता बढ़ जायगी, कारण कि उन्हें अपने कुल माल को कम ख़रीदारों में (या ऐसे ख़रीदारों में जिन में से प्रत्येक पहले से कम तादाद में ख़रीदना चाहता है) खपाने की लालसा रहेगी, इस कारण दाम गिर जायँगे।

दीर्घ काल

दीर्घ काल में किसी वस्तु का मूल्य अधिकतर उस के उत्पादन-व्यय पर निर्भर रहता है। इस का कारण यह है कि यदि दीर्घकाल में माँग घट जाय तो उस वस्तु की पूर्ति कम करदी जायगी, उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए साधन धीरे-धीरे

अन्य व्यवसायों, उद्योग-धंधों में लग जायँगे, और जितनी उस वस्तु की माँग होगी उसी के अनुसार उस की पूर्ति की जायगी। यदि माँग बढ़ जायगी तो उसी के अनुसार पूर्ति बढ़ा दी जायगी, अन्य उद्योग-धंधों से निकाल कर साधन उस वस्तु के उत्पादन में और अधिक तादाद में लगा दिए जायँगे। अस्तु पूर्ति बढ़ जायगी। दोनों ही दशाओं में वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय पर अधिक निर्भर होगा, क्योंकि यदि पूरा उत्पादन-व्यय (प्रमुख तथा पूरक लागत दोनों ही) उस के दामों से न निकल आए तो उस के उत्पादन में कमी पड़ जायगी। उत्पन्न करनेवालों को घाटा होगा, पूर्ति कम पड़ जायगी। ख़रीदारों की माँग पूर्ववत् बनी रहने के कारण उन में आपस में प्रतियोगिता बढ़ेगी। अस्तु दाम बढ़ जायँगे। इस प्रकार दीर्घ काल में माँग के अनुसार ही पूर्ति होगी, और मूल्य कम से कम इतना अवश्य होगा जिस से पूरी लागत यानी प्रमुख लागत तथा पूरक लागत दोनों ही पूरी तरह से निकल आएं।

अति दीर्घ काल

अति दीर्घ काल में मूल्य अधिकतर केवल उस वस्तु के उत्पादन-व्यय पर ही निर्भर न रह कर उस वस्तु के उत्पादन में काम आनेवाले साधनों के उत्पादन-व्यय पर भी निर्भर रहता है। अति दीर्घकाल में नवीन आविष्कारों, नवीन परिवर्तनों, आदि का भी उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। अस्तु साधनों के उत्पादन में जो व्यय पड़ता है उसी के अनुसार साधनों को उजरत दी जाती है, और साधनों को जो उजरत दी जाती है वही किसी वस्तु के उत्पादन-व्यय में समावेशित होती है। इस प्रकार उस वस्तु के उत्पादन में काम आनेवाले साधनों के उत्पादन-व्यय का भी प्रभाव उस वस्तु के मूल्य पर पड़ता है।

पहले घड़ियां बहुत मँहगी बिकती थीं। समय बीतने पर घड़ियों के उत्पादन में जो साधन काम में लाए जाते हैं उन के उत्पादन में कम ख़र्च पड़ने लगा, अस्तु घड़ियों के बनाने में जो साधन काम में लाए जाते हैं उन्हें कम उजरत दी जाने लगी। इस प्रकार घड़ियों का लागत-व्यय घ

गया। अस्तु, उन का मूल्य कम हो गया, घड़ियां सस्ती बिकने लगीं।

ऊपर के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि मंडी में जितने ही अल्प काल के अनुसार विचार किया जायगा, मूल्य पर उतना ही अधिक प्रभाव माँग का रहेगा, और जितने ही दीर्घ काल के अनुसार विचार होगा मूल्य पर उतना ही अधिक प्रभाव उत्पादन-व्यय का होगा। मूल्य पर उत्पत्ति के क्रमागत-ह्रास नियम, समता-नियम, और वृद्धि-नियम का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इन नियमों के अनुसार ही लागत-खर्च घटता-बढ़ता है।

काल, माँग, उत्पादन-व्यय

यदि वस्तु के उत्पादन में क्रमागत-ह्रास नियम लागू होता है तो, अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, जैसे-जैसे माँग बढ़ती जायगी, वैसे ही वैसे दाम बढ़ते जायँगे क्योंकि उत्पादन का परिमाण जैसे-जैसे अधिकाधिक बढ़ाया जायगा वैसे ही वैसे प्रत्येक इकाई का उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा। अस्तु मूल्य बढ़ जायगा, और यदि माँग घट जायगी तो प्रति इकाई मूल्य कम होता जायगा, क्योंकि पहले से कम तादाद में उत्पादन करने से लागत-ख़र्च कम पड़ेगा।

ह्रास-नियम और मूल्य

यदि उत्पादन में क्रमागत वृद्धि नियम लागू होगा तो माँग बढ़ने पर मूल्य कम होता जायगा, क्योंकि जैसे-जैसे अधिकाधिक परिमाण में उत्पादन किया जायगा वैसे ही वैसे लागत-ख़र्च प्रति इकाई कम बैठेगा। और यदि माँग घट जायगी तो मूल्य बढ़ जायगा, क्योंकि उत्पादन के परिमाण में कमी करने से प्रति इकाई लागत-ख़र्च अधिकाधिक बैठेगा।

वृद्धि-नियम और मूल्य

क्रमागत समता उपज नियम के लागू होने पर माँग के घटने-बढ़ने से मूल्य में वैसे कोई फ़र्क न पड़ेगा, क्योंकि उत्पादन-व्यय में वैसे कोई फ़र्क़ न आएगा, प्रति इकाई लागत-ख़र्च समान रहेगा।

समता-नियम और मूल्य

मंडी में आनेवाली वस्तु का पूरा परिमाण साधारण स्थिति में केवल एक ही व्यक्ति द्वारा नहीं उत्पन्न किया जाता। प्रत्येक वस्तु के अनेक उत्पादक होते हैं। किसी उत्पादक का उत्पादन-व्यय कम पड़ता है और किसी का अधिक। किंतु मंडी में तो उस वस्तु की विभिन्न इकाइयों का दाम एक ही होता है। अल्प काल में वस्तु के मूल्य का निर्णय अधिकतम उत्पादन-व्यय द्वारा किया जाता है और दीर्घ काल में न्यूनतम उत्पादन-व्यय द्वारा। अल्प काल में मंडी में जो परिमाण वस्तु का मौजूद रहता है उसी के अनुसार माँग द्वारा मूल्य का निर्णय किया जाता है। और माँग तथा पूर्ति के मामले में जिस उत्पादक का उत्पादन-व्यय सब से अधिक होगा, अधिकतम होगा, वही उत्पादक सीमांत उत्पादक माना जायगा। अब चूँकि उसे सब से अधिक उत्पादन-व्यय देना पड़ता है, इस लिए यदि मंडी में उस के माल की ज़रूरत है तो उसे इतना दाम तो देना ही पड़ेगा जिस से उस का उत्पादन-व्यय निकल आए और तभी ख़रीदार उस के माल को पा सकेंगे। यदि उतना दाम न लगेगा तो सीमांत उत्पादक (जिस का उत्पादन-व्यय सब से अधिक आया है) अपना माल मंडी से अलग कर लेगा, मंडी की पूर्ति में उस के माल की गिनती न होगी। अस्तु पूर्ति कम हो जायगी। और चूँकि माँग में कमी नहीं पड़ी है, इस लिए ख़रीदारों में आपस में प्रतियोगिता होगी और दाम यहां तक चढ़ जायँगे कि सीमांत उत्पादक को उन दामों पर बेचने में घाटा न होगा। और चूँकि मंडी में भाव एक ही रहेगा, इस लिए सीमांत उत्पादक के उत्पादन-व्यय द्वारा ही भाव निश्चित किया जायगा।

अधिकतम और न्यूनतम उत्पादन-व्यय

मान लीजिए कि मंडी में १००० मन चीनी की माँग है। इस १००० मन में १०० मन राम नामक उत्पादक उत्पन्न कर के मंडी में भेजता है और बाकी ९०० मन अन्य अनेक उत्पादक। राम का उत्पादन-व्यय प्रति मन ८) मन के हिसाब से पड़ता है, और अन्य उत्पादकों में से किसी का

५) मन, किसी का ७) मन। राम का उत्पादन-व्यय सब से अधिक पड़ता है। अस्तु यही अधिकतम उत्पादन-व्यय है। वह सीमांत उत्पादक है। यदि मंडी में ७) मन का भाव हो तो राम अपना माल न बेच सकेगा, क्योंकि उसे घाटा होगा। अस्तु माँग के हिसाब से मंडी में १०० की कमी पड़ जायगी। ख़रीदारों को चूँकि पूरा परिमाण नहीं मिला, इस कारण उन में आपस में प्रतियोगिता होगी और भाव बढ़ कर ८) मन तक हो जायगा। इस भाव पर राम का भी माल खप सकेगा। इस प्रकार अधिकतम उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य तय होगा।

किंतु दीर्घ काल में न्यूनतम उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। दीर्घ काल में प्रत्येक उत्पादक नवीन आविष्कारों, नवीन उपायों, सस्ते किंतु अधिक मात्रा में उत्पन्न करनेवाले साधनों को काम में लाने की चेष्टा करके उत्पादन-व्यय को कम से कम करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक उत्पादक ऐसी मशीनें काम में लाएगा जो अधिक से अधिक माल कम से कम लागत-ख़र्च पर तैयार कर सकें। आपस में प्रतियोगिता होगी। जो अपना उत्पादन-व्यय घटा न सकेंगे वे उत्पादक मंडी से, उत्पादन-क्षेत्र से मजबूरन निकल जायँगे; क्योंकि वे अपने माल को मंडी में उचित मूल्य पर बेच न सकेंगे, और जो न्यूनतम व्यय में उत्पादन कर सकेंगे वे माँग के अनुसार पूरी पूर्ति कर देंगे। जो सस्ते दामों पर बेचेंगे मंडी उन्हीं के हाथों में रहेगी। इस प्रकार दीर्घ काल में न्यूनतम उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य का निर्णय किया जायगा।

मान लीजिए मंडी में एक ही तरह की १००० मोटरों की माँग है। उत्पादक उत्पत्ति के साधनों को बदल सकता है, नए कारख़ानों को स्थापित कर सकता है पुराने कारख़ानों में ज़रूरी रद्दोबदल, उचित सुधार कर सकता है। ऐसी दशा में जो उत्पादक कम से कम लागत-ख़र्च पर मोटर तैयार कर सकेगा, उसी के हाथों में मंडी चली जायगी। जिन का लागत-ख़र्च ज़्यादा पड़ेगा वे काम को छोड़ देंगे। क्योंकि मंडी के भाव पर बेचने में उन्हें घाटा

लगेगा। राम की लागत ५००) फ़ी मोटर पड़ती है, श्याम की ६००), मोहन की ८००)। अब चूँकि राम सब से कम में बेच सकता है, इस कारण श्याम और मोहन मंडी में ठहर न सकेंगे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राम जितनी इकाइयां मोटर की अधिक बनायगा, लागत ख़र्च प्रति इकाई उतना ही कम बैठेगा, क्योंकि फ़ी मोटर पूरक लागत उतनी ही कम पड़ेगी। अस्तु वह मंडी की कुल माँग पूरी कर देगा। अस्तु दूसरों को प्रतियोगिता में हार कर मंडी से भाग जाना पड़ेगा।

स्वाभाविक मूल्य, क़ीमत

प्रत्येक वस्तु के स्वाभाविक मूल्य का विचार एक विशेष काल के अनुसार किया जाता है। एक विशेष काल में अन्य सभी वस्तुओं के पूर्ववत् रहने पर, प्रत्येक वस्तु का एक विशेष स्वाभाविक मूल्य रहता है। समय और अन्य बातों के बदलने पर स्वाभाविक मूल्य बदल जाता है। इस प्रकार स्वाभाविक मूल्य सदा परिवर्तनशील है, स्थिर नहीं है।

किसी वस्तु का स्वाभाविक मूल्य जब द्रव्य के द्वारा (रुपयों-पैसों में) व्यक्त किया जाता है तो उसी को उस वस्तु की स्वाभाविक क़ीमत कहते हैं।

व्यवसाय के भेद

कारख़ानों की दृष्टि से व्यवसायों के दो विभेद होते हैं। एक तो एक कारख़ानेवाला व्यवसाय और दूसरा अनेक कारख़ानों वाला व्यवसाय। एक कारख़ानेवाले व्यवसाय में कुल माल केवल एक ही कारखाने द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अनेक कारख़ानों वाले व्यवसाय का कुल माल केवल एक ही कारख़ाने द्वारा तैयार नहीं होता, वरन् अनेक कारख़ाने अलग-अलग उत्पादन करके उस व्यवसाय का कुल माल तैयार करते हैं। मंडी में एक लाख मोटर तैयार होकर आते हैं। यदि व्यवसाय एक कारख़ानेवाला व्यवसाय होगा तो एक ही कारख़ाने से एक लाख मोटर तैयार होंगे। यदि व्यवसाय अनेक कारख़ानों वाला व्यवसाय होगा तो दस हज़ार मोटर एक कारख़ाने में तैयार होंगे, २०००० दूसरे में, ५०००० तीसरे में, और बाक़ी ३०००० चौथे कारख़ाने में तैयार

होंगे। इस प्रकार कुल माल अनेक कारख़ानों द्वारा तैयार किया जाता है, न कि एक ही कारख़ाने से।

एक कारख़ानेवाले व्यवसाय में मूल्य

जब व्यवसाय एक कारख़ानेवाला व्यवसाय होगा तो मूल्य औसत लागत-व्यय द्वारा निश्चित किया जायगा। इस का कारण है। एक कारख़ाने में जो भी विभिन्न इकाइयां तैयार की जाती हैं एक हद के बाद उन के उत्पादन व्यय में क्रमागत उत्पत्ति नियमों के कारण विभिन्नता उपस्थित हो जाती है।

यदि उत्पादन में क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है तो जैसे-जैसे उत्पादन-व्यय की अधिकाधिक इकाइयां लगाई जायँगी वैसे ही वैसे उत्तरोत्तर कम व्यय पड़ेगा। इस कारण वस्तु की पहले तैयार होनेवाली कुछ इकाइयों पर अधिक ख़र्च पड़ेगा और बादवाली इकाइयों पर क्रमशः कम। यदि उस कारख़ाने में १२००० छड़ियां उत्पन्न की जाती हैं तो पहली १००० छड़ियों पर अधिक व्यय पड़ेगा, दूसरी ४००० छड़ियों पर पहले से कुछ कम, और तीसरी ४००० छड़ियों पर दूसरी बार से भी कम। मान लो कि पहली बार प्रति इकाई १२ आना ख़र्च पड़ा, दूसरी बार १० आना प्रति इकाई के हिसाब से और तीसरी बार ८ आना प्रति इकाई की दर से। किंतु चूँकि सभी इकाइयां आकार-प्रकार, गुण-रूप आदि में समान ही हैं, इस कारण मंडी में तो प्रत्येक इकाई का मूल्य समान ही रहेगा, और उत्पादक को अपने पूरे उत्पादन व्यय को खड़ा करना है। यदि वह ८ आना प्रति छड़ी बेचता है तो उस की पहलेवाली छड़ियों का लागत-ख़र्च नहीं निकलता, और यदि १२ आना फ़ी इकाई की दर से बेचता है तो दाम अधिक पड़ते हैं। बाज़ार में असंतोष फैलने की आशंका रहती है। इस कारण वह तीनों प्रकार के उत्पादन-व्ययों की औसत लेकर मूल्य निर्धारित करेगा। १२ + १० + ८ = ३० ÷ ३ औसत निकाल कर मूल्य निर्धारित करेगा। इस से उस की प्रत्येक इकाई का लागत-ख़र्च निकल आएगा और उसे बाज़ार के असंतोष की भी आशंका न रहेगी।

यदि उस उत्पादन-कार्य में क्रमागत-ह्रास नियम लागू होता है तो जैसे-जैसे उत्पत्ति की मात्रा बढ़ेगी वैसे ही वैसे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी बढ़ेगा। मान लो कि पहले ४००० इकाइयों पर उसे ८ आना प्रति इकाई के हिसाब से व्यय पड़ता है। दूसरी बार की ५००० इकाइयों पर १० आना फ़ी इकाई की दर से और अंत में १२ आना फ़ी इकाई के हिसाब से। ऐसी हालत में भी उसे अपने कुल उत्पादन-व्यय को निकालने के लिए औसत निकाल कर प्रति इकाई का मूल्य निर्धारित करना पड़ेगा। इस बार भी प्रति छड़ी दस आना औसत मूल्य बैठेगा।

यदि उत्पादन में क्रमागत-समता नियम लागू होगा तब चाहे कुल व्यय की औसत के द्वारा मूल्य तय कर दिया जायगा अथवा सीमांत उत्पादन-व्यय द्वारा, बात एक ही होगी; कारण कि प्रति इकाई बराबर उत्पादन-व्यय पड़ते जाने से सीमांत उत्पादन-व्यय और कुल व्यय की औसत एक ही निकलेगी। और चूँकि कारख़ानों में प्रायः या तो क्रमागत-वृद्धि नियम लागू होता है अथवा क्रमागत-ह्रास नियम, इस कारण एक कारख़ानेवाले व्यवसाय में मूल्य का निर्णय औसत उत्पादन व्यय द्वारा किया जायगा।

अनेक कारख़ानों-वाले व्यवसाय में मूल्य

किंतु अनेक कारख़ानेवाले व्यवसाय में मूल्य सीमांत उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित किया जाता है। अनेक कारखानोंवाले व्यवसाय में सीमांत उत्पादक द्वारा मूल्य का निर्धारण किया जायगा। क्योंकि यदि मूल्य सीमांत उत्पादक के मूल्य से कम होगा तो उसे (सीमांत उत्पादक को) मंडी से निकल जाना पड़ेगा, कारण कि उस का कुल लागत ख़र्च न निकलेगा, उसे हानि उठानी पड़ेगी। उस ने जितनी तादाद उत्पन्न की थी, उस के मंडी से निकल जाने से पूर्ति में उतने की कमी पड़ जायगी। इस कारण, और सब बातों के पूर्ववत् रहने पर, माँग में कोई फ़र्क़ न पड़ने से, पूर्ति की मात्रा में कमी पड़ते ही ख़रीदारों में होड़ होगी। भाव चढ़ जायगा। इतना चढ़ जायगा कि जो सीमांत उत्पादक मंडी से हट गया था,

उस मूल्य पर बेचने में उस का लागत-ख़र्च निकल आएगा। इस कारण वह फिर मंडी में आ जायगा।

मान लो कि मंडी में १२००० इकाइयों की माँग है, और क, ख, ग, घ नामक अनेक कारख़ानों द्वारा उन का उत्पादन किया गया है। क ५००० इकाइयां बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय ८ आना फ़ी इकाई पड़ता है। ख ४००० इकाइयां बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय १० आना पड़ता है। ग २००० इकाइयां बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय १२ आना फ़ी इकाई पड़ता है। घ १००० इकाइयां बनाता है और उस का उत्पादन-व्यय प्रति इकाई १४ आना होता है। घ सीमांत उत्पादक है और मंडी में १४ आना सीमांत उत्पादन-व्यय होता है। यदि माँग १२००० इकाइयों की है तो मूल्य १४ आना होगा। यानी सीमांत उत्पादन-व्यय द्वारा मूल्य तय किया जायगा। यदि मूल्य १२ आना हो जाय तो घ अपना माल न बेच सकेगा, क्योंकि उसे पड़ता न पड़ेगा। इस कारण वह मंडी से अपनी १००० इकाइयों को लेकर हट जायगा। मंडी में, माँग के हिसाब से १००० इकाइयों की कमी पड़ जायगी। ख़रीदारों को तो १२००० इकाइयां चाहिए, और उन्हें मिल रही हैं केवल ११००० ही। इस कारण ख़रीदारों में प्रतियोगिता होगी, भाव चढ़ेगा और चढ़ कर जब तक १४ आना तक न आएगा तब तक पूर्ति की मात्रा न बढ़ेगी। जब भाव १४ आना तक आ जायगा तब घ अपनी १००० इकाइयों को लेकर मंडी में आ जायगा। क्योंकि इस भाव पर उस का उत्पादन-व्यय निकल आता है माँग और पूर्ति के परिमाण बराबर हो जायँगे। (उस समय के लिए) मूल्य स्थिर हो जायगा इस प्रकार अनेक कारख़ानोंवाले व्यवसाय में मूल्य सीमांत उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होगा।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि अनेक कारख़ानोंवाले व्यवसाय में भी प्रत्येक कारख़ाने का उत्पादन-व्यय कुल इकाइयों के उत्पादन-व्यय की औसत के द्वारा ही निश्चित किया जायगा, जैसा कि ऊपर एक कारख़ाने-

वाले व्यवसाय के संबंध में दिखलाया जा चुका है। घ कारख़ाने का उत्पादन-व्यय जो १४ आना माना गया है वह भी १००० इकाइयों के विभिन्न उत्पादन-व्ययों की औसत निकाल कर ही माना जायगा, क्योंकि घ कारख़ाने में उत्पन्न होनेवाली इकाइयों पर क्रम से जो भी कमोवेश व्यय पड़ा है, बिक्री द्वारा एक भाव पर बिकने पर सभी इकाइयों से कुल उत्पादन-व्यय तो निकल ही आना चाहिए। सब से अधिक होने के कारण घ कारख़ाने का उत्पादन-व्यय सब कारख़ानों को दृष्टि में रखते हुए सीमांत उत्पादन-व्यय माना जायगा और घ कारख़ाना सीमांत कारख़ाना या सीमांत-उत्पादक ठहरेगा। और घ के उत्पादन-व्यय द्वारा ही मूल्य निर्धारित होगा।

फुटकर और थोक भाव

मंडी या बाज़ार में दो तरह से ख़रीद-फ़रोख़्त होती है, फुटकर और थोक। और इसी कारण भाव भी दो तरह के होते हैं, फुटकर भाव और थोक भाव। जब कोई वस्तु एक बार में एक साथ अधिक परिमाण में ख़रीदी-बेची जाती है तब उस ख़रीद-बिक्री को थोक ख़रीद-बिक्री कहते हैं। जब कोई वस्तु थोड़े-थोड़े परिमाण में ख़रीदी-बेची जाती है, तब उसे फुटकर बिक्री कहते हैं। थोक और फुटकर दर में फ़र्क़ रहता है। थोक में, फुटकर की बनिस्बत प्रायः कुछ कम दाम देने पड़ते हैं। फुटकर बिक्री में, थोक की अपेक्षा, अधिक व्यक्तियों से संबंध रहता है। थोक भाव के सस्ते होने पर भी फ़ौरन ही फुटकर भाव में कमी नहीं पड़ती। दूकानदार प्रायः वही पुराने दाम लगाते हैं। बाद में धीरे-धीरे फुटकर दामों में फ़र्क़ पड़ता है। इस के विपरीत थोक दामों में जल्दी ही फ़र्क़ पड़ जाता है। एक बात और है। फुटकर भाव पर थोक भाव का प्रभाव तो पड़ता है, पर केवल थोक भाव फुटकर भाव का मूल कारण नहीं माना जा सकता। माँग और पूर्ति के ऊपर ही थोक और फुटकर दोनों तरह के भाव निर्भर रहते हैं।

अभी तक किसी एक वस्तु के मूल्य के संबंध में जो विचार किया गया है वह केवल उसी एक वस्तु को ध्यान में रख कर। किंतु मनुष्य के प्रति-

दिन के जीवन में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य का विचार अन्य अनेक वस्तुओं को ध्यान में रख कर किया जाता है, क्योंकि अनेक वस्तुएं एक-दूसरी के साथ उपयोग में लाई जाती हैं। अस्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्यों का आपस में बहुत गहरा संबंध रहता है।

संयुक्त माँग

मनुष्य के प्रति-दिन के जीवन में अनेक वस्तुएं साथ-साथ एक-दूसरे के कारण, उपयोग में आती हैं, उन की संयुक्त माँग होती है, जैसे दाल चावल, घी, मसाले, लकड़ी, तरकारी, नमक आदि या पान, चूना, कत्था, सुपारी आदि की संयुक्त-माँग। केवल दाल से काम नहीं चलता। उस के साथ नमक, मसाले, लकड़ी आदि ज़रूरी हैं। यदि दाल की माँग बढ़ जाय तो उस के साथ ही साथ, लकड़ी, नमक, मसाले आदि की माँग भी बढ़ जायगी, और दाल की माँग के घटने से इन अन्य साथ में उपयोग में आनेवाली वस्तुओं की माँग भी घट जायगी। भूमि, श्रम, पूँजी आदि उत्पत्ति के साधन भी साथ ही साथ उपयोग में आते हैं। इन की माँग साथ-साथ होती और घटती-बढ़ती है।

संयुक्त पूर्ति

इसी प्रकार कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिन की पूर्ति साथ-साथ होती है। रुई और बिनौले, गेहूं और भूसा, तेल और खली, ऊन और गोश्त, सींग और चमड़ा आदि ऐसी ही वस्तुएं हैं। जब दो या अधिक वस्तुएं उत्पादन की एक ही क्रिया द्वारा इस प्रकार एक साथ प्राप्त होती हैं कि एक वस्तु के उत्पादन के साथ ही दूसरी वस्तु ज़रूर ही उत्पन्न होगी, उस का उत्पन्न होना रोका नहीं जा सकता, तब ये वस्तुएं संयुक्त उपज कहलाती हैं और ऐसी वस्तुओं की पूर्ति संयुक्त पूर्ति मानी जाती हैं। इन में से जो वस्तु अधिक महत्व की होती है उसे मुख्य उपज और जो कम महत्व की होती है उसे गौण उपज कहते हैं।

संयुक्त उपज का मूल्य

संयुक्त उपज का मूल्य (१) संयुक्त उत्पादन-व्यय तथा (२) उन उपजों की विभिन्न माँगों के द्वारा निश्चित किया जाता है। क्रम इस प्रकार है। संयुक्त उपज में यदि

दो वस्तुएं हैं तो दोनों के विभिन्न मूल्य मिल कर इतने ज़रूर हों कि दोनों के जोड़ से उत्पादन-व्यय पूरा-पूरा निकल आए। मान लो कि एक खेत की उपज से ५ मन रुई और ४ मन बिनौले प्राप्त हुए, और दोनों के उत्पादन में ५०) व्यय हुए। तो ५ मन रुई और ४ मन बिनौले अलग-अलग इस भाव से बिकने चाहिए जिस से दोनों के मूल्य को जोड़ने पर कम से कम ५०) आ जायँ। यदि ८) मन के हिसाब से रुई बिकती है तो कुल रुई की बिक्री से ४०) प्राप्त होते हैं। अस्तु ४ मन बिनौले कम से कम १०) में बिकने चाहिए, यानी बिनौले का भाव कम से कम २॥ रुपए मन होना चाहिए।

माँग के नियम के अनुसार संयुक्त उपज की विभिन्न वस्तुओं की माँग विभिन्न वस्तुओं की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न होगी। रुई की आवश्यकता के अनुसार रुई की माँग एक विशेष प्रकार की होगी और बिनौले की माँग अन्य प्रकार की। किंतु दोनों की माँगों का प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ेगा, और दोनों के मूल्य का निर्णय एक दूसरे की माँग और पूर्ति तथा एक दूसरे के मूल्य के द्वारा होगा। यदि रुई की माँग घट जाय और इस कारण उस के दाम घट जायँ तो यह ज़रूरी हो जायगा कि या तो बिनौले के दाम बढ़ें या दोनों की उपज कम कर दी जाय ताकि भाव ऐसे ढर्रे पर आ जायँ कि अंत में दोनों की बिक्री से कुल उत्पादन-व्यय निकल आए।

संयुक्त माँग और संयुक्त पूर्ति का महत्व दिन पर दिन बढ़ता चला जा रहा है, क्योंकि वर्तमान समाज में जो उत्पादन-कार्य प्रचलित है, उस से संयुक्त उपज अधिकाधिक संख्या में प्राप्त होती रहती है।

सम्मिलित माँग

एक ही वस्तु के बहुत से भिन्न-भिन्न उपयोग होते हैं। प्रत्येक उपयोग के निमित्त वह वस्तु भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधों में खपती है। साथ ही अनेक व्यक्ति एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिमाणों में चाहते हैं। अस्तु किसी एक वस्तु को विभिन्न व्यवसाय वाले, अथवा एक मंडी के विभिन्न व्यक्ति जितने विभिन्न परिमाणों में चाहते

हैं, उन सब की विभिन्न माँगों के योग से ही उस वस्तु की जो कुल माँग होती है उसी को सम्मिलित माँग कहते हैं। जैसे, जौ को कुछ व्यवसाय वाले आटा बनाने के लिए चाहते हैं, कुछ शराब के लिए, कुछ दवा के लिए, कुछ मवेशियों को खिलाने के लिए। इन सब की माँग के योग को सम्मिलित-माँग कहते हैं।

सम्मिलित पूर्ति

इसी प्रकार किसी एक वस्तु को अलग-अलग अनेक उत्पादक उत्पन्न करते हैं। अस्तु उन सब की उपजों के योग के द्वारा सम्मिलित पूर्ति प्राप्त होती है। दूसरे, एक ही वस्तु अनेक उद्गमों अथवा मूल कारणों से उत्पन्न होती है, जैसे बिजली, गैस, मिट्टी के तेल, तिलहन के तेल, सरकंडे आदि अनेक भिन्न-भिन्न वस्तुओं से रोशनी प्राप्त की जा सकती है। अस्तु भिन्न-भिन्न मूल-कारणों से उत्पन्न होनेवाली एक ही वस्तु की सम्मिलित पूर्ति उन सब विभिन्न कारणों से प्राप्त होनेवाली वस्तु के योग से निश्चित की जायगी।

विभिन्न कारणों से प्राप्त होनेवाली वस्तु की पूर्तियां आपस में प्रतियोगिता करती हैं, और प्रतिस्थापन सिद्धांत के अनुसार जिस मूल कारण की वस्तु अधिक सस्ती और उपयोगी सिद्ध होगी वही अधिक उपयोग में आने लगेगी। जैसे बिजली की रोशनी अन्य उपायों से प्राप्त होने वाली रोशनियों से अधिक सस्ती, और अधिक अच्छी तथा सुविधाजनक होने के कारण अन्य सभी प्रकार की रोशनियों से अधिक परिमाण में काम में आने लगी है। पर जब कुल रोशनी का विचार किया जायगा तब सभी प्रकार की रोशनियों के योग से कुल रोशनी का परिमाण प्राप्त होगा। और इस प्रकार रोशनी की कुल पूर्ति सम्मिलित पूर्ति होगी। प्रत्येक प्रकार की रोशनी के मूल्य का निर्णय उस ख़ास रोशनी के उत्पादन-व्यय तथा सब तरह की रोशनियों की सम्मिलित माँग के साम्य द्वारा निश्चित किया जायगा।

अध्याय ३५

एकाधिकार और मूल्य

अभी तक प्रतियोगिता-पूर्ण, स्वतंत्र क्रय-विक्रय की स्थिति को दृष्टि में रख कर ही मूल्य के संबंध में विचार किया गया है। एकाधिकार में मूल्य का निर्णय कुछ भिन्न रीति से किया जाता है। एकाधिकार में प्रतियोगिता तथा स्वतंत्र बिक्री को कोई स्थान नहीं रह जाता। इस कारण मूल्य का निर्णय एकाधिकारी द्वारा वास्तविक लाभ या वास्तविक आय को सामने रख कर किया जाता है।

व्यापार का उद्देश्य आय

प्रत्येक व्यापार-व्यवसाय में व्यापारी-व्यवसायी का प्रमुख उद्देश्य होता है अधिक से अधिक लाभ उठाना। व्यापारी-व्यवसायी वही काम करेगा और उसी रीति-नीति से चलेगा जिस से उसे सब से अधिक वास्तविक आय होगी। अधिक से अधिक वास्तविक लाभ ही सर्वोपरि लक्ष्य रहता है। प्रतियोगितापूर्ण स्थिति तथा एकाधिकार प्रणाली दोनों में ही यह सिद्धांत समान रूप से लागू होता है। एकाधिकारी का भी प्रधान उद्देश्य अधिक से अधिक वास्तविक लाभ होता है। किंतु एकाधिकार प्रणाली में अधिक से अधिक वास्तविक लाभ को प्राप्त करने के लिए कुछ भिन्न रीतियों से काम लिया जाता है, और प्रतियोगितापूर्ण स्वतंत्र क्रय-विक्रय प्रणाली में उस से भिन्न रीतियों से।

प्रतियोगितापूर्ण प्रणाली में मूल्य

प्रतियोगितापूर्ण स्वतंत्र क्रय-विक्रय प्रणाली में पुनरुत्पादनीय वस्तुओं का मूल्य अधिकांश में उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। इस का कारण है। यदि कोई उत्पादक किसी वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक लेने

लगेगा तो अन्य प्रतियोगियों के कारण वह मंडी में ठहर न सकेगा, क्योंकि अन्य उत्पादक उस से कम मूल्य पर उसी वस्तु को बेचेंगे, इस से ग्राहक उस उत्पादक से उस वस्तु को न खरीदेंगे जो अधिक मूल्य लेगा। इस प्रकार अंत में उस वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय के द्वारा निर्धारित होगा।

एकाधिकार प्रणाली में मूल्य

किंतु एकाधिकार में स्थिति कुछ भिन्न रहती है। एकाधिकारी के हाथों में पूर्ति का नियंत्रण रहता है। वह यह निश्चित करता है कि मंडी में बिक्री के लिए कितने परिमाण में वस्तु रक्खी जाय। बिक्री की वस्तु के परिमाण का नियंत्रण करके वह मूल्य का नियंत्रण करता है। उसे प्रतियोगिता का तो भय रहता नहीं। इस कारण वह अपनी इच्छा के अनुसार मूल्य निर्धारित करता है। उस का मुख्य उद्देश्य होता है अधिक से अधिक वास्तविक आय प्राप्त करना। बिक्री की वस्तु के परिमाण का नियंत्रण करके वह ऐसा मूल्य निर्धारित करता है जिस से उसे अधिक से अधिक वास्तविक आय हो।

परिस्थिति के अनुसार निर्णय

एकाधिकारी परिस्थिति के अनुसार कभी कम मूल्य निर्धारित करने के साथ ही अधिक परिमाण में उत्पादन और बिक्री करके अधिक से अधिक वास्तविक आय प्राप्त करता है और कभी ऊँचे दाम रख कर उसी के साथ कम परिमाण में उत्पादन और बिक्री करके सब से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करता है। यह रेडियो के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा एकाधिकारी रेडियो के सेट के संबंध में यह तय कर सकता है कि उसे एक लाख रुपए का वास्तविक लाभ हो। अब वह परिस्थिति को देख पर यह तय करेगा कि उसे कम क़ीमत रखने में अधिक सुभीता होता है या ज़्यादा कीमत रखने में। यदि उसे जनता में अधिक सेट बेचने में सुभीता देख पड़ेगा तो वह प्रति सेट १० रुपया मुनाफ़ा लेकर १०००० सेट बना कर बेचने का आयोजन करेगा। यह भी हो सकता है कि उसे इस बात में सुभीता देख पड़े कि सेटों की संख्या केवल १००० रक्खे और प्रति सेट सौ रुपया मुनाफ़ा लेकर

अब उसी तरह की वस्तु के उत्पन्न करने में पड़ेगा।

इस सिद्धांत के विरुद्ध निम्न-लिखित आक्षेप ध्यान देने योग्य हैं:—

(क) मूल्य के ऊपर उपयोगिता का जो प्रभाव पड़ता है वह इस सिद्धांत के द्वारा स्वीकृत नहीं होता। यदि किसी कारण से एक वस्तु की इस समय कुछ भी उपयोगिता न रह जाय और उस वस्तु के बनाने में यदि इस समय भी १००) लागत-ख़र्च पड़े तो भी उस वस्तु का मूल्य १००) न होगा। पुराने तर्ज़ की पगड़ी के पुनरुत्पादन में आज भी चाहे ५) फ़ी पगड़ी ही लगे, तो भी उस का मूल्य इस समय ५) नहीं हो सकता, क्योंकि इस समय उस तरह की पगड़ियों का चलन नहीं रह गया है, इस कारण उन की उपयोगिता नहीं रह गई है। पुनरुत्पादन का व्यय ५) होने पर भी इस समय पगड़ी का मूल्य ५) रुपया नहीं होगा।

(ख) पुनरुत्पादन के व्यय का मूल्य पर केवल तभी प्रभाव पड़ सकता है जब ख़रीदार नई आमद के लिए रुके रहें। यदि किसी नगर में शत्रु के घेरा डालने, या बढ़ी हुई नदी के पानी के चारों तरफ़ से घेर लेने के कारण खाने की सामग्री का भाव बढ़ जाय तो उस पर पुनरुत्पादन के व्यय का कुछ भी असर न पड़ेगा। इस प्रकार यह सिद्धांत भी अधूरा ही ठहरता है।

श्रम-उत्पादन-व्यय सिद्धांत

श्रम-सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस श्रम-द्वारा निश्चित किया जाता है, जो उस वस्तु के उत्पादन में व्यय होता है। मूल्य का एक हेतु उपयोगिता अवश्य है, किंतु केवल उपयोगिता ही मूल्य का कारण नहीं है; मूल्य का मुख्य कारण है वह श्रम जो उस वस्तु के बनाने में लगाया जाता है।

इस सिद्धांत से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि श्रम को मूल्य का आधार मान लेने से मूल्य को श्रम के अनुसार मापा जा सकता है। दूसरे, न्यायपूर्वक यह निश्चित किया जा सकता है कि जिस वस्तु में जितना श्रम लगा हो उसी के अनुपात में उस का मूल्य निश्चित किया जाय। जिस वस्तु के बनाने में दो घंटे श्रम करना पड़े उस का मूल्य उस

वस्तु से दूना रहे जिस के बनाने में केवल एक ही घंटे श्रम करना पड़े।

इस सिद्धांत के विरुद्ध तर्क इस प्रकार हैं:—

(क) यदि श्रम मूल्य का आधार माना जायगा तो इस के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि किसी भी वस्तु का मूल्य बदल नहीं सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु के बनाने में जो श्रम पड़ा उस में रद्दोबदल नहीं किया जा सकता। जो श्रम एक बार एक वस्तु के उत्पन्न करने में लग गया वह फिर नहीं बदला जा सकता। किंतु प्रतिदिन के जीवन में देखा जाता है कि वस्तुओं के मूल्य में फ़र्क़ पड़ता रहता है, माँग और पूर्ति के अनुसार वस्तुएं महँगी-सस्ती होती रहती हैं। अस्तु, यह सिद्धांत ठीक नहीं है।

(ख) यदि मूल्य का कारण श्रम माना जाय तो जिन वस्तुओं के उत्पादन में बराबर-बराबर श्रम पड़ता है, उन का मूल्य बराबर-बराबर होना चाहिए। किंतु प्रायः ऐसा होता नहीं है। एक बराबर श्रम से उत्पन्न की हुई दो वस्तुओं के मूल्य बराबर-बराबर नहीं होते, कम-ज़्यादा होते हैं, और ऐसी दो वस्तुओं के मूल्य बराबर-बराबर होते हैं जिन में से एक के उत्पादन में कम श्रम लगता है और दूसरी के उत्पादन में पहली से कहीं अधिक।

(ग) यदि श्रम ही मूल्य का मुख्य आधार माना जायगा तो जिन वस्तुओं के उत्पादन में कुछ भी श्रम नहीं पड़ता उन का कुछ भी मूल्य नहीं होना चाहिए। किंतु झरने, जल-प्रपात आदि अनेक ऐसी प्राकृतिक वस्तुएं हैं जिन के उत्पादन में कुछ भी श्रम नहीं पड़ता, तो भी उन में उपयोगिता के होने के कारण उन का मूल्य होता है।

इस के उत्तर में यह कहा जाता है कि जब तक श्रम द्वारा उन वस्तुओं की उपयोगिता उपभोग-योग्य नहीं बना दी जाती तब तक उन का कुछ भी मूल्य नहीं होता। मूल्य सामाजिक धारणा है। प्राकृतिक वस्तुओं का तभी मूल्य होगा जब समाजिक व्यवस्था के कारण वे समाज के लिए उपयोगी होंगी, और इस के लिए समाज को किसी न किसी रूप में श्रम

करना पड़ता है ।

(घ) मूल्य का निश्चय उपयोगिता तथा उत्पादन-व्यय द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाता है। उत्पादन-व्यय में भूमि, श्रम पूँजी, व्यवस्था आदि अनेक साधनों की उजरत सम्मिलित रहती है । श्रम उस का एक अंश मात्र है । अस्तु यह मानना ठीक नहीं है कि मूल्य केवल श्रम द्वारा निश्चित होता है ।

इन सिद्धांतों के अतिरिक्त समाजवादियों और समष्टिवादियों के श्रम-सिद्धांत हैं। किंतु एक तो वे सभी सिद्धांत बहुत ही विवाद-ग्रस्त हैं, दूसरे श्रम को प्रधानता देकर जो कुछ वे प्रतिपादन करते हैं उस का खडन ऊपर वाले श्रम-सिद्धांत के संबंध में विचार करते समय किया जा चुका है, इस कारण उन सब बातों को फिर से दोहराना उचित न होगा ।

ऊपरवाले विभिन्न सिद्धांतों का समुचित रूप से मनन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयोगिता, उत्पादन-व्यय आदि में से किसी एक गुण या बात पर ज़ोर देने पर भी सभी को माँग और पूर्ति का ध्यान किसी न किसी रूप में रखना ही पड़ा है । अपने देश, काल और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दलवालों को किसी एक बात पर ज़्यादा ज़ोर देना पड़ा था, और वह भी एक ख़ास तरीक़े पर । और इसी कारण उन के सिद्धांत एकांगी और अधूरे उतरे । असल में मूल्य का निर्णय माँग और पूर्ति, अर्थात् उपयोगिता और उत्पादन-व्यय के साम्य के द्वारा ही उचित रूप से हो सकता है, और पिछले अध्यायों में समुचित रूप से इसी का प्रतिपादन किया भी गया है । यह बात भी स्पष्ट हो गई है कि अति अल्प-काल में माँग अर्थात् उपयोगिता द्वारा ही विशेष रूप से मूल्य का निर्णय किया जाता है, क्योंकि पूर्ति की मात्रा उस काल में बढ़ाई नहीं जा सकती, और इस कारण अति अल्प-काल में माँग ही प्रधान रहती है, और अति-दीर्घ काल में न केवल उस वस्तु के उत्पादन-व्यय अर्थात् परिमितता द्वारा, वरन् उस वस्तु के उत्पादन में योग देनेवाले विभिन्न साधनों के उत्पादन-

व्यय द्वारा भी अधिकांश में मूल्य का निर्णय किया जाता है। किंतु इस का यह मतलब तो नहीं होता कि अति-अल्पकाल में पूर्ति का क़तई ख़याल न किया जाय, पूर्ति का मूल्य के निर्णय में कुछ भी प्रभाव न पड़ता हो; और न यही कि अति-दीर्घकाल में माँग यानी उपयोगिता की बिल्कुल उपेक्षा की जाती हो। असल में मूल्य का अंतिम निर्णय सदा माँग और पूर्ति के साम्य द्वारा ही होता है, भले ही किसी कारण से किसी समय उन में से एक प्रधान हो जाय और दूसरा गौण।

इस माँग और पूर्तिवाले सिद्धांत के कारण दो बातें हुई हैं। एक तो यह कि इस सिद्धांत के कारण ऊपर के सभी सिद्धांतों का बहुत ही सुंदर और तथ्यपूर्ण समन्वय हो गया है। किसी भी पक्ष को अनुचित रूप से न तो महत्व ही दिया गया है, और न किसी की उपेक्षा ही की गई है। माँग और पूर्ति, उपयोगिता और उत्पादन-व्यय एक-दूसरे पर प्रभाव डाल कर और एक-दूसरे से प्रभावित होकर साम्य द्वारा मूल्य का निर्णय करते हैं। दूसरे यह कि इस सिद्धांत के कारण अर्थशास्त्र का मूल आधार मूल्य पर ही स्थिर हो गया है। मूल्य का प्रश्न ही अर्थशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय, केंद्र-बिंदु हो गया है। इस से अर्थशास्त्र के समस्त अंग सुसंगठित हो गए हैं, प्रत्येक विभाग का सुदृढ़ और आपस में एक-दूसरे पर निर्भर रहनेवाला संबंध वैज्ञानिक रूप से स्थापित हो गया है।

अब मूल्य उस विज्ञान का प्रमुख तथा केंद्रीय विषय हो गया है, जिस के अनुसार ही स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंडी में विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है। एक प्रकार से मूल्य द्वारा ही यह निश्चित किया जाता है कि क्या, कैसा, कितना उत्पादन किया जाय (यानी उत्पत्ति क्या, कैसी, कितनी हो); किस का वितरण क्या, कैसा, कितना किया जाय; विनिमय क्या, कैसा, कितना हो और उपभोग क्या, कितना, कैसा हो। सभी स्थानों में मूल्य का प्रश्न ही प्रमुख प्रश्न देख पड़ता है; सभी बातें मूल्य के द्वारा संचालित होती रहती हैं।

वितरण

अध्याय ३७

वितरण और उस का महत्व

वर्तमान समाज में धन का उत्पादन अनेक ऐसे व्यक्ति मिल कर करते हैं जिन का उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों पर स्वामित्व होता है और प्रत्येक उत्पादन कार्य में विभिन्न साधनों का विभिन्न प्रकार से मेल और उपयोग किया जाता है। अस्तु, यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न हो उठा है कि प्रत्येक उत्पादन कार्य में भाग लेनेवाले विभिन्न साधनों को उस उत्पत्ति का कौन-सा हिस्सा उन के उत्पादन कार्य की उजरत (पुरस्कार) के रूप में दिया जाय। विभिन्न साधनों के विभिन्न पुरस्कारों का विचार 'वितरण' खंड में किया जाता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में से प्रत्येक की आय क्या होगी, और इन विभिन्न आयों का आपस में क्या संबंध और अनुपात होगा और किस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक आय का निर्णय किया जायगा इन्हीं प्रश्नों का विचार वितरण के अंतर्गत है।

वितरण क्या है?

प्रत्येक उत्पादन-कार्य असल में इसी लिए होता है कि उत्पन्न वस्तु का उपभोग हो, उस से मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति हो सके। अस्तु, उपभोग के लिए ही उत्पत्ति होती है, उत्पत्ति का सारा दारोमदार उपभोग पर है। पर उपभोग तभी हो सकता है जब उत्पन्न वस्तु का वितरण हो। यदि कोई वस्तु उत्पन्न तो की जाय पर उस का उचित वितरण न हो तो उस का उपभोग भी न हो सकेगा। अस्तु, उपभोग वितरण पर निर्भर है। इस दृष्टि से वितरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। बिना वितरण के उत्पत्ति निरर्थक और उपभोग असंभव है।

संसार की हलचल और वितरण

वर्तमान समय में संसार में जो गड़बड़ देख पड़ रही है, उस का मुख्य कारण वितरण की अव्यवस्था है। धन का उत्पादन तो काफ़ी और अधिक से अधिक परिमाण में हो रहा है, पर वितरण की व्यवस्था ठीक न होने से उत्पन्न माल व्यर्थ पड़ा रहता है। बाज़ार, मालगोदाम, कारख़ाने आदि माल से पटे पड़े हैं; कारख़ाने अपनी पूरी उत्पादन-शक्ति लगा कर काम नहीं कर रहे हैं, क्योंकि जितना माल उन में तैयार हो सकता है उतने की खपत नहीं है; मज़दूर और पूँजी बेकार पड़े हैं; अनेक स्थानों में उत्पन्न या तैयार माल या उस का कुछ अंश इस लिए नष्ट कर दिया जाता है कि उस की क़ीमत गिरने न पाए। दूसरी तरफ़ लाखों ही नहीं, करोड़ों व्यक्ति आवश्यक पदार्थों के न मिलने के कारण भूखे-नंगे तड़प-तड़प कर मर रहे हैं। नन्हे-नन्हे दुध-मुँहे बच्चे एक-एक बूँद दूध के लिए तड़प-तड़प कर जान दे रहे हैं। लाखों व्यक्ति कड़ाके के जाड़े में बिना वस्त्र, बिना ईंधन, बिना छाया के मर रहे हैं। लोग काम करना और ईमानदारी से अपनी गुज़र के लिए गाढ़े पसीने की कमाई से दो मुट्ठी अन्न और एक टुकड़ा कपड़ा प्राप्त करना चाहते हैं। पर उन्हें काम नहीं मिलता। ईमानदारी से मेहनत करके दो मुट्ठी अन्न प्राप्त करने का मौक़ा उन्हें दिया ही नहीं जाता। यह सब क्यों? वितरण की सुचारु व्यवस्था न होने से ही। वितरण की व्यवस्था पर ही संसार का निकट भविष्य निर्भर है। वितरण के सवाल ने ही संसार के सामने वर्ग-वाद और वर्ग-संघर्ष उपस्थित कर दिए हैं। वितरण के प्रश्न के कारण ही संघर्ष की गति और भीषणता दिन पर दिन तीव्र तथा तीक्ष्ण होती जा रही है।

इस से यह सिद्ध होता है कि वितरण का सिद्धांत बहुत ही मनोरंजक और साथ ही बहुत ही पेचीदा है। मनोरंजक इस कारण से कि इस के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की आय के कारण और परिमाण का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस से यह पता चलता है कि किसी एक व्यक्ति की आय

कितनी होगी और उस आय के होने के कारण क्या हैं। पेचीदा इस कारण कि अर्थशास्त्र के इसी विभाग में उत्पादन के विभिन्न साधनों की उजरत के प्रश्नों के निर्णय का विवेचन किया जाता है। सभी की इच्छा रहती है कि कम से कम उद्योग, श्रम, त्याग करके अधिक से अधिक भाग प्राप्त किया जाय। इस कारण उत्पादन के विभिन्न साधनों में आपस में बड़ी प्रतियोगिता चलती है। फलतः साधनों की उजरत के परिमाण के निर्णय का प्रश्न बहुत ही पेचीदा प्रश्न है।

वितरण के सिद्धांत में दो प्रश्नों का समावेश रहता है। एक तो यह कि किस का वितरण किया जाता है। दूसरा यह कि वितरण किस तरह से किया जाता है। पहले प्रश्न के द्वारा 'राष्ट्रीय आय' के गुण और परिमाण का विवेचन किया जाता है। दूसरे प्रश्न द्वारा उस आधार का विवेचन किया जाता है जिस पर वितरण अवलंबित है। यह आधार है प्रत्येक साधन की सीमांत-उत्पादन-शक्ति। जो जितना उत्पादन करेगा, उसे उसी हिसाब से उजरत दी जायगी।

वितरण किस का किया जाता है? राष्ट्रीय-आय का। तब प्रश्न यह होता है कि राष्ट्रीय आय किसे कहते हैं? किसी एक देश के समस्त श्रम, पूँजी, प्रबंध, साहस (या व्यवस्था) उस देश के प्राकृतिक साधनों पर काम करके एक निश्चित काल (एक वर्ष) में विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की एक निश्चित मात्रा उत्पन्न करते हैं। उत्पत्ति की यही निश्चित मात्रा उस काल (वर्ष) की राष्ट्रीय आय (या राष्ट्रीय भाग) मानी जाती है, और उत्पादन करनेवाले साधनों में इसी राष्ट्रीय आय का वितरण किया जाता है।

राष्ट्रीय आय का वितरण

किंतु एक वर्ष में वस्तुओं तथा सेवाओं की जो मात्रा उत्पन्न होती है उस के उत्पन्न करने में मशीनों, औज़ारों, मकानों, कारखानों आदि का उपयोग होता है, और उन में घिसाई, टूट-फूट आदि जाती है, मरम्मत की ज़रूरत पड़ती है। साथ ही कच्चा माल लगता है। इस प्रकार साल भर में जो वस्तुएं

सेवाएं आदि उत्पन्न होती हैं उन के उत्पादन में पहले की कुछ पूँजी लगाई जाती है। इस तरह की लागत, क्षय-छीज, कमी उस वर्ष की उत्पत्ति में से पूरी कर देनी चाहिए। लागत के बराबर का मूलधन एक पूर्ति-निधि के रूप में उस वर्ष में उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं में से निकाल दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर अन्य देशों में लगे हुए उस देश के साधनों द्वारा जो उत्पत्ति की जाती है, वह उस वर्ष के उत्पादन में शामिल की जानी चाहिए। यही उस वर्ष की असली राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय भाग है। (प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने लिए की गई और दया, प्रेम, परोपकार-प्रवृत्तिवश अपने कुटुंबियों, हित-मित्रों, अभ्यागतों आदि के लिए मुफ़्त में की गई सेवाओं का समावेश इस में नहीं किया जाता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी संपत्ति के और पार्क, पुल आदि मुफ़्त में काम में लाई जानेवाली सार्वजनिक और राष्ट्रीय संपत्ति के उपयोग से जो लाभ होते हैं उन की भी गणना असली राष्ट्रीय आय में नहीं की जाती।) इस प्रकार प्रत्येक देश की एक वर्ष की वास्तविक राष्ट्रीय आय, असल में वह उत्पत्ति की मात्रा है जो उस वर्ष उत्पन्न की गई हो, और जिस में से पूर्ति-निधि निकाल दी गई हो। यही राष्ट्रीय आय वास्तविक राष्ट्रीय उत्पत्ति है और यही वह मूल निधि है जिस में से उन सब विभिन्न साधनों को पुरस्कार दिया जाता है, जो उस के उत्पादन में सहायता देते हैं।

विभिन्न साधनों में राष्ट्रीय आय इस प्रकार वितरित की जाती है :—

(१) श्रमियों की उजरत के रूप में—मज़दूरी।
(२) पूँजी की उजरत के रूप में—सूद।
(३) भूमि की उजरत के रूप में—लगान (या भाड़ा)।
(४) प्रबंध की उजरत के रूप में—वेतन।
(५) साहस की उजरत के रूप में—लाभ।

राष्ट्रीय आय के संबंध में अर्थशास्त्रियों ने दो तरह से विचार किया

राष्ट्रीय आय संकुचित तथा विस्तृत

है। एक तो संकुचित रूप में और दूसरा विस्तृत रूप में। विस्तृत रूप में राष्ट्रीय आय उन समस्त वस्तुओं और सेवाओं का सम्मिलित प्रवाह माना जाता है जो एक वर्ष में उत्पन्न की जाती हैं। संकुचित रूप में राष्ट्रीय आय में केवल उन वस्तुओं तथा सेवाओं का समावेश हो सकता है जिन का विनिमय रुपए-पैसे से किया जाय। राष्ट्रीय आय का विचार जब संकुचित रूप से किया जाता है तब उस में उन सब सेवाओं आदि का समावेश नहीं किया जा सकता जो प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए ख़ुद करता है, अथवा प्रेम, दया, परोपकार-प्रवृत्ति आदि के कारण वह अपने सगे-संबंधियों, हित-मित्रों, दीन-दुखिओं आदि के लिए करता है ; और न उन्हीं लाभों का समावेश इस प्रकार की राष्ट्रीय आय में हो सकता, जो व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय संपत्ति आदि के उपयोग के द्वारा मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। यदि कोई वकील मुफ़्त में किसी ग़रीब का मुक़दमा लड़ दे या कोई डाक्टर किसी ग़रीब रोगी की दवा बिना फ़ीस लिए ही करदे तो ये सेवाएं राष्ट्रीय आय में सम्मिलित न की जा सकेंगी। इसी प्रकार सरकारी सड़कों, पार्कों, पुलों आदि से प्राप्त होनेवाले लाभों की गणना भी राष्ट्रीय आय में न हो सकेगी।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय का संकुचित रूप में विचार करने पर बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। एक मनुष्य भोजन बनाने के लिए एक स्त्री को नौकर रखता है। उस स्त्री के द्वारा भोजन बनाए जाने के रूप में जो सेवा होती है वह राष्ट्रीय आय में गिनी जाती है, कारण कि उस सेवा के लिए विनिमय के रूप में उस स्त्री को रुपए दिए जाते हैं। कुछ समय बाद वह मनुष्य उस स्त्री के साथ विवाह कर लेता है। अब भोजन बनाने वाली स्त्री, उस की पत्नी हो जाती है। अब वह पुरुष उस स्त्री को भोजन बनाने के लिए वेतन के रूप में नक़द रुपए नहीं देता, पर वह स्त्री विवाह के बाद भी भोजन बनाने का वही काम बराबर करती रहती है। किंतु चूँकि

अब उस की सेवाओं का विनिमय रुपए-पैसे में नहीं होता, इस कारण उस की वे सेवाएं अब राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं की जा सकतीं। राष्ट्रीय आय का संकुचित रूप में विचार करने पर इसी प्रकार की उलझनें पैदा होती है। किंतु इस प्रकार की उलझनों के रहते हुए भी अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय का विचार प्रायः संकुचित रूप में ही किया जाता है। इस का कारण केवल यही है कि अर्थशास्त्र का मूल आधार मूल्य का प्रश्न है। और मूल्य के प्रश्न पर विचार करते समय रुपए-पैसे के कारण बड़ी सरलता होती है। इस कारण राष्ट्रीय आय के संबंध में विचार करते समय प्रायः उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं पर विचार किया जाता है जिन का विनिमय रुपए-पैसे के द्वारा होता हो।

राष्ट्रीय आय के दो रूप

राष्ट्रीय आय के दो रूप माने जाते हैं। एक रूप में राष्ट्रीय आय में उन समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं का समावेश किया जाता है जो एक वर्ष के अंदर उत्पन्न की गई हों। दूसरे रूप में राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं की गणना की जाती है जो एक वर्ष के अंदर उपभोग में लाई गई हों। मान लो कि एक वर्ष में एक मशीन बनाई गई। अब पहले विचार के अनुसार उस मशीन का समस्त मूल्य (छीज आदि के निमित्त पूर्ति-निधि के निकाल देने पर) उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में सम्मिलित कर लिया जायगा। किंतु दूसरे विचार के अनुसार उस मशीन का समस्त मूल्य उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में सम्मिलित न किया जायगा, वरन् उस के मूल्य का केवल वही भाग उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में शामिल किया जायगा जितने का उपभोग उस वर्ष किया जा सका होगा। इस प्रकार दूसरे विचार के अनुसार उस मशीन के द्वारा जितने मूल्य की वस्तुएं उस वर्ष तैयार की जा सकी होंगी उतनी ही वस्तुएं (अथवा उस मशीन का उतना ही भाग, अर्थात् उस मशीन के मूल्य का उतना ही अंश जिस के द्वारा उस वर्ष वस्तुएं उत्पन्न की जा सकीं) उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जायँगी;

न कि मशीन का समस्त मूल्य। इस प्रकार तार्किक तथा शास्त्रीय दृष्टि से राष्ट्रीय आय संबंधी दूसरा ही विचार युक्ति-संगत प्रतीत होता है। किंतु व्यावहारिक दृष्टि से यह विचार उतना उपादेय सिद्ध नहीं होता। कारण कि यह हिसाब लगाना कठिन ही नहीं असंभव-सा हो जाता है कि किस वस्तु का कौन-सा भाग उपयोग में लाया गया, और उस का कितना मूल्य आँका जाना ठीक होगा। इन उलझनों के कारण राष्ट्रीय आय के परिमाण का निश्चित करना कठिन हो जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से सरलता इसी में होती है कि एक वर्ष के अंदर जितनी वस्तुएं उत्पन्न हों उन की एक तालिका तैयार कर ली जाय और इस प्रकार राष्ट्रीय आय का निश्चय कर लिया जाय। इन सब बातों को सामने रखने पर सरल यही समझ पड़ता है कि एक वर्ष के अंदर जितनी वस्तुएं तथा सेवाएं उत्पन्न होंवे सब राष्ट्रीय आय में समावेशित की जायं और इस प्रकार राष्ट्रीय आय का निश्चय कर लिया जाय।

राष्ट्रीय-आय के माप की तीन रीतियां

राष्ट्रीय आय तीन भिन्न-भिन्न रीतियों से मापी जाती है। पहली रीति में एक वर्ष में कृषि तथा कल-कारख़ानों द्वारा जो भी वस्तुएं उत्पन्न हों उन की गणना कर ली जाती है, और उन के मूल्य में से क्षय-छीज, टूट-फूट, लागत, कमी की रक़म निकाल देने पर जो बचता है उसी की गणना राष्ट्रीय आय में की जाती है। दूसरी रीति में इनकम-टैक्स देनेवालों की आय और इनकम-टैक्स न देने वाले सब व्यक्तियों की आय जोड़ ली जाती हैं और इन सब की सम्मिलित आय ही राष्ट्रीय आय मानी जाती है। तीसरी रीति में उन समस्त व्यक्तियों की आय जोड़ ली जाती हैं जो विभिन्न उत्पादन कार्यों में लगे रहते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय आय प्राप्त कर ली जाती है।

राष्ट्रीय आय की माप करते समय इस बात का ध्यान रखना ज़रूरी है कि एक ही रक़म अनेक बार न जोड़ ली जाय, तथा भेंट, नज़राना, उप-

हार, पेंशन, जालसाज़ी से प्राप्त की गई रक़में आदि न जोड़ी जायँ। इस के अलावा अनेक बार यह तय करना कठिन हो जाता है कि कोई एक ख़ास रक़म जोड़ी जानी चाहिए अथवा नहीं। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लो कि एक बैरिस्टर बारह हज़ार रुपए प्रति वर्ष पैदा करता है। उस का मुंशी उसे साल भर इस आय को प्राप्त करने में मदद देता है। उस मुंशी को वह बैरिस्टर साल में एक हज़ार रुपए वेतन के रूप में देता है। अब सवाल यह है कि राष्ट्रीय आय का विचार करते समय उस मुंशी के वेतन का एक हज़ार रुपया अलग से जोड़ा जाय और उस बैरिस्टर का अलग से और इस प्रकार राष्ट्रीय आय के उस जोड़ में बारह हज़ार रुपए बैरिस्टर के और एक हज़ार उस मुंशी के अलग-अलग जोड़े जायँ और इस तरह तेरह हज़ार की आय दिखलाई जाय; अथवा केवल उस बैरिस्टर की बारह हज़ार की आय की ही गणना की जाय और मुंशी का वेतन अलग से न जोड़ा जाय, बल्कि बैरिस्टर की आय में ही उस का समावेश मान लिया जाय। यहां यह निर्णय करना कठिन है कि बैरिस्टर को जो बारह हज़ार रुपए प्राप्त हुए उन में मुंशी का प्रयत्न सम्मिलित माना जाय, अथवा उस का प्रयत्न पृथक् गिना जाय और इस प्रकार दोनों की सम्मिलित आय तेरह हज़ार रुपए मानी जाय।

दूसरी अड़चन पड़ती है अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण। इस युग में कोई देश केवल अपने लिए ही वस्तुएं नहीं तैयार करता। संसार के सभी देश वस्तुओं और सेवाओं के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। एक देश के व्यक्तियों की आय अन्य देशों की वस्तुओं अथवा माँगों पर निर्भर रहती है। एक जापानी की आय मिश्र की रुई और भारत या चीन की माँग पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। और संसार भर के सब देशों की सम्मिलित आय को राष्ट्रीय आय कहा नहीं जा सकता। इस कारण राष्ट्रीय आय के निर्णय में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। किंतु इन सब बातों के होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आय का पता

रहता ही है। और व्यक्तियों के समूह से ही राष्ट्र का निर्माण होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय-आय के निर्णय में कठिनाई तो अवश्य पड़ती है, पर उस का निर्णय करना असंभव नहीं है। यही राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में वितरित होती है।

अन्य बातों के समान रहने पर यह निश्चित है कि राष्ट्रीय आय की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उत्पत्ति के साधनों की उजरत का हिस्सा भी उतना ही बड़ा होगा। राष्ट्रीय-आय एक धारा या प्रवाह है जो सदा चालू रहता है, न कि एक स्थायी-निधि, क्योंकि प्रत्येक समय वस्तुओं तथा सेवाओं की उत्पत्ति का ताँता बँधा रहता है और इस प्रकार राष्ट्रीय-आय का प्रवाह जारी रहता है।

वितरण व्यक्तिगत

प्रत्येक उत्पादन कार्य से उत्पन्न होनेवाली असली उत्पत्ति उन विभिन्न व्यक्तियों में व्यतिगत रूप से बाँटी जाती है, जिन्हों ने मिल कर उस उत्पादन कार्य में योग दिया है। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादन कार्य से प्राप्त होनेवाली असली उत्पत्ति व्यक्तियों में बाँटी जाती है, न कि वर्गों या समूहों में। प्रत्येक प्रकार के वर्ग की सम्मिलित आय उस वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों की व्यक्तिगत विभिन्न आयों का योग होती है। किंतु वितरण व्यक्तिगत रूप ही में किया जाता है।

वितरण का क्रम

वितरण का क्रम कुछ इस प्रकार चलता है। कोई एक साहसी किसी एक उत्पादन कार्य की व्यवस्था करता है। उत्पादन कार्य के लिए वह विभिन्न साधनों का एक ख़ास तरह का मेल करता है। इस के लिए वह विभिन्न साधनों से तय कर के उन की उजरत निश्चित करता है। उस उत्पादन-कार्य में योग देनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से वह अलग-अलग उजरत देने तथा नियम के अनुसार काम लेने का इक़रार या ठहराव करता है। इक़रार के मुताबिक़ समय-समय पर क़िस्तों में वह उन व्यक्तियों को उजरत देता जाता है। इस के लिए वह वर्ष के अंत में उत्पत्ति के अंतिम परिणाम और परिमाण को देख कर

उजरत देने या तय करने के लिए नहीं रुकता। वर्ष के अंत में उस उत्पादन कार्य से क्या कितनी उत्पत्ति होगी इस से इक़रार के मुताबिक़ विभिन्न साधनों को दी जानेवाली उजरत की क़िस्तों में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इस से यह साबित होता है कि :—

(१) वितरण उत्पादन कार्य से प्राप्त होनेवाली अनुमानित उत्पत्ति पर निर्भर रहता है न कि वर्ष के अंत में होनेवाली उत्पत्ति की यथार्थ मात्रा पर।

(२) उत्पत्ति की मात्रा के प्राप्त होने के पहले ही से वितरण प्रारंभ हो जाता है, और साथ ही यथार्थ उत्पत्ति की मात्रा के कारण इक़रार के मुताबिक़ निश्चित की गई वितरण की मात्रा में कुछ विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ता। साहसी जिस को जितना देने का इक़रार कर लेता है उसे उस को उतना देना पड़ता है, चाहे उत्पत्ति कम हो या ज़्यादा।

(३) इस के अलावा और तो सभी की उजरत का, इक़रार या ठहराव के मुताबिक़, उत्पत्ति के पहले ही निश्चय हो जाता है, यह तय हो जाता है कि किसे कितना दिया जायगा, किंतु केवल साहसी की उजरत तय नहीं होती और न हो ही सकती। यदि अधिक उत्पत्ति हुई और इक़रार के मुताबिक़ सब को उजरत देने के बाद कुछ बचा तो वह साहसी को उजरत के रूप में मिलेगा। यदि न बचा तो साहसी को कुछ न मिलेगा, वरन् इक़रार के मुताबिक़ जो देना चाहिए उस की पूर्ति उत्पत्ति से न हो सकी तो सहसी को अपने पास से उस की पूर्ति करनी पड़ेगी और उतनी हानि उठानी पड़ेगी। साहसी या व्यवस्थापक विभिन्न साधनों (व्यक्तियों) की विभिन्न सेवाओं के निमित्त उजरत देने का ठहराव करता है।

वस्तुओं ही की तरह सेवाओं की भी बाज़ार दर होती है और यह बाज़ार दर माँग और पूर्ति के अनुसार तय की जाती है। विभिन्न सेवाओं और उन की उजरत अथवा आय का संबंध इस प्रकार रहता है :—
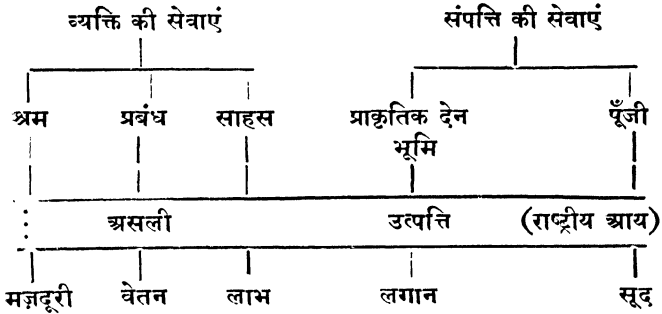
कार्य के अनुसार वितरण

प्रायः एक व्यक्ति एक से अधिक साधनों का स्वामी होता है, अस्तु वह उत्पादन कार्य में एक से अधिक सेवाएं देता है और अनेक सेवाओं के मुआवज़े में प्रत्येक सेवा के लिए उसे पृथक् उजरत मिलती है, और इस प्रकार उसे भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न आयें होती हैं। इस कारण वर्तमान अर्थशास्त्री कार्य के अनुसार वितरण का विचार करते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति उत्पादन कार्य के लिए भूमि देता है और पूँजी भी लगाता है। उसे भूमि की उजरत के रूप में लगान (भाड़ा) मिलेगा और पूँजी के लिए ब्याज। इस प्रकार कार्य के अनुसार ही वितरण किया जाता है, और इस कारण वितरण का विचार कार्य के अनुसार ही होना चाहिए।

अध्याय ३८

वितरण-संबंधी सिद्धांत

राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के विभिन्न साधनों द्वारा उत्पन्न की जाती है, और उजरत के रूप में उन्हीं विभिन्न साधनों में बाँट भी दी जाती है। प्रत्येक साधन का भाग मूल्य के सिद्धांत के द्वारा निश्चित किया जाता है। जिस प्रकार किसी एक वस्तु का मूल्य उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर होता है, उसी प्रकार किसी एक साधन का मूल्य उस (साधन) की सीमांत उपज के बराबर होता है। इस प्रकार साधारण रीति से सीमांत उपज का सिद्धांत ही वितरण का केंद्रीय सिद्धांत माना जाता है। इस का सविस्तर विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जा रहा है।

वितरण का केंद्रीय सिद्धांत

जिस प्रकार किसी एक व्यक्ति के लिए किसी एक वस्तु की सीमांत उपयोगिता उस वस्तु की उस इकाई की उपयोगिता होती है जिसे वह चलतू बाज़ार दर पर ख़रीदने के लिए अंतिम बार राज़ी होता है; उसी प्रकार किसी एक साधन की सीमांत उपज उस (साधन) की उस इकाई की उपज होती है जिस (इकाई) को उत्पादक चालू दर पर अंत में काम में लगाने के लिए राज़ी होता है। अब सवाल उठता है सीमांत उपज की माप का। अन्य सभी साधनों की पूर्ति के पूर्ववत् बनी रहने पर एक ख़ास साधन की केवल एक इकाई बढ़ाने से उत्पादक को पहले की कुल उपज के मुक़ाबले में जितनी अधिक उपज प्राप्त होगी, वही उस साधन की सीमांत उपज मानी जायगी। मान लो कि एक कारख़ाना है। उस में किसी एक वस्तु की १०० इकाइयां प्रति-दिन तैयार होती हैं। अब उत्पादक अन्य सब

सीमांत उपज का निर्णय कैसे?

साधनों को तो पहले की तरह ही रहने देता है, किंतु केवल एक मज़दूर और बढ़ा लेता है। एक मज़दूर के बढ़ जाने पर अब उस वस्तु की १०२ इकाइयां तैयार होने लगती हैं। इस से सिद्ध होता है कि एक मज़दूर की सीमांत उपज उस वस्तु की दो इकाइयों के बराबर है। इस प्रकार मोटे हिसाब से, किसी एक साधन की सीमांत उपज की माप की जाती है। किसी उत्पादन-कार्य में जब किसी एक साधन की एक बहुत ही छोटी इकाई जोड़ दी जाती है (या उस में से कम कर दी जाती है) किंतु अन्य सभी साधन और बातें ठीक पहले ही की तरह रहती हैं, तब उस एक इकाई के बढ़ने (या कम होने) से कुल उपज में जो वृद्धि (या कमी) होती है, वही उस साधन की इकाई की सीमांत उपज ठहरती है। इसी प्रकार प्रत्येक साधन की सीमांत उपज का निर्णय किया जाता है। और चूँकि प्रत्येक साधन की सभी इकाइयां रूप, गुण आदि में एक-सी ही मानी जाती हैं, इस कारण प्रत्येक साधन की सब से अंत में उपयोग में लाई जाने वाली इकाई की उपज के द्वारा ही उस साधन की अन्य सभी इकाइयों की उजरत की दर का फ़ैसला हो जाता है। यानी अंतिम इकाई को उस की सीमांत उपज के बराबर ही उजरत दी जाती है, और वही उजरत उस साधन की अन्य सभी इकाइयों को मंज़ूर करनी पड़ती है। यदि उस साधन की कोई एक इकाई उस प्रचलित उजरत को लेना मंज़ूर न करे तो वह निकाल दी जायगी और उस के स्थान पर अन्य इकाई लगा ली जायगी।

सीमांत उत्पादकता का नियम क्रमागत-ह्रास-नियम पर अवलंबित

जिस प्रकार सीमांत उपयोगिता का नियम क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम से निकला है, उसी प्रकार सीमांत उत्पादकता का नियम उत्पादन-कार्य में लागू होनेवाले क्रमागत-ह्रास नियम से निकला है। किसी एक उत्पादन-कार्य में अन्य सभी साधनों और बातों के पूर्ववत् रहने पर किसी एक ख़ास साधन की जैसे-जैसे और अधिक

इकाइयां उपयोग में लाई जायँगी, वैसे ही वैसे, कुछ समय तक तो संभव है कि उत्पत्ति, उस साधन की इकाइयों की वृद्धि के अनुपात में, अधिक हो; किंतु कुछ समय बाद ऐसा भी होगा कि इकाइयों की वृद्धि के अनुपात में, उत्पत्ति की वृद्धि कम होने लगे। फिर ऐसा भी समय आएगा जब उस साधन की एक और अधिक इकाई के बढ़ाने से केवल उतनी ही उत्पत्ति हो जितनी कि उस इकाई को उजरत देनी पड़ती है। उत्पादक इसी स्थान पर उस साधन की और अधिक इकाई का बढ़ाना बंद कर देगा, क्योंकि आगे जो भी इकाई वह लगावेगा, उस के कारण जो अधिक उपज होगी वह (उपज) उस इकाई को दी जानेवाली उजरत से कम होगी (और इस कारण उत्पादक को हानि होगी)। जिस इकाई की उत्पत्ति उस की उजरत के बराबर होती है वही सीमांत इकाई मानी जाती है, और उस की उजरत से ही उस साधन की सभी इकाइयों की उजरत निश्चत की जाती है।

सीमांत उत्पत्ति-नियम के संबंध में चार बातें मान लेनी पड़ती हैं।

चार बातों को मान लेना पड़ता है

पहली तो यह कि प्रत्येक साधन की सभी इकाइयां गुण, रूप, कार्य आदि सभी बातों में एक ही समान हैं, और इस कारण कोई भी इकाई किसी भी दूसरी इकाई के स्थान पर ठीक उसी तरह से उपयोग में लाई जा सकती है। दूसरी बात यह कि किसी एक वस्तु के उत्पादन-कार्य में विभिन्न साधन एक-दूसरे को पूरा सहयोग देते हैं. किंतु आवश्यकता पड़ने पर कोई भी एक साधन किसी भी दूसरे साधन के स्थान में उपयोग में लाया जा सकता है। अर्थात् सीमा पर उत्पादक-भूमि की अधिक मात्रा का उपयोग कर सकता है और श्रम तथा पूँजी का उपयोग अपेक्षाकृत कम; या श्रम की मात्रा का अधिक उपयोग कर सकता है और भूमि और पूँजी का अपेक्षाकृत कम मात्रा में, या पूँजी का अधिक मात्रा में उपयोग कर सकता है और उस के स्थान में श्रम और भूमि की मात्राओं का अपेक्षाकृत कम। तीसरी

बात यह कि साधनों के उपयोग में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। और चौथी बात यह कि सारी बातें क्रमागत-ह्रास नियम पर ही अवलंबित रहती हैं और क्रमागत-ह्रास नियम के अनुसार ही सारा परिवर्तन होता रहता है।

इस प्रकार कुल राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के साधनों में लगान (या भाड़ा) मज़दूरी, सूद, वेतन और लाभ के रूप में बँट जाती है और उत्पादन-कार्य में योग देनेवाले प्रत्येक साधन को माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार इस वितरण में भाग मिलता है। प्रत्येक व्यवस्थापक प्रतिस्थापन नियम के अनुसार विभिन्न साधनों को इस प्रकार से और इस परिमाण में अपने उत्पादन कार्य में उपयोग में लाता है जिस से उसे कम से कम लागत ख़र्च में अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो सके। इसी कारण वह प्रत्येक साधन के उसी परिमाण को उपयोग में लाएगा जिस से उस साधन की अंतिम मात्रा की सीमांत उपयोगिता उस उजरत के बराबर हो जो उस साधन को काम के बदले में दी जायगी। उस उत्पादन-कार्य में सब से अधिक लाभ तभी होगा जब प्रत्येक साधन की सीमांत उपयोगिता आपस में बराबर हो और प्रत्येक साधन को जो उजरत दी जाय वह उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर हो। इस प्रकार प्रत्येक साधन की सीमांत उत्पादकता ही उस साधन की क़ीमत, या उत्पादन-कार्य में योग देने की उजरत का आधार है। समान क्षमता वाले मज़दूरों को एक उत्पादन-कार्य में बराबर-बराबर मज़दूरी मिलेगी और प्रत्येक मज़दूर की मज़दूरी उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर होगी।

उजरत सीमांत उपयोगिता के बराबर

यदि मज़दूरी मज़दूर की सीमांत उपयोगिता से अधिक होगी तो व्यवस्थापक मज़दूरों को काम में लगाने के लिए राज़ी न होंगे। क्योंकि उन्हें (व्यवस्थापकों को) उपज से अधिक मज़दूरी देनी पड़ेगी। इस कारण व्यवस्थापकों को नुक़सान होगा। मज़दूरों में प्रतिद्वंद्विता बढ़ेगी और अंत में मज़दूरी

कम होकर सीमांत उपयोगिता के बराबर आ जावगी। यदि मज़दूरी सीमांत उपयोगिता से कम होगी तो मज़दूरों को काम में लगाने में व्यवस्थापकों को लाभ अधिक होगा। इस से प्रत्येक व्यवस्थापक अधिकाधिक मज़दूर लगाने का प्रयत्न करेगा। इस से उन में प्रतिद्वंद्विता होगी और मज़दूरी बढ़ेगी, और अंत में वह सीमांत उपयोगिता के बराबर आ जायगी।

अन्य साधनों के संबंध में भी यही बात लागू होती है। उन की उजरत भी सीमांत उपयोगिता के बराबर होती है।

उजरत सीमांत-पूर्ति के बराबर

दूसरा प्रश्न है पूर्ति का। प्रत्येक साधन की उजरत उस की पूर्ति की क़ीमत के बराबर होती है। प्रत्येक साधन की तैयारी में कुछ ख़र्च पड़ता है। कारीगरों को काम सीख कर कुशलता प्राप्त करने में व्यय उठाना पड़ता है। यही व्यय 'पूर्ति की क़ीमत' कहलाता है। किसी उत्पादन-कार्य में अपनी सेवा द्वारा योग देते समय प्रत्येक साधन को उस काम के लिए उजरत के रूप में इतना अवश्य मिलना चाहिए जो उस साधन की सीमांत पूर्ति की क़ीमत के बराबर हो। यदि पूर्ति की क़ीमत से काम से मिलने वाली उजरत अधिक होगी तो अधिक मज़दूर उस काम में आने की कोशिश करेंगे और व्यवस्थापक कम मज़दूरों को रखना चाहेंगे। इस से मज़दूरों में प्रतिद्वंद्विता होगी और मज़दूरी कम हो जायगी। यदि उजरत पूर्ति की क़ीमत से कम होगी तो कम मज़दूर काम के लिए तैयार होंगे। काम में लगानेवालों में प्रतियोगिता होगी, अस्तु मज़दूरों की उजरत बढ़ जायगी। यही बात अन्य सभी साधनों के साथ लागू होती है। इस प्रकार प्रत्येक साधन की उजरत एक ओर तो उस की सीमांत उपयोगिता के बराबर होगी और दूसरी ओर उस की पूर्ति की क़ीमत के बराबर। इस प्रकार प्रतियोगिता के कारण एक बाज़ार में उत्पादन के विभिन्न कामों में मज़दूरों की मज़दूरी की, पूँजी के सूद की, भूमि के लगान (या भाड़े) की दर प्रायः बराबर ही रहती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय का वितरण होता है।

यहां यह मान लिया गया है कि सभी मज़दूरों की क्षमता समान हैं। पर सभी मज़दूर एक से नहीं होते। जिन में कोई विशेषता होती है उन्हें साधारणतः सब में पाई जानेवाली क्षमता के लिए साधारण प्रचलित मज़दूरी दी जाती है, पर साथ ही उन की विशेष क्षमता के लिए कुछ विशेष मज़दूरी दी जाती है। इस प्रकार साधारण नियम में कोई अंतर नहीं पड़ता। यही बात अन्य साधनों के विभिन्न प्रकारों के संबंध में भी लागू होती है।

प्रतिस्थापन नियम और साधना का उपयोग

सतर्क और बुद्धिमान व्यवस्थापक इस प्रकार से विभिन्न साधनों का उपयोग करने की चेष्टा करेगा कि व्यय की एक ख़ास मात्रा के बदले में पहले से अधिक परिमाण में उत्पत्ति हो अथवा पहले की अपेक्षा कम व्यय में उत्पत्ति की वही मात्रा प्राप्त हो जो पहले प्राप्त हुई थी। इस प्रयत्न में उसे प्रतिस्थापन सिद्धांत के अनुसार साधनों की मात्रा बराबर बद-लते रहना पड़ता है। इस से उसे भी लाभ होता है और समाज को भी। उन्नति के मूल में यही प्रतिस्थापन, परिवर्तन वाला नियम काम करता है। कभी किसी कार्य में अधिक मज़दूर लगाए जाते हैं और कम पूँजी; और कभी कम मज़दूर और अधिक पूँजी। जो साधन अपेक्षाकृत सस्ता किंतु अधिक उत्पादक होगा वह उस साधन के स्थान पर अधिक लगाया जायगा जो (साधन) अपेक्षाकृत मँहगा और कम उत्पादक होगा। प्रतिस्थापन नियम क्रमागत-ह्रास नियम पर अवलंबित है। जैसे-जैसे किसी एक कार्य में एक ख़ास वस्तु या साधन की मात्राएं अधिकाधिक उपयोग में लाई जाती हैं, वैसे ही वैसे उस वस्तु या साधन की आगे ली जानेवाली इकाई की उपयोगिता पूर्व की इकाई की अपेक्षा कम होती जाती है। इस कारण उत्पादक उत्पादन-कार्य में इस प्रकार विभिन्न साधनों के विभिन्न परिमाणों का उपयोग करता है कि प्रायः सभी साधनों की सीमांत उपयोगिता

क़रीब-क़रीब बराबर-बराबर ही रहे। इस के लिए उत्पादक को तीन बातों का निर्णय करना पड़ता है। एक तो यह कि जो कार्य वह करना चाहता है उस के विभिन्न अंगों या विभागों में से कौन कितना आवश्यक और महत्वपूर्ण है। दूसरे यह कि कार्य के प्रत्येक विभाग को सफल बनाने वाले साधनों में से कौन कितना हितकर और आवश्यक है। तीसरे यह कि ऊपर की दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए किस साधन का किस मात्रा में उपयोग करना अधिक से अधिक लाभदायक होगा और साथ ही उस पर कम से कम ख़र्च पड़ेगा।

यदि किसी को बाज़ार में दूकानें बनवानी हैं तो पहले वह यह तय करेगा कि किस स्थान पर, कैसी दूकानें बनवाने से अधिक से अधिक लाभ होगा। यह तय हो जाने पर वह यह निर्णय करेगा कि दूकानों के बनाए जाने में किन-किन साधनों को काम में लाना अधिक लाभदायक होगा। इस के बाद वह इस का निर्णय करेगा कि कितने मज़दूर, कितने राज, कितने बढ़ई आदि लगाने से कम ख़र्च और अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा; ईंट, चूना, सीमेंट, लोहे का सामान, लकड़ी का सामान आदि कितने-कितने परिमाण में लगाए जाने से अधिक से अधिक लाभ होगा। सम-सीमांत नियम के अनुसार उसे तभी सब से अधिक लाभ होगा जब प्रायः प्रत्येक वस्तु या साधन की उतनी ही मात्रा उपयोग में लाई जायगी जिस से सब की उपयोगिता क़रीब-क़रीब बराबर-बराबर हो।

एक किसान को खेती करनी है। पहले वह यह तय करेगा कि उस खेत में उस समय क्या बोना चाहिए। यह तय हो जाने पर कि गेहूं बोना अधिक लाभदायक होगा, वह गेहूं बोने के लिए तैयार होता है। अब उस के सामने सवाल है साधनों का। उसे तय करना पड़ता है कि किस तरह का, कितना बीज बोना चाहिए। हल मज़दूर आदि के काम का क्या कैसा अनुपात होना चाहिए। इस संबंध में वह प्रत्येक को वहीं तक उप-योग में लायेगा जहां तक कि प्रत्येक इकाई की उपयोग से प्राप्त होनेवाली

औसत उपज इतनी तो हो जितनी कि उसे उजरत देनी पड़ती है। इस से आगे वह इस साधन की मात्रा को काम में न लाएगा। नीचे के कोष्टक से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

मज़दूरोंकी संख्या	कुलउपज	अंतिममज़दूर केकारणउपज	प्रतिमज़दूर औसत	मज़दूरी	कुलउपजसे मज़दूरीनिकालनेपरबचत
४	८०	२०	२०	४०	४०
५	९५	१५	१९	५०	४५
६	१०५	१०	१७$\frac{१}{२}$	६०	४५
७	११०	५	१५$\frac{५}{६}$	७०	४०
८	११२	२	१४	८०	३२

उपज और मज़दूरी की संख्याएं 'मन गेहूं' सूचित करती हैं।

ऊपरवाले कोष्टक से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि उत्पादक चार मज़दूर लगाता है तो ८० मन गेहूं की कुल उपज होती है और दस मन प्रति मज़दूर के हिसाब से ४ मज़दूरों को मज़दूरी में ४० मन गेहूं दे देना पड़ता है। बचत ४० मन की होती है। यदि ५ मज़दूर लगाए जाते हैं तो औसत भी घट जाती है और पाँचवें मज़दूर की मेहनत के फलस्वरूप केवल १५ मन गेहूं और अधिक प्राप्त होते हैं। ख़र्च काटने पर कुल उपज में ५ मन की वृद्धि रह जाती है। छठवें मज़दूर को उसे जितना देना पड़ता है ठीक उतनी ही उपज उस के कारण होती है। कुल उपज में भी पहले की अपेक्षा कुछ वृद्धि नहीं होती। हानि न होने से उत्पादक यह सोचेगा कि इस मज़दूर को रहने दूं या नहीं। किंतु सातवां मज़दूर तो वह रक्खेगा ही नहीं, कारण कि उसे उस के रखने से पाँच मन की हानि उठानी पड़ेगी। सातवें मज़दूर के कारण उत्पादक को केवल ५ मन गेहूं मिलते है, पर देना पड़ता है उसे १० मन अर्थात् ५ मन, अपने पास से देना पड़ता है।

इस कारण वह सातवें मज़दूर को तो रक्खेगा ही नहीं। छठे मज़दूर के श्रम से जितनी उपज होती है, मज़दूरी में उसे उतना ही दे भी देना पड़ता है। इस कारण छठा मज़दूर सीमांत मज़दूर होगा, और उस खेत पर उत्पादक छः मज़दूर तक रख सकेगा। अन्य साधनों के संबंध में भी इसी तरह से निर्णय किया जायगा।

यहां यह बात ध्यान देने की है कि सीमांत मज़दूर के द्वारा उत्पादन की कितनी मात्रा प्राप्त होगी यह इस बात पर निर्भर होगी कि उत्पादक कितने मजदूरों को पहले से उस काम में लगाए हुए है, और यह उस काल की माँग और पूर्ति की साधारण स्थिति पर निर्भर होगा। उस काल की माँग और पूर्ति की साधारण स्थिति का आधार उस काल में प्राप्त होनेवाले मज़दूरों की संख्या पर और उन की परिस्थिति पर, गेहूं की माँग पर, उस क्षेत्र के विस्तार पर जिस में कि गेहूं उत्पन्न किया जा रहा है, तथा इसी प्रकार की अन्य परस्पर प्रभाव डालने वाली बातों पर स्थित रहेगा। इस के साथ ही सीमांत उपज पर इस बात का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है कि भूमि अन्य किन-किन उपयोगों में लाई जाती है और उन अन्य उपयोगों की आवश्यकता की तीव्रता क्या-कैसी है।

उजरत सीमांत उपज के बराबर

अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, प्रत्येक वर्ग के मज़दूरों की उजरत उस वर्ग के सीमांत मज़दूर की असली उपज के बराबर होती है। यह इस लिए कि क्षमता तथा उत्पादन-शक्ति आदि में किसी एक वर्ग या श्रेणी का प्रत्येक मज़दूर समान माना जाता है। यदि कोई एक मज़दूर उस उजरत को स्वीकार न करे तो वह निकाल दिया जायगा और उस के स्थान पर एक अन्य मज़दूर रख लिया जायगा जो उतनी ही मेहनत करेगा, उत्पादन-कार्य में किसी से कम न ठहरेगा। इस कारण उस वर्ग के सभी मज़दूरों को उस वर्ग के सीमांत मज़दूर के बराबर ही उजरत मिलेगी। मज़दूरों की तरह ही अन्य साधनों की उजरत का भी निर्णय सीमांत उपज तथा प्रति-

स्थापन सिद्धांत के द्वारा किया जाता है। यदि ब्याज की दर ५) प्रति सैकड़ा हो तो एक उत्पादक १००) की पूँजी तभी लगाएगा जब उस पूँजी के कारण कम से कम ५) से अधिक उपज होगी। यदि सूद की दर गिर जाय, ब्याज ४) सैकड़ा हो जाय तो उत्पादक और अधिक पूँजी का उपयोग करेगा, क्योंकि उसे उस से अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा। साथ ही पूँजी के कारण अधिक लाभ होते देख सभी उत्पादक अधिकाधिक पूँजी लगाने लगेंगे। इस से पूँजी की माँग बढ़ जायगी। इस कारण ब्याज की दर चढ़ जायगी। पूँजी का परिमाण यहां तक लगता चला जायगा, जब तक कि (क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार) उस पूँजी के कारण जो उपज होगी वह ब्याज की दर के बराबर न आजायगी। जब पूँजी की अंतिम इकाई के कारण होनेवाली उपज ब्याज की दर के बराबर आ जायगी, तब उत्पादक उस से आगे पूँजी की और अधिक इकाई को लगाना बंद कर देगा, क्योंकि पूँजी कि और अधिक इकाई लगाने से उसे हानि होगी। पूँजी की सीमांत इकाई को उपज के अनुसार उजरत दी जायगी और वही उजरत पूँजी की सभी अन्य इकाइयों को मिलेगी।

भूमि, मशीन, कुशल श्रम, अकुशल श्रम आदि उत्पत्ति के साधन वहीं तक किसी उत्पादन-कार्य में लगाए जायँगे जहां तक कि वे लाभदायक होंगे। यदि दस अकुशल श्रमियों के स्थान पर ५ कुशल श्रमियों को लगाने से उत्पादक को अपेक्षाकृत अधिक लाभ देख पड़ेगा तो वह ५ कुशल श्रमियों को काम में लगा लेगा और दस अकुशल श्रमियों को अलग कर देगा। यदि उसे १०० मज़दूरों को निकाल कर एक मशीन के रूप में पूँजी लगाने में अपेक्षाकृत अधिक लाभ देख पड़ेगा तो वह मज़दूरों के स्थान पर मशीन से काम लेगा। जो भी साधन अन्य साधन की अपेक्षा अधिक लाभदायक होगा वही उस अन्य साधन के स्थान पर लगाया जायगा; और प्रत्येक साधन उसी हद तक उपयोग में लाया जायगा जहां तक उस के उपयोग से लाभ होगा, यानी जब तक उस की सीमांत

इकाई की उपज उस की उजरत के बराबर न आजायगी। उत्पादक कार्य पर किए जानेवाले व्यय की विभिन्न मदों की जाँच करेगा और सीमांत वास्तविक उपज को ध्यान में रखते हुए जिस साधन के कुछ बढ़ाने से उपज में वृद्धि होगी उसे बढ़ाएगा, और जिसे घटाने से लाभ होगा उसे घटाएगा। उत्पादन-व्यय को कम करना और उपज को बढ़ाना ही उत्पादक का उद्देश्य होता है। उसे पूरा करने के लिए साधनों के उपयोग में उसे जो भी परिवर्तन करने पड़ते हैं, वह करता रहता है।

उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के उपयोगों की व्यवस्था माँग और पूर्ति की साधारण स्थितियों द्वारा की जाती है। एक ओर तो माँग का चक्र चलता रहता है, और दूसरी ओर पूर्ति का। एक ओर तो इस बात का प्रभाव पड़ता है कि जिन विभिन्न उपयोगों में वह साधन प्रयुक्त हो सकता है वे सब कितने महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं तथा जिन को उस साधन की ज़रूरत है उन के पास ख़रीदने की क्या, कितनी शक्ति है। दूसरी ओर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि उस साधन का कितना भांडार (स्टाक) उपलब्ध है। इन दोनों बातों के सम्मिलित प्रभाव के अनुसार प्रतिस्थापन नियम के द्वारा इस का निर्णय होता रहता है कि जिस उपभोग में उस साधन से कम लाभ होता है उस में उस (साधन) की कम मात्रा प्रयुक्त होती है, बनिस्बत उस उपभोग के जिस में उस साधन के प्रयोग से अधिक लाभ होता है। यदि किसी उत्पादन-कार्य में कुशल श्रमियों के कारण अधिक लाभ होता देख पड़ेगा तो उस में कुशल श्रमी अधिक लगाए जायँगे। जिस कार्य में मशीन के प्रयोग से अधिक लाभ देख पड़ेगा, उस में मशीन का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक किया जायगा। प्रत्येक अवस्था में सीमांत उपयोग और प्रत्येक साधन की सीमांत उपयोगिता पर नज़र रक्खी जायगी और सीमांत उपभोग, सीमांत उपज, और सीमांत उपयोगिता के द्वारा ही परिवर्तन निश्चित होते रहेंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि किसी एक साधन की सीमांत उपयो-

सीमांत उपयोगिता का आधार

गिता का निर्णय किस के द्वारा होता है ? किस का प्रभाव साधन की सीमांत उपयोगिता पर पड़ता है ? इस के लिए उस साधन की पूर्ति के परिमाण की ओर ध्यान देना होगा। यदि पूर्ति का परिमाण अधिक होगा तो उस साधन का उपयोग ऐसे कार्यों के लिए भी किया जायगा जिन में उस साधन की उपयोगिता कम है। साथ ही वह जिन कामों में अभी तक प्रयुक्त होता था उन में और अधिक मात्रा में प्रयुक्त हो सकेगा। दोनों ही हालतों में उस की सीमांत उपयोगिता कम हो जायगी। इस के विपरीत यदि पूर्ति का परिमाण कम हो जाय तो उस साधन का उपयोग जिन कामों में होता आ रहा है उन में भी कम मात्रा में होगा। इस से उस की सीमांत उपयोगिता बढ़ जायगी। पूर्ति का परिमाण दो बातों पर निर्भर रहता है। एक तो उस समय के उपलब्ध भांडार पर और दूसरे उसे उत्पादन के कार्यों में लगाने के लिए उन व्यक्तियों की इच्छा पर जिन के हाथों में वह भांडार रहता है। यह इच्छा दो बातों पर निर्भर रहती है। एक तो तत्काल प्राप्त होनेवाली आय पर और दूसरे उस साधन के उत्पादन-व्यय पर। यदि तत्काल प्राप्त होनेवाली उजरत इतनी न होगी कि उस से उत्पादन-व्यय पूरा हो सके तो उस साधन की पूर्ति की मात्रा में कमी पड़ जायगी। यदि उजरत उत्पादन-व्यय से अधिक हुई तो उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा और अधिक बढ़ जायगी क्योंकि पहले जो उस साधन के उत्पादन-कार्य में लगे हैं वे और अधिक परिमाण में उस साधन का उत्पादन करेंगे। साथ ही उस वस्तु से अधिक लाभ होने के कारण अन्य उत्पादक भी उसी साधन के उत्पादन में लग जायँगे। यदि उस साधन की उजरत उत्पादन-व्यय से कम होगी तो पूर्ति के परिमाण के कम होने से अंत में उजरत बढ़ कर उत्पादन व्यय के बराबर आ जायगी। यदि उजरत उत्पादन-व्यय से अधिक होगी तो उस साधन के अधिक उत्पादन के कारण उजरत कम होती-होती अंत

में उत्पादन-व्यय के बराबर आ जायगी। इस प्रकार किसी साधन की उजरत और सीमांत उपयोगिता उन समस्त कारणों के द्वारा निश्चित की जाती है, जिन पर माँग और पूर्ति निर्भर रहती है।

भूमि में विशेषता

अन्य साधनों में भूमि में कुछ विशेषता है। माँग के बढ़ जाने से अन्य साधनों के परिमाण बढ़ाए जा सकते हैं। किंतु भूमि का परिमाण प्रकृति द्वारा निश्चित कर दिया गया है। माँग के घटने-बढ़ने से भूमि का परिमाण घटता-बढ़ता नहीं। उस का परिमाण निश्चित रहता है। यदि कोई उत्पादक एक और नई मशीन अपने कारख़ाने के काम के लिए लेना चाहे, या एक किसान एक और नया हल अपने खेती के काम के लिए इस्तेमाल करना चाहे तो वह मशीन या हल किसी दूसरे के काम या इस्तेमाल से न छीना जायगा। वरन् नया बना लिया जायगा। इस प्रकार किसी एक उत्पादक के एक और अधिक नई मशीन या नया हल इस्तेमाल में लाने से राष्ट्र के द्वारा भी एक और अधिक नया हल या नई मशीन इस्तेमाल में लाई जायगी। किंतु यदि एक किसान एक एकड़ और अधिक भूमि अपने खेती के काम के लिए लेना चाहे तो उसे किसी दूसरे किसान के इस्तेमाल से ज़मीन के उतने टुकड़े को छीनना या लेना पड़ेगा, क्योंकि नए सिरे से ज़मीन की इस प्रकार उत्पत्ति नहीं की जाती जिस तरह से कि मशीन, हल आदि की की जा सकती है। एक किसान के एक एकड़ और अधिक ज़मीन के अपनी खेती के काम में लेने से राष्ट्र के इस्तेमाल में एक और एकड़ भूमि न आ सकेगी, कारण कि जितनी भूमि पहले ही राष्ट्र के इस्तेमाल में थी उस के परिमाण में कोई भी अंतर नहीं पड़ता। केवल एक किसान के हाथ से निकल कर एक एकड़ भूमि का टुकड़ा दूसरे किसान के हाथ में चला जाता है।

उजरत का प्रभाव

यदि मज़दूरों की किसी श्रेणी की उजरत बढ़ जाय तो तीन बातें होंगी। प्रत्येक मज़दूर को पहले की अपेक्षा अधिक मज़दूरी मिलेगी। इस कारण वह अपने और अपने

कुटुंब के ऊपर पहले की अपेक्षा अधिक ख़र्च कर सकेगा। यदि वह अपनी शक्ति, क्षमता, कुशलता बढ़ाने के लिए अधिक उद्योगशील होगा, अपने को अधिक कुशल बनाने की चेष्टा करेगा तो उस की उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी। इस से उस श्रेणी के द्वारा जनता और राष्ट्र को सस्ते में अधिक उत्तम कार्य प्राप्त हो सकेगा। वस्तुएं सस्ती होंगी। उस श्रेणी के मज़दूरों को भी पहले के मुक़ाबले में अधिक सस्ती वस्तुएं उपभोग के निमित्त प्राप्त होंगी। इस से उस श्रेणी की क्षमता और बढ़ेगी। इस से उजरत के बढ़वाने में आसानी होगी। उस श्रेणी के मज़दूर और अधिक ख़ुश-हाल होंगे। दूसरे उस श्रेणी की उजरत के बढ़ जाने से उस श्रेणी का प्रत्येक मज़दूर अपने बच्चों की तैयारी के लिए अधिक ख़र्च कर सकेगा। इस से उस श्रेणी के आगे काम करनेवाले मज़दूर भी अधिक योग्य तथा कुशल होंगे। इस से भी जनता और राष्ट्र को लाभ होगा, साथ ही उस श्रेणी की उजरत बढ़ सकेगी। तीसरी स्थिति यह होगी कि यदि मज़दूर अपनी बढ़ी हुई उजरत को अपने कुटुंब पर ख़र्च करके अधिक संख्या में संतान उत्पन्न करने लगे तो उस श्रेणी के मज़दूरों की संख्या तो बढ़ जायगी पर यदि संख्या की वृद्धि के साथ ही उन की योग्यता-क्षमता न बढ़ी, तो बढ़ी हुई संख्या के कारण उस श्रेणी की उजरत कम हो जायगी, और पुरानी उजरत के बराबर रह जायगी। इस प्रकार किसी श्रेणी के मज़दूरों की उजरत के बढ़ जाने से तीन बातें होंगीः—(१) उस श्रेणी के मज़दूरों की योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी; (२) उस श्रेणी के मज़दूरों की संख्या बढ़ जायगी; (३) उस श्रेणी के मज़दूरों की संख्या भी बढ़ेगी और साथ ही योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति भी बढ़ेगी।

यदि मज़दूरों की योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति बढ़ने के कारण वे पहले से अधिक उजरत लेंगे तो राष्ट्र को अथवा अन्य किसी भी साधन को कोई हानि न होगी। कारण कि उत्पादन शक्ति बढ़ जाने से प्रत्येक मज़दूर पहले से अधिक परिमाण में उत्पादन करेगा। इस कारण राष्ट्रीय

आय या निधि पहले की अपेक्षा अधिक होगी। अब यदि इस बढ़ी हुई निधि में से उस श्रेणी का प्रत्येक मज़दूर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक ही ले लेता है तो इस से किसी दूसरे स्थान को कुछ भी हानि नहीं होती, क्योंकि मज़दूर जो थोड़ा अधिक हिस्सा लेता है वह राष्ट्र की पहले की अपेक्षा बढ़ी हुई आय में से लेता है, न कि अन्य किसी साधन के हिस्से में से छीन कर। राष्ट्रीय आय में पहले की अपेक्षा वृद्धि होने के कारण मज़दूर को पहले से कुछ अधिक भाग मिल जाता है, साथ ही अन्य किसी भी साधन के हिस्से में कमी नहीं पड़ने पाती।

अन्य साधनों को एक साधन के कारण लाभ

पहले कहा जा चुका है कि वर्ष भर में जितनी वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं उन सब का सम्मलित भांडार ही वह निधि है जिस में से विभिन्न साधनों को उन के उपयोगों के कारण वितरण में भाग दिया जाता है। अन्य सब बातों के पूर्ववत् रहने पर यह भांडार जितना ही अधिक बड़ा होगा, प्रत्येक साधन का हिस्सा भी उसी अनुपात से अधिक होगा। जिस साधन के उपयोग की जितनी ज़रूरत होती है, जिस साधन की उपयोगिता जिस कार्य के निमित्त जितनी ही अधिक और महत्वपूर्ण होती है। उसे उतनी ही अधिक उजरत मिलती है। इस का निर्णय सीमांत उपयोगिता के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक साधन को उस की सीमांत उपयोगिता के अनुसार उजरत दी जाती है। अब यदि किसी एक साधन को, अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर अधिक उजरत मिलती है तो उस की संख्या का परिणाम अधिक बढ़ेगा। किंतु संख्या बढ़ने से, जैसा ऊपर देखा जा चुका है, उस साधन की सीमांत उपयोगिता कम हो जाती है, और सीमांत उपयोगिता के कम होने से उस की उजरत कम हो जाती है। उस की उजरत तो कम हो गई। पर राष्ट्रीय निधि में तो कमी नहीं पड़ी। भांडार तो पूर्ववत् ही रहा। अब चूँकि एक साधन ने पहले की अपेक्षा अपने हिस्से के रूप में कम पाया, तो उस के हिस्से का बचा हुआ भाग

अन्य साधनों के बीच में बँट जायगा। इस प्रकार एक साधन की संख्या में वृद्धि होने के कारण उस की उजरत में तो कमी पड़ गई, पर अन्य साधनों के हिस्से पहले की अपेक्षा अनायास ही बढ़ गए। इस प्रकार विभिन्न साधन एक दूसरे की उजरत पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते और प्रभावित होते रहते हैं। नवीन आविष्कारों, सुधारों, मशीनों आदि के द्वारा श्रमियों की उत्पादन-शक्ति और उजरत बढ़ गई है, और श्रमियों के कौशल, उद्योग आदि के कारण पूँजी की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है। योग्य प्रबंधक के सुप्रबंध के कारण साधारण मज़दूरों की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार विभिन्न साधन एक दूसरे को मदद पहुँचाते हैं। साथ ही यह भी होता है कि मज़दूरों के स्थान पर मशीनों से काम लिया जाता है और पूँजी के स्थान पर श्रम से। इस प्रकार विभिन्न साधन एक-दूसरे की प्रतिद्वंद्विता में भी काम करते देख पड़ते हैं। इस प्रकार विभिन्न साधन एक-दूसरे से सहयोग और प्रतियोगिता करते हुए जो राष्ट्रीय आय उत्पन्न करते हैं उसी का वितरण माँग-पूर्ति की साधारण स्थिति के अनुसार सीमांत उपज को ध्यान में रख कर किया जाता है।

वितरण-संबंधी इस सिद्धांत पर अनेक अर्थशास्त्रियों ने अनेक प्रकार के आक्षेप किए हैं। संक्षेप में वे आक्षेप तथा उन के समाधान दिए जाते हैं।

सिद्धांत पर आक्षेप

(१) प्रत्येक उत्पादन-कार्य में उत्पन्न की हुई वस्तु सभी साधनों की सम्मिलित उपज होती है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक साधन के कारण उस उपज का इतना भाग तैयार हो सका। प्रत्येक साधन की उपज पृथक् करना और उसे मापना संभव नहीं है।

इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार होगा। सभी साधन सम्मिलित रूप में उत्पादन कार्य में लगाए जाते हैं और उन के सम्मिलित उद्योग से उत्पादन होता है। किंतु सीमांत उत्पादकता-नियम के अनुसार ही प्रत्येक की उत्पादकता के निर्णय करने की चेष्टा की जाती है। प्रत्येक साधन की

उपज को पृथक्-पृथक् मापने का और दूसरा उपाय ही नहीं है। वैसे तो जितने भी विभिन्न पदार्थ मंडी में आते हैं, उन में से प्रायः सभी की माँग अन्य पदार्थों की माँग पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। ऐसी दशा में उन के मूल्य का पृकृथ-पृथक् निर्णय करना उसी प्रकार से असंभव जान पड़ता है जैसे विभिन्न साधनों की उपज या उजरत के प्रश्न को हल करना। किंतु मंडी में सीमांत-उपयोगिता के सहारे प्रत्येक पदार्थ के मूल्य का निर्णय कर ही लिया जाता है। उसी प्रकार सीमांत उपज के सहारे प्रत्येक साधन की उपज और उजरत के प्रश्न को हल करने की चेष्टा की जाती है।

(२) सीमांत उपज के द्वारा किसी एक साधन की सेवाओं (उपयोगिता) की ठीक-ठीक माप नहीं की जा सकती। कारण कि जब उत्पादन-कार्य से किसी एक साधन की एक इकाई अलग कर दी जायगी तो उस के अलग हो जाने से सारा उत्पादन-कार्य इतना विश्रृंखलित हो जायगा कि अन्य साधनों और उस साधन की अन्य इकाइयों की उत्पादकता बहुत घट जायगी। ऐसी दशा में सीमांत इकाई के पृथक् किए जाने से समस्त उपज में जितनी मात्रा में कमी आएगी वह (कमी की मात्रा) उस मात्रा से अधिक होगी जो यथार्थ में उस पृथक् होनेवाली इकाई की असली उपज होती। यदि सीमांत इकाई की असली उपज १० मान ली जाय तो समस्त उपज में १५ या २० की कमी पड़ेगी क्योंकि सीमांत इकाई के निकल जाने से सभी साधनों की उत्पादकता में कमी आ जाती है। इस से यह सिद्ध होता है कि सभी साधनों की सीमांत उपजों का योग कुल उपज से कहीं ज्यादा ठहरेगा; और ऐसा सोचना एक हास्यास्पद बात होगी, क्योंकि सीमांत उपजों का योग कुल उपज से अधिक हो नहीं सकता। इस कारण सीमांत उपज का नियम ठीक नहीं है।

समाधान में यह कह सकते हैं कि इस तर्क में यह मान लिया जाता है कि उत्पादन कार्य बहुत छोटी मात्रा में है और साधनों की इकाई की मात्रा इतनी बड़ी है कि एक इकाई के निकाल देने पर सारे उत्पादन-कार्य

में भारी उलट-फेर हो जाता है। किंतु सिद्धांत रूप से ही यह माना जाता है कि प्रत्येक साधन की इकाई इतनी नन्ही-सी होती है और उन के मुक़ाबले में उत्पादन कार्य इतना विशालकाय होता है कि एक इकाई के निकालने-न निकालने से उत्पादन कार्य में कोई भारी उलट-फेर नहीं हो सकता।

(३) सारे साधनों की सीमांत उपजों का योग कुल उपज से कम होगा, और इस प्रकार सीमांत उपजों के अनुसार उजरत के दिए जाने पर भी कुछ उपज शेष रह जायगी। ऐसी दशा में सीमांत उपज के नियम से वितरण में गड़बड़ पड़ेगी।

समाधान यह है कि यदि उत्पादन में क्रमागत-समता-उत्पत्ति-नियम लागू माना जाय तब तो यह आक्षेप आप से आप निर्मूल हो जाता है, क्योंकि समता-नियम के मान लेने पर सभी इकाइयों की उपज एक समान ही होगी। यदि समता-नियम लागू न भी माना जाय, तो भी उत्पादन-कार्य इतना विशाल माना जाता है और इकाई इतनी नन्ही मानी जाती है कि सैद्धांतिक रूप से यह मानना पड़ता है कि आक्षेप में जैसा दर्शाया जाता है वैसा कुछ फ़र्क नहीं पड़ता।

(४) एक कारख़ाने का और उस तरह के समस्त उत्पादन कार्य (उद्योग) का जब पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा तब किसी साधन की सीमांत इकाई एक कारख़ाने के लिए कम उत्पादक होगी और वही सीमांत इकाई समस्त उत्पादन कार्य (उद्योग) के लिए अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक होगी। यह इस कारण कि समस्त उत्पादन-कार्य (उद्योग) के हिसाब से एक इकाई के बढ़ जाने से श्रम-विभाग अधिक पूर्ण और सूक्ष्म हो सकेगा, इस लिए उस इकाई की उपयोगिता बढ़ जायगी। इस प्रकार एक कारख़ाने के लिए विभिन्न साधनों का सीमांत उत्पादन अपेक्षाकृत कम होगा। और यदि उत्पादन कार्य में क्रमागत-वृद्धि-उत्पत्ति-नियम लागू माना जाय, तब तो एक कारख़ाने के संबंध में सीमांत उपज का निर्णय करना और

भी कठिन हो जायगा।

इस आक्षेप का समाधान करते हुए यह कह सकते हैं कि साधनों की उजरत का प्रश्न, समस्त उत्पादन-कार्य (उद्योग) की दृष्टि से, हल किया जाता है. और ऐसी दशा में सीमांत उपज का भी विचार उसी दृष्टि से करना उचित होगा। विभिन्न कारख़ानों के प्रश्न भिन्न-भिन्न रहेंगे ही, क्योंकि उन की स्थितियां सदा भिन्न-भिन्न रहेंगी।

(५) रद्दोबदल की जितनी संभावना सीमांत उपज नियम के द्वारा प्रकट होती है उतनी आसानी से साधन नहीं बदले जा सकते और न एक-दूसरे के स्थान पर काम में लाए ही जा सकते हैं। प्रत्येक उत्पादन-कार्य की अपनी विशेष स्थिति और स्थायी पूँजी के उपयोग इन दो बातों से इस बात का निर्णय हो जाता है कि कौन साधन किस अनुपात में उपयोग में लाया जा सकता है। ऐसी दशा में रद्दोबदल करने की कम ही गुंजाइश रह जाती है। जिस मशीन को चलाने के लिए केवल एक ही मज़दूर की दरकार होगी, उसे चलाने के लिए दो मज़दूर लगाना बेकार होगा। और बिना एक मज़दूर के वह चलेगी ही नहीं। इस प्रकार उस मशीन को उपयोग में लाने के कारण मज़दूर की संख्या निश्चित हो जाती है। इन कारणों से जब तक हम किसी एक साधन का उपयोग न बदल सकें तब तक हम उस की असली उत्पत्ति का निर्णय नहीं कर सकते।

इस का भी समाधान हो सकता है। उत्पादन तथा उद्योग-धंधों में जो भी उन्नति आज देख पड़ रही है, और दिन-प्रतिदिन होती जा रही है, उस का कारण है साधनों का रद्दोबदल। विभिन्न उत्पादन-कार्य में विभिन्न साधनों को विभिन्न अनुपातों में लगाते रहने की बहुत गुंजाइश रहती है। रद्दोबदल उतना कठिन नहीं है, और यदि दीर्घकाल, अथवा अति दीर्घकाल के अनुसार विचार करें तब तो स्थायी पूँजी के बदलते रहने में वैसी कोई कठिनाई नहीं आती; क्योंकि यह तो उन्नति का नियम ही है कि पुरानी मशीनों में सुधार किए जाते हैं और उन के स्थान में नई-नई मशीनें उप-

योग में लाई जाती हैं। और विभिन्न साधन एक-दूसरे के स्थानों पर विभिन्न अनुपातों में उपयोग में लाए जाते हैं।

(६) यह मान लिया जाता है कि साधनों की पूर्ति की मात्रा निश्चित है और तब यह बतलाया जाता है कि उन की माँग क्यों होती है। तब यह कहा जाता है कि सीमांत उपज के कारण विभिन्न साधन किस अनुपात में उत्पादकों द्वारा काम में लाए जाते हैं। असल में साधनों की पूर्ति की मात्रा निश्चित नहीं रहती। साधनों की पूर्ति लोचदार होती है। प्रत्येक साधन को जो उजरत मिलती है उस का उस साधन की पूर्ति की मात्रा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। और इस प्रकार 'सीमांत उपज' सदा परिवर्तित होती रहती है।

इस अंतिम आक्षेप के समाधान में यह वक्तव्य है कि वितरण, तथा साधनों की उजरत का निर्णय न केवल सीमांत उपज के द्वारा होता है वरन् किसी साधन की उजरत उस की सीमांत उपज तथा उस की तैयारी में सर्फ़ होने वाले सीमांत लागत-व्यय के द्वारा निश्चित की जाती है। सीमांत उपज तो केवल उस मात्रा का निश्चय कर देती है, ज़्यादा से ज़्यादा जिसे देने के लिए उत्पादक तैयार हो सकता है। उत्पादक किसी भी साधन को उस की सीमांत उपज से अधिक देने को तैयार न होगा।

अध्याय ३९

मज़दूरी

श्रम के लिए जो उजरत दी जाती है उसे मज़दूरी कहते हैं। जनता का अधिकांश अपनी आय के लिए किसी न किसी तरह का श्रम करता ही है। इस कारण वह श्रमजीवी श्रेणी में आ जाता है। इस प्रकार संसार की जनता का बहुत ही बड़ा भाग मज़दूर या श्रमजीवी है। प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति, समृद्धि, सुख-शांति उस की अर्थिक-स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है. और साधारणतः आर्थिक स्थिति का मुख्य आधार आय होती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति, सुख-शांति बहुत कुछ उस की आय पर निर्भर रहती है। और चूँकि अधिकांश जनता की आय उस के श्रम और उस श्रम की उजरत के रूप में प्राप्त होनेवाली मज़दूरी पर निर्भर रहती है इस कारण जनता के अधिकांश की उन्नति-समृद्धि, सुख-शांति का प्रश्न मज़दूरी पर निर्भर रहता है। इस प्रकार मज़दूरी का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। संसार की उन्नति-अवनति, शांति-अशांति, समृद्धि और दरिद्रता बहुत कुछ मज़दूरी के प्रश्न से संबंधित है।

मज़दूरी और समाज की समृद्धि-सपन्नता

वर्तमान समय में श्रम के बदले में जो उजरत दी जाती है वह प्रायः द्रव्य (रूपए-पैसे) के रूप में ही चुकता की जाती है। द्रव्य के रूप में दी गई मज़दूरी को नक़दी मज़दूरी कहते हैं। किंतु द्रव्य तो विनिमय का माध्यम है। श्रम के बदले में मज़दूर को जो द्रव्य मिलता है उस के द्वारा अर्थात् नक़दी मज़दूरी से जो वस्तुएं, सेवाएं आदि ख़रीदी जा सकें तथा उस काम को करने के कारण जो भी सुविधाएं आदि उस मज़दूर को प्राप्त हों, उन्हीं की गणना

नक़दी और असली मज़दूरी

असली मज़दूरी में की जाती है। श्रम के बदले में किसी मज़दूर को जो विभिन्न वस्तुएं, सेवाएं, सुविधाएं, सम्मान, उन्नति आदि के अवसर, मनोरंजन आदि के साधन प्राप्त हो सकें उन सब का योग ही असली मज़दूरी कहलाती है। किसी मज़दूर की आर्थिक स्थिति का निर्णय उस की असली मज़दूरी द्वारा ही किया जा सकता है, न कि नक़दी मज़दूरी द्वारा। किसी मज़दूर को देखने के लिए तो ज़्यादा नक़दी मज़दूरी दी जा सकती है, पर यथार्थ में वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में उसे उजरत बहुत कम प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार उस की नक़दी मज़दूरी के ज़्यादा होने पर भी उस की असली मज़दूरी कम ही होगी और उस की आर्थिक स्थिति वैसी अच्छी न होगी। इस के विपरीत नक़दी मज़दूरी देखने को कम हो सकती है, किंतु वस्तुओं, सेवाओं, सुविधाओं के रूप में उसे बहुत अधिक प्राप्त हो सकता है, और इस कारण उस की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छी हो सकती है। मान लो कि दो मज़दूर एक-बराबर नक़दी मज़दूरी पाते हैं। दोनों को पंद्रह-पंद्रह रुपए मासिक मिलते हैं। किंतु एक को आवश्यकता की वस्तुएं अधिक सस्ती मिलती हैं। उसे एक रुपए का दस सेर गेहूं, एक सेर घी, आठ सेर दूध, दो मन लकड़ियां मिलती हैं। दूसरे को रुपए का आठ सेर गेहूं, बारह छटाक घी, छः सेर दाल, तीन सेर चीनी, छः सेर दूध, डेढ़ मन लकड़ियां मिलती हैं। ऐसी दशा में एक-बराबर मज़दूरी पाने पर भी पहला मज़दूर अधिक ख़ुशहाल होगा। इस के साथ ही नक़दी मज़दूरी के अलावा जो भी अन्य सुविधाएं आदि मज़दूर को प्राप्त होती हैं उन का भी विचार करना ज़रूरी होता है। यदि दो मज़दूरों को एक-बराबर मज़दूरी दी जाय पर एक को रहने का मकान, पहनने के कपड़े, ईंधन आदि मालिक की तरफ़ से मुफ़्त में मिलें तो उस की असली आमदनी दूसरे से कहीं ज़्यादा होगी। इस प्रकार नक़दी और असली उजरत में फ़र्क़ रहता है। मज़दूर की यथार्थ आर्थिक स्थिति का पता उस की असली मज़दूरी से ही लगता है, न कि नक़दी मज़दूरी से। असली मज़दूरी का परिमाण नीचे

लिखी हुई बातों पर निर्भर रहता है:—

(१) द्रव्य की क्रय-शक्ति (वस्तुओं का भाव)—मज़दूरी द्रव्य में मिलती है। किंतु द्रव्य का उपयोग तो उपभोग की वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त करा देने में रहता है। यदि किसी स्थान में वस्तुएं मँहगी मिलती हों, तो नक़दी मज़दूरी के अधिक मिलने पर भी असली मज़दूरी अपेक्षाकृत कम ही होगी, कारण कि उपभोग की वस्तुओं का परिमाण कम प्राप्त हो सकेगा।

(२) व्यावसायिक तथा अन्य आवश्यक व्यय—अनेक व्यवसाय ऐसे हैं जिन को चलाने के लिए उन में जनता की रुचि तथा परंपरागत चलन के अनुसार ख़ास प्रकार की सजावट और साज-सामान की ज़रूरत पड़ती है। वकीलों, डाक्टरों, वैद्यों आदि को इसी तरह की ख़ास सजावट और साज-समान की ज़रूरत पड़ती है। यही व्यावसायिक व्यय कहलाता है। नक़दी आय में से इस व्यावसायिक व्यय को निकाल देने पर असली आय का पता चलता है। नक़दी आय अधिक होने पर भी यदि व्यावसायिक व्यय भी अधिक करना पड़ा, तो असली आय अपेक्षाकृत कम ही होगी। यदि एक स्थान पर बढ़ई, कारीगर, आदि को अपने निजी औज़ारों से काम करना पड़े, और दूसरे स्थान पर उन्हें काम करानेवालों की ओर से औज़ार आदि दिए जायँ, तो दोनों स्थानों पर उन की नक़दी मज़दूरी समान रहने पर भी पहले स्थान में असली मज़दूरी कम होगी, क्योंकि नक़दी मज़दूरी में से औज़ारों पर होनेवाला व्यावसायिक व्यय निकाल देना पड़ेगा।

(३) नक़दी मज़दूरी के अलावा प्राप्त होनेवाले अन्य पदार्थ, सुविधाएं आदि—प्रायः अनेक स्थानों पर मजदूरों को मालिक की ओर से भोजन, पेय, वस्त्र, रहने का स्थान, मनोरंन तथा लिखने-पढ़ने के सामान, डाक्टरों की सेवाएं आदि मुफ़्त में ही दी जाती हैं। ऐसी दशा में नक़दी मज़दूरी के कम रहने पर भी असली मज़दूरी बहुत अधिक हो सकती है।

किंतु इन वस्तुओं के मूल्य के संबंध में मज़दूरों की स्थिति तथा आवश्यकता देखते हुए निर्णय करना ज़रूरी होता है। कभी-कभी इन वस्तुओं के दिए जाने से ही असली मज़दूरी में कमी पड़ जाती है। यदि मालिक अपने मज़दूरों के खाद्य पदार्थ आदि अपने कारख़ाने से या कारख़ाने से संबंध रखनेवाली दूकानों से ख़रीदने को मजबूर करे और पदार्थ निम्न श्रेणी के दे, या कम दे अथवा दाम चलतू बाजार दर से अधिक ले, तो मज़दूरों की असली मज़दूरी में कमी पड़ जाती है। कभी-कभी मज़दूरों को ख़ास तरह के कपड़े पहनने के लिए मालिक की ओर से मजबूर किया जाता है। यदि मज़दूर स्वतंत्र रहते तो ख़ुद वैसे कपड़े बनवा कर कभी न पहनते। ऐसी दशा में उन की असली मज़दूरी में कमी पड़ जाती है क्योंकि कपड़ों के दामों के रूप में उन्हें नक़दी मज़दूरी में से एक ख़ास रकम काट कर देनी पड़ती है। कभी-कभी मालिक अपने मज़दूरों या सेवकों को क़ीमती वर्दी, रहने के उत्तम स्थान, भोजन आदि देते हैं। किंतु सेवकों की असली-आय उतनी बढ़ी हुई नहीं मानी जानी चाहिए जितना ख़र्च कि मालिक को वर्दी, मकान आदि में पड़ता है, क्योंकि सेवकों को उन वस्तुओं को उपयोग में लाने से उतना लाभ नहीं देख पड़ता। मज़दूरों के दृष्टिकोण से उन वस्तुओं का मूल्य उन के असली मूल्य से कम ही ठहरता है। कभी-कभी मालिक अपने सेवकों या मज़दूरों को उन वस्तुओं को दे देता है जो उस के लिए विशेष उपयोग की नहीं रहतीं। किंतु इन सब वस्तुओं से मज़दूरों की विशेष आवश्यकताओं की काफ़ी पूर्ति हो जाती है। ऐसी दशा में मज़दूरों की असली आय बहुत बढ़ जाती है, किंतु मालिक को कुछ भी त्याग नहीं करना पड़ता। जब कोई काम नहीं रहता, तब खान के मालिक अपनी गाड़ियों में भर कर ऐसा कोयला मज़दूरों में बाँट देते हैं जिस को वे बाज़ार में बेच कर उचित दाम खड़े नहीं कर सकते। इसी प्रकार तरकारी और फलवाले अपने मज़दूरों को ऐसे फल या तरकारियां बाँट देते हैं, जिन को वे बाज़ार में नहीं भेज सकते। प्रायः कारख़ाने या

मिल वाले उन वस्तुओं, वस्त्रों आदि को जो उन के कारखानों में तैयार होते हैं, अपने मजदूरों को थोक दामों पर लेने की इजाज़त दे देते हैं। इस से मज़दूरों को अपेक्षाकृत अधिक लाभ हो जाता है।

(४) काम करने का काल और काम में होनेवाला परिश्रम - नक़दी मज़दूरी एक बराबर रहने पर भी यदि एक कारख़ाने में मज़दूरों को आठ घंटे काम करना पड़े और दूसरे कारख़ाने में दस घंटे तो यह समझा जायगा कि पहले कारख़ाने के मज़दूरों को अपेक्षाकृत अधिक मज़दूरी मिलती है। यदि समय बराबर-बराबर लगे और नक़दी मज़दूरी भी बराबर ही हो तो भी यदि एक कारख़ाने में अधिक कठिन काम करना पड़े और दूसरे में में उस से सरल, तो दूसरे कारख़ाने वाले मज़दूरों की असली मज़दूरी अधिक ठहरेगी। इस प्रकार काम के घंटों का और उस की कठिनाई का भी असली मज़दूरी पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि अधिक घंटे या अधिक कठिन काम करनेवाले मज़दूरों को अपना स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए अपने भोजन आदि पर अधिक ख़र्च करना पड़ेगा।

(५) कार्य का रूप और अधिकार—कार्य के प्रकार और रूप का बहुत भारी प्रभाव मज़दूर की असली मज़दूरी पर पड़ता है। यदि कोई कार्य बहुत ख़तरनाक हो, मृत्यु अथवा अंग भंग का भय सदा लगा रहे, तो उस के लिए बहुत अधिक मज़दूरी देनी पड़ेगी। साथ ही नक़दी मज़दूरी बहुत अधिक होने पर भी असली मज़दूरी अपेक्षाकृत कम ही होगी। रेल के इंजिनों के ड्राइवर, हवाई जहाज़ के चालक, शीशे की भट्टी के सामने काम करनेवाले आदि काफ़ी अधिक नक़दी मज़दूरी पाते हैं। क्योंकि ऐसे काम बहुत लंबे समय तक नहीं किए जा सकते।

जिन कामों से स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है, जो समाज में घृणा या असम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं, जिन में उन्नति करने की अधिक आशा नहीं रहती, जिन कामों के कारण ऐसे स्थानों पर रहना पड़ता है जो अस्वास्थ्यकर अथवा ख़तरनाक हैं, जो उन्नति और सम्मान में बाधक

होते हैं, वे काम कम लोग पसंद करते हैं, इस कारण उन के लिए अधिक मज़दूरी देनी पड़ती है। ऐसे कामों में नक़दी मज़दूरी अधिक होने पर भी असली मज़दूरी कम ही ठहरती है।

जिन कामों से समाज में सम्मान प्राप्त होता है, जो स्वास्थ्यकर होते हैं, जिन के कारण दर्शनीय और स्वास्थ्य-वर्धक स्थानों में रहना पड़ता है, जिन में उन्नति करने के अवसर अधिक मिल सकते हैं, उन (कामों) में कम नक़दी मजदूरी दी जाती है। किंतु विचार करने पर पता चलता है कि ऐसे कामों में असली मज़दूरी अपेक्षाकृत अधिक बैठती है।

(६) पूरक आय के अवसर—यदि कोई व्यक्ति एक ख़ास काम को करता हुआ भी, ऐसा अवसर पा जाता है कि वह कोई अन्य कार्य करके कुछ और कमा ले, तो वह कुछ कम उजरत पर भी उस काम को स्वीकार कर लेगा, क्योंकि दूसरे कार्य से वह कुछ और कमा कर अपनी कुल आय बढ़ा लेगा। यदि वह अपने ख़ास काम के कारण किसी ऐसे स्थान में रह सकता है जिस में रहने के कारण उसे किसी अन्य कार्य से रुपए पैदा करने का अवसर मिल जाता है, अथवा उस के कुटुंब के अन्य व्यक्तियों को कोई न कोई काम मिल जाता है, तो कम नक़दी मज़दूरी पाने पर भी वह ऐसे काम को स्वीकार कर लेगा; क्योंकि नक़दी मज़दूरी कम होने पर भी उस की कुल आय, तथा असली मज़दूरी अधिक ही होगी।

(७) काम का बराबर लगातार मिलना—जो काम बराबर लगातार मिलता रहता है उस के लिए अपेक्षाकृत कम मज़दूरी लेना भी अच्छा माना जाता है; क्योंकि कुल मिला कर उस में अधिक मज़दूरी मिल जाती है। किंतु जो काम चंदरोज़ा रहता है उस के लिए अधिक मज़दूरी देनी पड़ती है। इस का यही कारण है कि इस मज़दूरी में बीच-बीच की बेकारी के समय के भरण-पोषण का व्यय भी एक प्रकार से सम्मिलित रहता है। जब काम बीच-बीच में छूट जाता है, तब मज़दूर को अवकाश और आराम तो मिल जाता है, और इस कारण उसे शारीरिक और दिमाग़ी लाभ हो

सकता है। किंतु आय के ज़रिए के छूट जाने और नए काम की इंतिज़ारी तथा तलाश में उसे जो तरद्दुद उठानी पड़ती है, आशा और निराशा की थपेड़ों से उस को जो शारीरिक और मानसिक क्लेश सहने पड़ते हैं, वे श्रम के समय की थकावट और अस्वस्थता से कहीं अधिक भयंकर होते हैं। किंतु कभी-कभी बीच-बीच में काम के छूटने से मन और मस्तिष्क को आराम मिल जाता है। अस्तु वह हितकर और वांछनीय तथा आवश्यक भी होता है। किंतु ऐसे पेशे बहुत ही कम होते हैं जिन में इस प्रकार से बीच-बीच में काम का छूटना हितकर होता है। अधिकांश व्यवसाय और धंधे ऐसे हैं जिन में बराबर काम मिलना अधिक हितकर और मज़दूरी की दृष्टि से अधिक लाभदायक होता है और बीच-बीच में काम के छूटने से बहुत हानि होती है।

(८) सफलता और उन्नति की आशा—जिस काम में यह आशा रहती है कि अवश्य ही सफलता होगी, उस में कम मज़दूरी पर भी मनुष्य काम करने को तैयार हो जाते हैं। जिस काम में सफलता-पूर्वक निश्चित रूप से सौ रुपए महीने की आय का विश्वास हो जाय, उसे मनुष्य ख़ुशी से स्वीकार कर लेंगे, और किसी दूसरे ऐसे काम को स्वीकार न करेंगे जिस में दो सौ रुपए की आय तो होती हो, पर जिस में आगे असफल होने या काम के जल्दी छूटने की आशंका भी हो; क्योंकि यदि दो सौ रुपए वाला काम दो-तीन मास बाद जाता रहा तो उन्हें बेकारी की चिंता और नए काम की तलाश की झंझट उठानी पड़ेगी। इस कारण, सब बातों के विचार से, पहले काम से असली आय अपेक्षाकृत ज़्यादा होगी।

इस के अलावा जिस काम में यह आशा रहती है कि आगे चल कर बहुत अधिक तरक़्क़ी हो जायगी और काफ़ी ज़्यादा उजरत मिल सकेगी उस काम को पहले बहुत थोड़ी उजरत पर भी लोग करना पसंद करते हैं। ऊँचे ओहदों के पाने की आशा में लोग थोड़ी तनख़्वाह पर शुरू में सरकारी नौकरी करना ज़्यादा पसंद करते हैं। इसी मनोवैज्ञानिक कारण से

चंद ऊँचे सरकारी ओहदों की तनख़्वाहें बहुत अधिक रक्खी जाती हैं, और उन्हीं मोहकमों में नीचे दर्जे के पदों की तनख़्वाहें बहुत ही कम रक्खी जाती हैं।

इस के साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि महत्वाकांक्षी नव-युवक ऐसे कामों को ज़्यादा पसंद करते हैं जिन में असफलता की आशंका तो काफ़ी रहती है किंतु सफल होने पर काफ़ी भारी उजरत मिलने की आशा रहती है।

(९) व्यक्तिगत रुचि — व्यक्ति-गत रुचि का भी काम के चुनने में बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति स्वतंत्रता-प्रमी होते हैं वे थोड़ी उजरत पर भी ऐसे काम करना ज़्यादा पसंद करते हैं जिन में उन्हें ज़्यादा झंझटों में न पड़ना पड़े, या ऊपर-नीचे वालों का दबाव न सहना पड़े। कुछ व्यक्ति रहने के स्थान, मनोरंजन के साधन आदि का इतना ख़याल रखते हैं कि ख़ास स्थान में या मनोरंजनों आदि के साधनों के पास रहने के लिए कम उजरत वाले कामों को भी स्वीकार कर लेते हैं, और उस स्थान या उन साधनों से दूर रह कर अधिक उजरत वाले काम छोड़ देते हैं। थोड़ी उज-रत में भी ऐसे आदमियों को अन्य सब बातों को देखते हुए असली आय अधिक जान पड़ती है, उन्हें अपेक्षाकृत अधिक संतोष प्राप्त होता है।

(१०) राष्ट्रीय स्वभाव — कामों को चुनने में राष्ट्रीय रुचि, स्वभाव का भी बड़ा असर पड़ता है। अमेरिका में देखा जाता है कि आमतौर पर स्वीडेन और नार्वे वाले खेती के काम को; जर्मनी वाले कुर्सी-टेबिल आदि बनाने या शराब तैयार करने के कामों को; इटली वाले रेल आदि बनाने के कामों को ज़्यादा अपनाते हैं। ख़ास-ख़ास तरह के कामों में ख़ास-ख़ास राष्ट्र वालों की अधिक रुचि होती है, और अपनी रुचि के काम को कम उजरत पर भी लोग करना ज़्यादा पसंद करते हैं। उसी में उन्हें अधिक लाभ देख पड़ता है, उसी से उन्हें अधिक संतोष होता है।

असली और नक़दी मज़दूरी का विवेचन करने और मज़दूरों की

असली आर्थिक स्थिति का निर्णय करने के लिए ऊपर लिखी सभी बातों पर विचार करना ज़रूरी है। ऊपर से देखने पर नक़दी मज़दूरी अधिक मालूम हो सकती है, पर सभी बातों का हिसाब बैठाने पर असली मज़दूरी बहुत कम हो सकती है। इस के अलावा मज़दूरी की दरों में जो विभिन्नता देख पड़ती है उस पर भी इन बातों से बहुत प्रकाश पड़ता है।

मज़दूरी के साधारण सिद्धांतों में उन बातों का विवेचन किया जाता है जो मज़दूरी की आम दर का निर्णय करती हैं। इस प्रकार के विवेचन में इस काम की ओर ध्यान नहीं दिया जाता कि विभिन्न व्यवसायों में मज़दूरी की दर भिन्न-भिन्न होती है। इस का कारण है। मज़दूरी के साधारण सिद्धांतों का विवेचन करते समय यह मान लिया जाता है कि (१) एक श्रेणी के सभी मज़दूर एक समान ही शिक्षित, योग्य, कुशल और पटु होते हैं, (२) मज़दूरों में आपस में पूरी-पूरी प्रतियोगिता चलती रहती है, (३) प्रत्येक मज़दूर को अपने लिए व्यवसाय पसंद करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है और (४) प्रत्येक मज़दूर जिसी व्यवसाय में चाहता है प्रवेश पा सकता है। यथार्थ में देखा जाय तो न तो सभी मज़दूर एक समान कुशल, योग्य और पटु होते हैं, न उन में आपस में वैसी पूर्ण प्रतियोगिता रहती है, न उन्हें अपनी रुचि के किसी भी व्यवसाय में प्रवेश पाने की स्वतंत्रता ही रहती है, और न उन में उतनी पूर्ण गतिशीलता ही रहती है।

मज़दूरी की दरों में विभिन्नता

साधारण मज़दूर एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में पूर्ण स्वतंत्रता से नहीं जा सकते। इस का कारण है आपस में प्रतियोगिता न करने अथवा प्रतियोगिता न कर सकनेवाले मज़दूर-दलों का अस्तित्व। आमतौर पर देखा जाता है कि मज़दूर प्रायः पाँच प्रकार के ऐसे दलों में विभक्त रहते हैं, जो आपस में एक-दूसरे से प्रतियोगिता नहीं कर सकते और इस कारण एक-दूसरे के व्यवसाय में प्रवेश नहीं पा सकते। पहला दल है कुशल, अशिक्षित

प्रतियोगिता न कर सकनेवाले दल

मज़दूरों का। इस दलवाले को किसी ख़ास काम के करने की शिक्षा नहीं मिली रहती। इसे साधारण और मेहनत के भारी काम करने पड़ते हैं। दूसरे दल में वे मज़दूर आते हैं जो अर्ध-शिक्षित होते हैं। इन्हें साधारण मज़दूरों से कुछ अधिक ज़िम्मेदारी का कार्य दिया जाता है तथा उन्हें कुछ सतर्कता से अपने दिमाग़ से काम लेना पड़ता है। तीसरा दल है शिक्षित, पटु, कुशल, योग्य मज़दूरों, क्लर्कों और विक्रेताओं (सेल्समन) का। इन्हें ज़िम्मेदारी का काम दिया जाता है। चौथा दल है मध्यम श्रेणी के उन मज़दूरों का जो कुशल श्रमियों से तो ऊँचे दर्जे में रक्खे जाते हैं पर प्रबंधक वर्ग और व्यापारी-व्यवसायी दल से नीची श्रेणी के माने जाते हैं। और पाँचवें दल में प्रबंधक, व्यवस्थापक, व्यवसायी, व्यापारी आदि आते हैं। ये दल ऐसे हैं कि इन में से कोई भी साधारण स्थिति में किसी दूसरे दलवाले के साथ न तो प्रतियोगिता कर सकता और न उस के काम को ले ही सकता है। एक डाक्टर न तो साधारण मज़दूर का काम छीनने की कोशिश करेगा और न किसी इंजीनियर या बैरिस्टर के व्यवसाय को ही हथिया सकेगा। इसी प्रकार साधारण मज़दूर भी एक डाक्टर या वकील का काम नहीं कर सकता। इस कारण आमतौर पर ये दल आपस में कामों के लिए प्रतियोगिता नहीं कर सकते। इस का कारण यह नहीं है कि एक काम से दूसरे काम में प्रवेश पाना असंभव है। साधारण मज़दूर भी प्रयत्न करके डाक्टर या वकील बन सकता है और बन भी जाता है। किंतु वैसा करना बहुत कठिन होता है। कठिनाई तीन कारणों से होती है। एक तो शिक्षा और उस के व्यय तथा तैयारी के लंबे समय के कारण; दूसरे वातावरण के प्रभाव के कारण और तीसरे प्राकृतिक योग्यता-क्षमता, विशेषता के कारण। नीची श्रेणी के ग़रीब मज़दूरों के पास ऊँचे दर्जे की शिक्षा और कुशलता प्राप्त करने के लिए न तो साधारणतः धन होता है और न अवकाश ही। वातावरण, हितू मित्रों के उदाहरण तथा प्रभाव के कारण प्रायः एक मज़दूर का लड़का अपने पिता के व्यवसाय की ओर ही

अधिक झुकता है और आसानी से उस में प्रवेश पा सकता है। इस कारण प्राय. प्रत्येक श्रेणी के नव-युवक अपने पिता की श्रेणी के व्यवसायों में ही रह जाते हैं। इसी कारण प्रायः ऊंची श्रेणी के व्यवसायों में काम करने वालों की वैसी भरमार नहीं होती है जैसी कि निम्न श्रेणी के व्यवसायों में; और इसी कारण उन में उजरत अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। कभी-कभी कोई नवयुवक अपनी असाधारण प्रतिज्ञा के बल पर नीचे की श्रेणियों से उठ कर ऊँचे की श्रेणियों में पहुँच जाता है। किंतु ऐसा कम ही होता है। इन्हीं कारणों से विभिन्न व्यवसायों में उजरत की दरें भिन्न-भिन्न होती हैं।

यदि यह मान भी लिया जाय कि मज़दूर एक समान ही योग्य, कुशल पटु और शिक्षित हैं, और प्रत्येक मज़दूर को अपनी रुचि के अनुसार किसी भी व्यवसाय में प्रवेश करने की पूर्ण स्वतंत्रता और सुविधाएं रहती हैं, तो भी नीचे लिखे कारणों से विभिन्न व्यवसायों की मज़दूरी की दरों में विभिन्नता रहेगी ही।

मज़दूरी दरों की विभिन्नता के कारण

(१) व्यवसाय का रुचिकर अथवा अरुचिकर होना। जो व्यवसाय जितना ही अरुचिकर होगा मज़दूरों को आकर्षित करने के लिए उस में मज़दूरी अपेक्षाकृत उतनी ही अधिक होगी। (२) शिक्षा, कुशलता प्राप्त करने में कठिनाई का होना तथा समय और व्यय का लगना। जिस व्यवसाय की शिक्षा, कुशलता को प्राप्त करने में जितनी ही अधिक कठिनाई होगी, उस के लिए जितना ही अधिक समय और द्रव्य ख़र्च करना पड़ेगा, उस में अपेक्षाकृत उतनी ही अधिक उजरत दी जायगी। यदि उजरत अधिक न होगी तो उस की तैयारी में उतना दाम और समय लगाने के लिए कोई भी तैयार न होगा। (३) काम का बराबर मिलना। यदि काम बराबर न मिलता गया तो उस के लिए ज़्यादा उजरत देनी पड़ेगी, चाहे वह काम कितना ही सरल क्यों न हो। (४) कामकरने वाले पर

भरोसा। जिस काम में जितनी ही अधिक ज़िम्मेदारी और विश्वास की आवश्यकता होगी, उस में उजरत उतनी ही अधिक होगी। सोने और रत्नों के काम में मज़दूरों को उजरत इस लिए भी ज़्यादा देनी पड़ती है कि ऐसे विश्वसनीय व्यक्तियों की ज़रूरत पड़ती है जिन का भरोसा करके अधिक मूल्य की वस्तुएं उन की ज़िम्मेदारी पर उन्हें दी जा सकें। (५) व्यवसाय में सफलता और उन्नति की आशा। जिस व्यवसाय में सफल होने और उन्नति करने की आशा रहती है, उस में पहले कम उजरत पर भी लोग काम करना पसंद करते हैं। इन सब कारणों से विभिन्न व्यवसायों में मज़दूरी की दरें भिन्न-भिन्न होती हैं।

गंदगी ही कम उजरत का कारण

अरुचिकर, गंदे अथवा घृणास्पद व्यवसाय को करने के लिए यदि ऐसे व्यक्तियों की अधिक संख्या तैयार रहे जिन की व्यावसायिक योग्यता, क्षमता बहुत ही नीचे दर्जे की हो, और जो अच्छे कामों को अपनी अयोग्यता के कारण न पा सकते हों, तो किसी व्यवसाय के केवल अरुचिकर, गंदे या घृणापूर्ण होने से ही उस की उजरत अपेक्षाकृत अधिक नहीं हो सकती। ऐसे अयोग्य व्यक्ति केवल नीचे दर्जे के काम ही तो कर सकते हैं। उन्हें अपने भरण-पोषण के लिए तत्काल कोई न कोई काम चाहिए। क्योंकि उन के पास इतना धन-धान्य नहीं रहता कि वे अधिक समय तक बिना काम के अपनी गुज़र चला सकें। प्रायः संख्या अधिक होने से वे आपस में काम के लिए होड़ भी ख़ूब करते हैं। इस से मज़दूरी की दर और भी कम हो जाती है। इन कारणों से वे काम के अरुचिकर, गंदे या घृणास्पद होने की ओर वैसा ध्यान दे भी नहीं सकते। इस के अलावा, ग़रीबी के कारण प्रायः उन्हें ऐसे वातावरण में जीवन बिताना पड़ता है जिस के कारण गंदगी आदि उन के लिए वैसी ख़राब या त्याज्य बात नहीं रह जाती। फिर कुछ देशों या समाजों में गंदे काम कुछ ख़ास जातियों या व्यक्तियों के ज़िम्मे कर दिए जाते हैं और उन कामों को करनेवाले व्यक्ति दूसरा कोई

काम नहीं करने पाते। ऐसे कामों के लिए रूढ़ि के मुताबिक़ एक बँधी हुई उजरत दी जाने लगती है। इन सब कारणों से गंदगी ही गंदे काम के लिए कम मज़दूरी दिए जाने का प्रबल कारण बन जाती है।

स्त्रियों को कम मज़दूरी क्यों ?

प्रायः देखा जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम उजरत दी जाती है। इस के ख़ास कारण हैं। एक तो यह कि आमतौर पर स्त्रियों के लिए बहुत कम व्यवसाय, पेशे आदि खुले रहते हैं। सामाजिक बंधन और ख़ास प्रकार की शिक्षा तथा तैयारी का अभाव उन्हें अनेक व्यवसायों तक पहुँचने ही नहीं देता। और जिन कुछ गिने-चुने व्यवसायों में वे काम पा सकती हैं, उन में स्थान कम रहते हैं और उम्मीदवारों की संख्या अधिक हो जाती है। इस कारण स्त्रियों को प्रायः कम उजरत मिलती है। दूसरे, स्त्रियों में आमतौर पर पुरुषों से कम शारीरिक शक्ति पाई जाती है। वे कठिन परिश्रम के कामों को कम कर सकती हैं। और हल्के कामों के लिए उन्हें हल्की मज़दूरी मिलती है। तीसरे, स्त्रियों से और ख़ास कर अविवाहिता कन्याओं से अधिक दिनों तक किसी काम में बँध कर रहने की आशा नहीं की जा सकती। चौथे, वे प्रायः ऐसे कामों को अपनाती हैं जिन की तैयारी की शिक्षा में कम समय और व्यय लगे। पाँचवें, स्त्रियां प्रायः बहुत ही कम संगठित हैं, इस कारण उन में डट कर उजरत पटाने और मोल-तोल करने की वैसी क्षमता नहीं रहती। इन्हीं सब कारणों से स्त्रियों को प्रायः अपेक्षाकृत कम ही उजरत दी जाती है।

किंतु जब किसी ख़ास कार्य के लिए स्त्रियों की माँग होती है और उस कार्य के योग्य कम स्त्रियां मिल सकती हैं तो उन्हें पुरुषों से अपेक्षाकृत अधिक उजरत दी जाती है।

मज़दूरी के तरीक़े

मज़दूरी देने और काम लेने के अनेक तरीक़े होते हैं। किसी मज़दूर को समय के अनुसार मज़दूरी दी जाती है और किसी को कार्य के गुण-परिमाण के अनुसार। कभी एक दिन

हफ़्ते, या महीने के लिए उजरत दी जाती है, जैसे एक चौकीदार को १२) प्रति-मास के हिसाब से उजरत देना, एक बढ़ई को एक रुपया प्रति-दिन के हिसाब से उजरत देना। यह समय के अनुसार मज़दूरी होगी। इस में एक ख़ास समय के आधार पर उजरत तय कर ली जाती है, न कि कार्य के परिमाण और गुण के अनुसार। कभी यह निश्चय कर लिया जाता है कि इतने और इस तरह के काम के लिए इतनी मज़दूरी दी जायगी, जैसे एक संदूक़ बनाने के लिए दो रुपए। इस में कार्य के गुण-परिमाण के विचार से मज़दूरी निश्चित की जाती है। समय का इस में वैसा विचार नहीं किया जाता। इसे कार्य के अनुसार मज़दूरी कहते हैं। यह भी होता है कि न तो समय के अनुसार मज़दूरी तय की जाती है और न कार्य के अनुसार; वरन् योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी तय की जाती है।

मज़दूरी की आम दर

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि काम और श्रम के भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं। भिन्न-भिन्न कार्यों, व्यवसायों, पेशों के अपने-अपने अलग प्रश्न रहते हैं, इस कारण प्रत्येक में मज़दूरी की दर भिन्न-भिन्न होती है। बाज़ार में मज़दूरी की आम दर नहीं हो सकती। प्रतियोगिता के कारण अधिक योग्यता-क्षमता वाले मज़दूर को, कम योग्यता-क्षमता वाले मज़दूर से अपेक्षाकृत अधिक मज़दूरी दी जायगी। इस कारण प्रतियोगिता के कारण विभिन्न व्यवसायों में, विभिन्न व्यक्तियों की उजरतें भिन्न-भिन्न होंगी। मज़दूरी की आम दर यदि किसी तरह हो सकती है, तो वह होगी योग्यता-क्षमता संबंधी मज़दूरी की आम दर। यानी एक-समान योग्यता-क्षमता वाले मज़दूरों को एक व्यवसाय में, एक समय में, बराबर-बराबर मज़दूरी दी जायगी। आर्थिक स्वतंत्रता और साहसिक कार्य के युग में किसी एक स्थान-विशेष में, एक समय में, योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी के समान रहने की प्रवृत्ति रहती है। जितनी ही अधिक श्रम की गतिशीलता होगी, और मज़दूर जितनी ही आसानी और शीघ्रता से विभिन्न व्यवसायों में और व्यवसायों

के विभिन्न पदों पर आ-जा सकेंगे; विशेष शिक्षा, योग्यता-क्षमता, कार्य-कुशलता की आवश्यकता जितनी कम पड़ेगी; अभिभावक और माता-पिता अपने आश्रितों के लिए अच्छे से अच्छे काम दिलाने के लिए जितने ही अधिक सतर्क और प्रयत्नशील होंगे; जितनी जल्दी और जितनी आसानी तथा योग्यता से मज़दूर अपने को आर्थिक परिस्थिति और परिवर्तनों के अनुकूल बना सकेंगे, और जितने ही कम तीव्र और कम भयंकर ये आर्थिक परिवर्तन होंगे, योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी के समान होने की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक तीव्र होगी। किंतु इस समतावाली प्रवृत्ति के संबंध में एक ख़ास बात है। यदि एक ही तरह के काम के करने के लिए दो समान योग्यता-क्षमता वाले मज़दूर लगाए जायँ, किंतु एक को अच्छे और सुधरे हुए औज़ारों से काम करना पड़े और दूसरे को पुराने ढर्रे के कम अच्छे औज़ारों से, और उजरत दी जाय कार्य के गुण परिमाण के अनुसार, तो दोनों मज़दूरों को बराबर-बराबर मज़दूरी न मिल सकेगी। जो अच्छे औज़ारों से कार्य करेगा वह एक निश्चित समय में ज़्यादा परिमाण में उस वस्तु को तैयार कर सकेगा, इस कारण उसे अधिक मज़दूरी दी जायगी। इस प्रकार औज़ारों के उपयोग का भी मज़दूरी की दर पर प्रभाव पड़ता है। इस दल का मत है कि इन कारणों से स्पष्ट है कि मज़दूरी की कोई आम दर नहीं हो सकती। हां, योग्यता-क्षमता के अनुसार मज़दूरी की आम दर होने की प्रवृति हो सकती है।

एक श्रेणी के श्रम की आम दर

अर्थशास्त्रियों का एक दूसरा दल है, जिस का मत है कि जैसे विभिन्न पदार्थों की आम दर होती है, उसी तरह से श्रम या मज़दूरी की आम दर होती है। जिन मज़दूरों की संख्या का प्रभाव मज़दूरी पर पड़ता है उन की श्रेणी के अच्छे से अच्छे और निकृष्ट से निकृष्ट मज़दूर की मज़दूरी में विशेष अंतर नहीं पड़ता। एक तरह के काम के लिए एक समय और स्थान में दोनों को ही समान मज़दूरी मिलती है। जिस तरह उन सभी वस्तुओं की, जो बेची-

ख़रीदी जाती हैं तथा जिन की संख्या या मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है, एक बाज़ार-दर होती है, उसी तरह श्रम की भी बाज़ार-दर होती है और श्रम की यह बाज़ार-दर अन्य वस्तुओं की तरह ही माँग और पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा निश्चित की जाती है। जैसे पदार्थों की हज़ारों क़िस्में होती हैं, पर एक तरह के गुण-धर्म-रूप-रंग-आकार-प्रकार के पदार्थों की एक आम बाज़ार-दर होती है, उसी तरह श्रम की अनेक श्रेणियों, अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी एक तरह के, एक श्रेणी के श्रम की आम बाज़ार-दर होती है, जो माँग-पूर्ति के सिद्धांत द्वारा निश्चित की जाती है।

पूर्व-पक्ष वाले अर्थशास्त्री भी इस बात को स्वीकार करते हैं, किंतु तनिक शब्दों के परिवर्तन के साथ। वे 'श्रम' के स्थान में 'श्रम की योग्यता-क्षमता' का प्रयोग करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दोनों के विचारों में विशेष अंतर नहीं है। एक प्रकार के श्रम की, यानी श्रम की एक श्रेणी की, अथवा श्रम के एक प्रकार की योग्यता-क्षमता की आम बाज़ार दर होती है। और माँग-पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा उस दर का निर्णय किया जाता है।

सस्ते मज़दूर मँहगे पड़ते हैं

प्रायः लोग सोचते हैं कि कार्य के अनुसार मज़दूरी की पद्धति में पदार्थों के परिमाण के अनुसार मज़दूरी दी जाती है, इस कारण यदि ख़र्च की एक ख़ास बँधी रक़म किसी एक काम के लिए लगती हो तो मज़दूरों की संख्या का वैसा विचार न करना चाहिए, क्योंकि उस से कोई हानि-लाभ नहीं होता। ख़र्च तो उतना ही पड़ेगा, चाहे कम मज़दूर उतने काम को पूरा कर दें अथवा अधिक मज़-दूर। किंतु ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि मज़दूरों की यदि कम संख्या रहे और प्रति मज़दूर अधिक मज़दूरी दी जाय तो काम की और पदार्थ की मात्रा उतनी भी रहने पर भी मालिक को लाभ होगा, बशर्ते कि उस काम में क़ीमती औज़ारों, मशीनों आदि का उपयोग किया जाय। इस का कारण है। अधिक योग्य मज़दूर कम संख्या में रहने पर भी अयोग्य मज़दूरों की अपेक्षा अधिक परिमाण में पदार्थ तैयार करेंगे। इस कारण

औज़ारों, मशीनों आदि को कम समय तक उपयोग में लाएँगे। इस कारण मँहगी मशीनों में टूट-फूट, क्षय-छीज अपेक्षाकृत कम होगी। इस प्रकार मशीनों के रूप में लगी हुई पूँजी की अधिक रक्षा हो सकेगी। दूसरे, योग्य मज़दूर औज़ारों और मशीनों को अधिक हिफ़ाजत से और अधिक अच्छी दशा में रख सकेंगे। मशीनों के बिगड़ने का भी भय न रहेगा। मरम्मत, सुधार आदि में कम ख़र्च करना पड़ेगा। इन कारणों से प्रमुख व्यय के समान रहने पर भी मालिक को कुल व्यय कम करना पड़ेगा। इस प्रकार मँहगे मज़दूर, जिन्हें अपेक्षाकृत अधिक मज़दूरी देनी पड़ती है, सब बातों को देखते हुए कम मज़दूरी पाने वाले मज़दूरों की अपेक्षा कहीं अधिक सस्ते पड़ते हैं। जहां स्थान की कमी रहती है और मँहगी तथा पेचीदा मशीनों का उपयोग किया जाता है वहां अधिक मज़दूरी देकर योग्य से योग्य मज़-दूरों की कम संख्या रखना अधिक लाभदायक होता है और सस्ता पड़ता है। समय के अनुसार मज़दूरी की पद्धति में भी अधिक मज़दूरी देकर भी योग्य मज़दूर सब बातों को देखते हुए सस्ते पड़ते हैं। यदि एक बढ़ई को एक रुपया रोज़ देना पड़े और वह तीन दिन में एक टेबिल बनाए, और दूसरे अधिक योग्य बढ़ई को दो रुपया प्रतिदिन देना पड़े किंतु वह एक दिन में एक टेबिल बना दे तो मज़दूरी की ऊपरी दर की दृष्टि से दूसरा बढ़ई मँहगा होने पर भी कुल व्यय तथा पदार्थ के विचार से वह पहले से सस्ता ही पड़ता है, क्योंकि पहले मज़दूर को एक टेबिल बनाने के लिए तीन रुपए देने पड़ते हैं और दूसरे मज़दूर को दो रुपए ही देने पड़ते हैं। मँहगे किंतु योग्य मज़दूरों को रखने में समय की, निरीक्षण की, तथा औज़ारों मशीनों की काफ़ी बचत होती है। और अच्छे कारीगर के द्वारा बनाए जाने से वस्तु अधिक उत्तम बन सकती है। उच्च कोटि के उत्पादक और साहसी वे माने जाते हैं जो अधिक से अधिक मज़दूरी दें। इस से उन्हें भी लाभ होता है, समाज को भी और मज़दूर को भी। समाज को अधिक उत्तम और सस्ती वस्तुएं अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में मिलने लगती हैं।

मज़दूरों को अधिक मज़दूरी मिलती है इस से उन की आर्थिक स्थिति अच्छी होती और उन की योग्यता क्षमता बढ़ती है, वे अपने पुत्रों को अधिक उत्तम शिक्षा देकर भविष्य के लिए अधिक कुशल और योग्य कारीगर दे सकते हैं और इस प्रकार समाज का हित कर सकते हैं। और उत्पादक निरीक्षण मशीनों के उपयोग आदि की बचत के रूप में तथा वस्तुओं के गुणों की और परिमाण की वृद्धि के रूप में लाभ उठाते हैं। इस प्रकार योग्य व्यक्तियों की मज़दूरी की ऊँची दर से सब को लाभ होता है।

श्रम की विशेषताएं

अन्य सभी क्रय-विक्रय वाली वस्तुओं की तरह ही श्रम भी बेचा और ख़रीदा जाता है। किंतु श्रम की अपनी कुछ विशेषताएं हैं, जो अन्य सभी वस्तुओं में नहीं पाई जातीं। इन विशेषताओं के कारण श्रम की माँग-पूर्ति में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। श्रम की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन नीचे दिया जाता है।

श्रमी श्रम को बेचता है; अपने को नहीं

श्रम की पहली विशेषता यह है कि वह अपने श्रम को तो बेचता है पर वह अपने को नहीं बेचता। उत्पत्ति का मानवीय साधक (मनुष्य) अन्य वस्तुओं की तरह बेचा या ख़रीदा नहीं जा सकता। केवल उस का श्रम बेचा-ख़रीदा जाता है। वस्तुएं उपयोग के लिए उत्पन्न की जाती हैं। किंतु मनुष्य स्वयं उपयोग करनेवाला होता है। वस्तुओं को जो उत्पादक उत्पन्न करते हैं, जो उत्पादन-व्यय का भार सहते हैं, उन्हें उन वस्तुओं के बदले में उजरत मिलती है। किंतु जो व्यक्ति मनुष्यों को उत्पन्न करते हैं, उन की शिक्षा और तैयारी का व्यय उठाते हैं, वे उन मनुष्यों के श्रम के बदले में मिली हुई उजरत को पाने के बहुत कम अवसर पा सकते हैं। इस प्रकार मनुष्यों को तैयार करनेवालों को उत्पादन-व्यय, त्याग आदि के बदले में बहुत कम लाभ होता है। इस प्रकार वस्तुओं के उत्पादन में और मनुष्यों की तैयारी में विशेष अंतर है।

मनुष्यों की तैयारी, उन की शिक्षा-दीक्षा उन के माता-पिता और अभि-

श्रम की तैयारी में विशेषता

भावकों की दूरदर्शिता, बुद्धिमानी, ज्ञान, शिक्षा-त्याग, आर्थिक स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है। यदि अभिभावक बुद्धिमान, शिक्षित हुए तो वे यह विचार सकेंगे कि लड़कों के बड़े होने पर कौन से व्यवसाय, या कार्य से अधिक लाभ होगा, और वे उसी व्यवसाय या कार्य के लिए उन (लड़कों) को तैयार करेंगे। यदि अभिभावक की आर्थिक स्थिति अच्छी हुई तो वह लड़कों के लिए अधिक ख़र्च करके अच्छी से अच्छी शिक्षा दिला सकेगा। आर्थिक स्थिति अच्छी होने के साथ ही अभिभावक में सद्भाव और त्यागवृत्ति की भी आवश्यकता होती है। यदि सद्भाव और त्यागवृत्ति न हुई तो आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर भी वह लड़कों पर ज़्यादा ख़र्च न करेगा। प्रायः नीचे की श्रेणी के मज़दूर पहले तो इतना ज्ञान नहीं रखते कि वे अपने लड़कों के भविष्य का उचित निर्णय कर सकें। दूसरे, उन की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं रहती कि वे इच्छा रहते हुए भी अच्छी शिक्षा दिला कर अपने लड़कों को ऊँचे दर्जे के कामों के लिए तैयार कर सकें। इस का प्रभाव उत्तरोत्तर अधिकाधिक ख़राब पड़ता जाता है। नीची श्रेणी के मज़दूर जब कम मज़दूरी पाते हैं तब उस का प्रभाव यह पड़ता है कि वे उतने अच्छे भोजन, वस्त्र, रहने के स्थान आदि का प्रबंध नहीं कर सकते जिस से उन की योग्यता, क्षमता, कुशलता और शक्ति बढ़े। बल्कि उन की कार्य-शक्ति निरंतर घटती ही जाती है। और कार्यशक्ति के घटने के साथ ही उन की उपार्जन-शक्ति भी घटती जाती है। फिर उपार्जन-शक्ति के घटने से उन की कार्य-शक्ति और भी अधिक घटती जाती है। इस के अलावा वे अपने पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा, उन के भरण-पोषण का वैसा उत्तम प्रबंध नहीं कर सकते। लड़के छुटपन से ही कमज़ोर और कार्यशक्ति-हीन हो जाते हैं। उन की शारीरिक और मानसिक शक्तियां विकसित और पुष्ट नहीं होने पातीं। बड़े होने पर वे उतने अच्छे मज़दूर नहीं हो पाते जितना कि उन्हें होना चाहिए। इस से उन्हें उजरत भी अपेक्षाकृत कम ही मिलती है। इस का फल

यह होता है कि उन के पुत्र और अधिक कमज़ोर निकलते हैं । इस प्रकार इस कुप्रभाव की तीव्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है । इस के विपरीत जो मज़दूर अपनी योग्यता, क्षमता और कुशलता बढ़ा सकते हैं, उन्हें अधिक उजरत मिल सकती है, और वे अपने तथा अपने पुत्रों के भोजन, आदि पर अधिक ख़र्च कर सकते हैं, और इस प्रकार उत्तरोत्तर उन की आय के बढ़ते रहने का आयोजन होता रहता है । इस प्रकार अच्छा या बुरा प्रभाव पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही चला जाता है । यदि एक पीढ़ी रुपए-पैसे की तंगी के कारण कमज़ोर और कम शिक्षित हो जाती है तो उस के आगेवाली पीढ़ी उस से भी अधिक कमज़ोर और कम शिक्षित होगी । और यह क्रम बराबर जारी रहता है । इस के विपरीत यदि एक पीढ़ी अधिक संपन्न हुई और उचित रीति से शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास की ओर ध्यान दिया गया तो उस के आगे की पीढ़ी और अधिक बलवान, शिक्षित, कुशल और उत्पादन में तथा आय बढ़ सकने में अधिक क्षमताशाली हो सकेगी, और यह क्रम उत्तरोत्तर लगा रहेगा ।

कुशल कारीगरों के लड़कों को सुभीते

कुशल कारीगरों की स्थिति उतनी भयावह नहीं रहती जितनी कि साधारण, और अकुशल मज़दूरों की । उन्हें उजरत अधिक मिलती है । वे अपने तथा अपने पुत्रों के भरण-पोषण में, शिक्षा-दीक्षा में अधिक ख़र्च कर सकते हैं । उन के पुत्रों को उत्पादक अधिक आसानी से ज़िम्मेदारी के कामों पर रख लेते हैं, कारण कि वे (उत्पादक) कारीगरों को जानते रहते हैं और इस कारण उन की (कारीगरों) की ज़िम्मेदारी पर उन के पुत्रों को ऊँचे पदों पर रखने में उन्हें विशेष आपत्ति नहीं रहती । डाक्टरी, वकालत, देशी-विदेशी व्यापार आदि में जो व्यक्ति प्रवेश पा जाते हैं, उन के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा और भरण पोषण में अधिक से अधिक रुपया ख़र्च किया जा सकता है, क्योंकि उन व्यवसायों से इतनी क़ाफ़ी आय हो जाती है कि पेता अपने पुत्र को अच्छी से अच्छी शिक्षा दिला सकता है, और अधिक

से अधिक आय के व्यवसाय के लिए तैयार करके उस में उसे (पुत्र को) लगा सकता है।

उत्पादक अपने मज़दूरों को शिक्षा दिला कर अधिक योग्य, कुशल बना सकता है। इस में उसे लाभ होगा, क्योंकि अधिक योग्य व कुशल श्रमियों को अधिक वेतन देकर भी वह अपना अधिक लाभ कर सकता है। वह इस कारण कि अधिक योग्य व कुशल श्रमी अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में उत्पादन करेगा। किंतु मज़दूरों की शिक्षा आदि में उत्पादक को व्यय करना पड़ता है। और चूँकि शिक्षा आदि से जो लाभ होता है वह मज़दूर को होता है, योग्यता-कुशलता जो बढ़ती है वह मज़दूर में बढ़ती है, उन सब का (सुधारों का) मालिक मज़दूर होता है। इस कारण उत्पादक को व्यय का प्रतिफल तभी मिल सकता है जब मज़दूर शिक्षा के बाद भी उसी उत्पादक के यहां रह कर काम करे। किंतु इस का वैसा कोई निश्चय नहीं रहता। यदि आपस में सद्भाव न रहा, अथवा मज़दूर को दूसरी जगह अधिक लाभ या सुभीता देख पड़ा तो वह पहले उत्पादक का काम छोड़ सकता है। ऐसी स्थिति में मज़दूर की शिक्षा में व्यय उठाने वाले उत्पादक को तथा उस के उत्तराधिकारियों को शिक्षा में किए गए व्यय का प्रतिफल न मिल सकेगा। इस कारण आमतौर पर कोई दूसरा व्यक्ति मज़दूर की उन्नति शिक्षा आदि के लिए व्यय करने के लिए तैयार नहीं होता। इस सब बातों का श्रम की पूर्ति पर और उस की उजरत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

उत्पादक और शिक्षा का भार

श्रम की दूसरी विशेषता है, उस का (श्रम का) श्रमी से पृथक् न हो सकना। जहां श्रम करना होगा वहां श्रमी को स्वयं जाना पड़ेगा। अन्य वस्तुओं के विक्रेताओं की स्थिति ऐसी नहीं होती। हलवाई दाम लेकर ख़रीदार को मिठाई दे देता है। मिठाई के साथ उसे स्वयं जाने की आवश्यकता नहीं

(२) श्रम श्रमी से पृथक् नहीं

पड़ती। यही हाल अन्य वस्तुओं का है। किंतु यदि एक मज़दूर को एक मकान में पुताई करनी हो तो उसे ख़ुद उस मकान में जाकर काम करना होगा। श्रम को बेचने के मतलब होते हैं श्रमी का ख़ुद उस स्थान पर जाकर काम करना। इस विशेषता के कारण मज़दूर को काम करने के स्थान, वातवारण, साथी, काम लेनेवाले मालिक, काम के वितरण आदि के संबंध में बहुत-सी बातें समझ लेनी पड़ती हैं। यदि कोई बात उस के अनुकूल न हुई तो वह उस काम को करने के लिए तैयार न होगा। काम को स्वीकार करने न करने में मज़दूर की रुचि का बहुत प्रभाव पड़ता है। किंतु वस्तुओं के संबंध में ऐसी कोई बात नहीं रहती। इस कारण वस्तुओं की गतिशीलता से मज़दूरों की गतिशीलता बहुत कम रहती है।

श्रम शीघ्र नष्ट होने वाला है

श्रम की तीसरी विशेषता है उस का शीघ्र नष्ट होना। श्रम अधिक समय तक क़ायम नहीं रक्खा जा सकता। वह क्षण-भंगुर होता है। जो समय बिना श्रम किए निकल जाता है, वह फिर वापस नहीं लौटाया जा सकता और न उस बीते हुए समय के श्रम के लिए कुछ उजरत ही मिल सकती। समय के बीतने से जो श्रम एक बार नष्ट हो जाता है, वह सदा के लिए खो जाता है। यदि वस्तुएं न बिकें तो वे आगे की बिक्री के लिए रक्खी जा सकती हैं। पर श्रम इस प्रकार बचा कर नहीं रक्खा जा सकता। यदि सोमवार के दिन श्रम न बेचा गया तो दूसरे दिन मंगलवार को दो दिन का श्रम एक साथ नहीं बेचा जा सकेगा। सोमवार का श्रम सदा के लिए नष्ट समझा जायगा। उस के लिए न उजरत मिल सकेगी और न वह किसी तरह बचा कर, संचित करके रक्खा ही जा सकता है।

श्रम मोल-तोल करने में कमज़ोर

श्रम की चौथी विशेषता है उजरत के संबंध में मोल-तोल करने, सौदा पटाने में उस की कमज़ोरी। इस के कारण हैं, श्रम का शीघ्र नष्ट होना; मज़दूरों का गरीब, असंगठित और संख्या में बहुत अधिक होना; और श्रम

के ख़रीदारों का धनी, कम संख्या में और अधिक सुसंगठित होना। यदि मज़दूर अपने श्रम को न बेचे तो जितना समय उस का बिना काम किए बीत जायगा वह उजरत के लिहाज़ से सदा के लिए खो जायगा। और चूँकि ग़रीब होने के कारण उस के पास कुछ ऐसा बचा हुआ कोष नहीं रहता जिस के बल पर वह अपना भरण-पोषण करता हुआ अधिक समय तक अपने को सशक्त बनाए रहे, इस कारण उसे मजबूर होकर जो भी उजरत आसानी से मिल सकती है उसी पर अपने श्रम को जल्दी से जल्दी बेच देने के लिए, इच्छा न रहते हुए भी विवश होना पड़ता है। यदि मज़दूरी कम देख कर एक मज़दूर काम करने के लिए राज़ी न हो तो कोई न कोई दूसरा मज़दूर उस के स्थान पर काम करने को तैयार हो जाता है। कारण कि मज़दूरों की संख्या बहुत अधिक रहती है। उधर काम पर लगाने वालों की संख्या कम रहती है। उन में वैसी प्रतियोगिता साधारणतः नहीं रहती। इस के अलावा वे धनी होते हैं, इस कारण यदि मज़दूर न भी मिलें तो वे ठहर सकते हैं। जल्दी काम न मिलने से मज़दूर को तो भूखों मरने की नौबत आ जाती है। पर काम लेनेवालों को ऐसी किसी बात की आशंका विशेष रूप से प्रायः नहीं रहती। इस कारण वे मोल-तोल में मज़दूरों की अपेक्षा अधिक समय तक टिक सकते हैं। काम देनेवाले सुशिक्षित भी अधिक होते हैं। इस कारण वे आपस में संगठन भी जल्दी और आसानी से कर सकते हैं। इन कारणों से मज़दूरी के संबंध में सौदा पटाने में मज़दूर बहुत कमज़ोर पड़ता है।

ऊँची श्रेणी के मज़दूर अपवाद

यह साधारण मज़दूरों की बात है। डाक्टर, वकील आदि ऊँची श्रेणी के पेशेवाले और धनी घरों के गृह-सेवक उजरत के संबंध में सौदा पटाने में वैसे कमज़ोर नहीं पड़ते। ख़ास तरह के कामों में दक्ष होने, संख्या में कम होने और कुछ समय तक बिना काम मिले भी अपना गुज़र-बसर चला सकने की आर्थिक शक्ति रखने के कारण ये लोग मोल-तोल में अधिक समय तक

ठहर सकते हैं, और इस कारण इन्हें उजरत के संबंध में प्रायः दबना नहीं पड़ता।

साधारण मज़दूर सौदा पटाने में और मोल-तोल के अवसर पर बिना काम के भी कुछ समय तक ठहर सकने में कमज़ोर पड़ते हैं, इस कारण प्रायः उन की उजरत कम हो जाती है। इस का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है और उस का असर दूर तक पहुँचता है। कम मज़दूरी मिलने से एक तो वे अपना और अपने पुत्र आदि का अच्छी तरह से भरण-पोषण नहीं कर सकते, इस कारण वे स्वयं और उन के पुत्र आदि शरीर-मस्तिष्क से कमज़ोर होते जाते हैं। इस कारण उन की कार्यशक्ति कम हो जाती है। और कार्यशक्ति के कम होने पर उन की उजरत कम होती जाती है। और इस का प्रभाव पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। इस के अलावा कम मज़दूरी हो जाने से वे और अधिक ग़रीब होते जाते हैं। इस कारण उन की सौदा पटाने की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रम ही की तरह उत्पादन के अन्य साधनों को भी तत्काल काम न मिलने के कारण उजरत से हाथ धोना पड़ता है। यदि कुछ समय तक बेकार रहना पड़ा तो पूँजी का सूद, व्यवस्था का वेतन, साहस का लाभ और भूमि का लगान, उस बेकारी की अवधि के लिए नहीं प्राप्त किया जा सकता और वह श्रम की मज़दूरी की तरह ही सदा के लिए खो जाता है। कुछ समानता रहते हुए भी श्रम और उस की उजरत से अन्य साधनों और उन की उजरत में कुछ विशेष भिन्नता भी है। श्रम के अलावा अन्य साधनों की उजरत बेकारी के काल के लिए खो ज़रूर जाती है, किंतु मशीन आदि की घिसाई आदि भी बच जाती है। मशीनों के संबंध में एक बात और है। अधिक समय बीत जाने पर वे पुरानी पड़ जाती हैं। नए सुधारों, आविष्कारों के कारण वे निकम्मी हो जा सकती हैं। और इस प्रकार उन में लगी पूँजी व्यर्थ भी जा सकती है। पर श्रम से पूँजी में तथा भूमि में यह फ़र्क़ है कि बेकारी

के समय मशीन या ज़मीन को उस तरह के भरण-पोषण के व्यय की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसी कि श्रम के लिए ज़रूरी है। मज़दूर को प्रतिदिन भोजन आदि की आवश्यकता पड़ती है। भूखों मरने पर मज़दूर को किसी भी उजरत पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। मशीन और भूमि के सामने भूखों मरने और इस प्रकार मजबूर होकर किसी भी उजरत पर काम करने की नौबत नहीं आ सकती। यह कहा जा सकता है कि भू-स्वामी और मशीन-रूपी पूँजी के मालिक भूखों मरने की दशा तक पहुँच सकते हैं। किंतु वैसी स्थिति आने पर पूँजीपति और भू स्वामी अपनी पूँजी और भूमि को बेच कर अपना गुज़ारा कर सकते हैं। पर श्रमी तो अपने श्रम को अपने से अलग कर के नहीं बेच सकता।

श्रम को विश्राम की आवश्यकता

श्रम की पाँचवीं विशेषता है उस की विश्राम की आवश्यकता। मशीन या भूमि की तरह मनुष्य निर्जीव पदार्थ नहीं है। कुछ समय तक काम करने के बाद मनुष्य थक जाता है और फिर वह काम नहीं कर सकता। उसे विश्राम और मनोरंजन की, आवश्यकता पड़ती है। इस के साथ ही मनुष्य सजीव, सचेतन प्राणी है। किसी काम को करने न करने अथवा केवल ख़ास समय तक करने का निर्णय उस की रुचि के द्वारा किया जाता है। किसी काम में बहुत अधिक उजरत मिलती हो, पर यदि कोई एक ख़ास मज़दूर उस काम को नहीं पसंद करता तो रुचि न रहने पर वह उसे न करेगा। मशीन, भूमि, तथा विभिन्न वस्तुओं के संबंध में रुचि वाला प्रश्न नहीं रहता।

श्रम की पूर्ति बहुत समय लेती है

श्रम की पूर्ति में बहुत समय लगता है, मज़दूर बहुत दिन में तैयार किए जा सकते हैं, श्रम की यही छठी विशेषता है। माता-पिता तथा अभिभावक बालकों को अपने विचार और निर्णय के अनुसार ख़ास कामों के लिए तैयार करते हैं। बालकों को काम सीख कर उस के लिए तैयार होने में काफ़ी समय लगता है। साथ ही उन पर किए गए व्यय के प्रतिफल को प्राप्त

करने का समय बहुत दिनों बाद आता है, और प्रतिफल भी बहुत धीरे-धीरे बहुत समय बाद मिलता है। बालकों के माता-पिता तथा अभिभावकों को बड़ी दूरदर्शिता से काम लेना पड़ता है और एक पीढ़ी पहले ही यह सोच लेना पड़ता है कि किस व्यवसाय में उन के बालक को जाना चाहिए। इस प्रकार एक पीढ़ी क पहले से श्रम की तैयारी शुरू होती है और बालकों के वयस्क होने पर उतनी संख्या में श्रमी काम करने लायक़ हो पाते हैं। इस प्रकार साधारण वस्तुओं तथा मशीनों की तैयारी से श्रम की तैयारी में अधिक समय लगता है। फि जिस उद्देश्य से उत्पादक मशीनें, विभिन्न वस्तुएं आदि बनाते हैं उस में और श्रम की तैयारी के उद्देश्य में विशेष भिन्नता रहती है। इस के अलावा मनुष्य का आय-उपार्जन काल वस्तुओं के आय-उपार्जन काल से कहीं लंबा रहता है— कारख़ाने, मकान, पुल, रेल के बाँध आदि इस नियम के अपवाद स्वरूप हैं। इस कारण तैयारी के लंबे काल को और आय-उपार्जन के दीर्घ समय को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि जिस स्थिति और कारणों के द्वारा आय होती है उस का ठीक-ठीक निर्णय करके श्रम को तैयार करना कठिन होता है, क्योंकि श्रम की तैयारी के और आय-उपार्जन के काल में इतना लंबा अंतर पड़ जाता है कि जिन कारणों और परिस्थिति को सामने रख कर किसी एक व्यवसाय के लिए अभिभावकों ने लड़कों को तैयार किया था, वे एक दम बदले जा सकते हैं और इस प्रकार बहुत कुछ उलट-फेर हो सकता है।

प्रायः प्रत्येक पीढ़ी से श्रमी अपनी पिछली पीढ़ी की स्थिति और आय को सामने रख कर तैयार होते हैं, किंतु उन की उजरत उन के समय की श्रम की माँग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होती है।

श्रम की इन विशेषताओं का उस की माँग, पूर्ति और उजरत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

श्रम की उजरत, मज़दूरी का निर्णय किस प्रकार किया जाता है इस

मज़दूरी के संबंध में सिद्धांत

संबंध में अर्थशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न मत हैं और इस कारण मज़दूरी के संबंध में अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। मूल आधार अथवा दृष्टिकोण के भिन्न होने से मज़दूरी के सिद्धांतों में भिन्नता पाई जाती है। यहां प्रमुख सिद्धांतों का सविस्तर विवेचन किया जाता है।

मज़दूरी का लौह सिद्धांत

प्राचीन काल के अर्थशास्त्रियों का मत था कि मज़दूरों को केवल उतनी ही मज़दूरी मिल सकती है जितने में उन की किसी तरह से गुज़र चल जाय। जितने में एक मज़दूर और उस के कुटुंब की गुज़र-बसर साधारण रीति से हो जाय, उसे जीवन निर्वाह-योग्य मज़दूरी कहते हैं। लौह सिद्धांत के अनुसार मज़दूर को जीवन-निर्वाह योग्य-मज़दूरी से अधिक और कुछ नहीं मिल सकता। काम देनेवाले संख्या में कम होने, धनी होने और अधिक सतर्क तथा सज्ञान होने कारण आपस में संगठन और समझौता कर लेते हैं। इधर मज़दूर संख्या में अधिक, निर्धन तथा भोले-भाले और अशिक्षित होने के कारण न तो आपस में संगठन कर सकते और न अधिक समय तक बेकार ही रह सकते हैं। इस कारण उन्हें जो भी मज़दूरी मिल जाती है उसी को उन्हें मजबूर होकर स्वीकार कर लेना पड़ता है। किंतु प्रत्येक मज़दूर को कम से कम इतनी मज़दूरी तो ज़रूर ही मिलनी चाहिए जिस से उस का तथा उस के कुटुंब का जीवन-निर्वाह किसी तरह से हो सके। यदि जीवन-निर्वाह-व्यय की रक़म से मज़दूरी कम मिलेगी जो मज़दूरों तथा उन के कुटुंबियों का निर्वाह न हो सकेगा। इस कारण मज़दूरों की संख्या में कमी पड़ जायगी। और तब काम देनेवालों को अपनी माँग के मुताबिक़ मज़दूरों को पाने के लिए मज़दूरी बढ़ानी पड़ेगी। यदि मज़दूरी जीवन-निर्वाह-योग्य व्यय से अधिक होगी तो मज़दूर जल्दी विवाह करेंगे, अपने तथा अपने कुटुंब के ऊपर अधिक ख़र्च कर सकेंगे। इस से मज़दूरों की संख्या बढ़ जाने से उन में आपस में प्रतियोगिता होगी और मज़दूरी

कम हो जायगी। इस प्रकार जीवन-निर्वाह-योग्य व्यय ही वह रक़म है जिस की मज़दूर को ज़रूरत पड़ती है और जिस के बराबर मज़दूरी होने से मज़दूरों की संख्या काम देनेवालों की माँग के बराबर रहती है।

मज़दूरी का लौह सिद्धांत भ्रामक है। इस में यह मान लिया जाता है कि मज़दूरों को यदि जीवन निर्वाह-व्यय से अधिक मज़दूरी दी जायगी तो उन में जन्म-संख्या बढ़ जायगी और इस प्रकार पूर्ति-संख्या आवश्यकता से अधिक हो जायगी। किंतु मज़दूरी बढ़ने से प्रायः रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जाता है और मज़दूरों की योग्यता-क्षमता बढ़ जाती है। और इस कारण उन की मज़दूरी घटने के बजाय और भी अधिक बढ़ सकती है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि मज़दूरों को जीवननिर्वाह-योग्य व्यय के बराबर ही मज़दूरी मिलती है, तब विभिन्न व्यवसायों में मज़दूरी बराबर होनी चाहिए, क्योंकि प्रायः सभी मज़दूरी का जीवननिर्वाह-योग्य व्यय बराबर ही रहता है। किंतु एक देश में, एक स्थान ही पर रहनेवाले मज़दूरों को विभिन्न व्यवसायों में बराबर-बराबर मज़दूरी नहीं दी जाती। तीसरे, इस नियम में केवल मज़दूरों की संख्या का अर्थात् पूर्ति का विचार किया जाता है, किंतु केवल पूर्ति के द्वारा ही उजरत का निर्णय नहीं हो सकता। यदि पूर्ति बढ़ जाय किंतु साथ ही माँग भी बढ़ जाय तो, मज़दूरी (पूर्ति के बढ़ने पर भी) घटेगी नहीं। चौथे, यह देखा जाता है कि माँग और पूर्ति की विभिन्नता के कारण एक ही व्यवसाय में कभी मज़दूरी जीवननिर्वाह-योग्य व्यय से कम दी जाती है और कभी ज़्यादा। इन ख़ामियों के होने के कारण यह सिद्धांत ग्राह्य नहीं ठहरता।

रहन-सहन के दर्जे के अनुसार मज़दूरी सिद्धांत

मज़दूरी के लौह सिद्धांत के भ्रामक सिद्ध होने पर अर्थशास्त्रियों ने उस के स्थान पर रहन-सहन के दर्जे के अनुसार मज़दूरी के सिद्धांत को स्वीकार किया। यह प्रतिपादित किया गया कि जिस श्रेणी के मज़दूरों के रहन-सहन का दर्जा जैसा होता है उसी के अनुसार उन्हें मज़दूरी मिलती

है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक मज़दूर को उतनी मज़दूरी मिलती है जितने में वह अपना, अपने कुटुंब का भरण-पोषण कर सकता है और साथ ही अपने रहन-सहन के दर्जे को क़ायम रख सकता है। लौह सिद्धांत के अनुसार मज़दूरी केवल उतनी ही मिलती है जितने में मज़दूर को जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। किंतु इस नियम के अनुसार मज़दूरी इतनी मिलती है जिस से जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थों के अलावा मज़दूर कुछ क्षमता-कुशलता-शिक्षा के और क्वचित् मनोरंजन की व्यवस्था के लिए भी थोड़ा-बहुत व्यय कर सकता है। एक तरह से यह सिद्धांत लौह सिद्धांत का ही सुधरा हुआ रूप है।

दो तरह से मज़दूरी की दर पर रहन-सहन के दर्जे का प्रभाव पड़ता है। एक तो इस प्रकार कि, जब एक मज़दूर एक ख़ास तरह के जीवन का अभ्यस्त हो जाता है, उस के रहन-सहन का दर्जा निश्चित हो जाता है और वह उस दर्जे के रहन-सहन का आदी हो जाता है तो वह उजरत की उस दर को पाने के लिए डट कर प्रयत्न करता है, जिसे वह उचित समझता है, जिस से उस के रहन-सहन का दर्जा क़ायम रह सकता है। दूसरे रहन सहन के दर्जे का प्रभाव मज़दूर की सीमांत उपज पर पड़ता है और इस प्रकार सीमांत उपज के द्वारा मज़दूर की मज़दूरी की दर पर रहन-सहन के दर्जे का प्रभाव पड़ता है। यह दो प्रकार से होता है। एक तो मज़दूर की उत्पादन-शक्ति बढ़ा कर और दूसरे मज़दूरों की संख्या पर नियंत्रण करके। रहन-सहन के दर्जे का बहुत अधिक प्रभाव उस की योग्यता-क्षमता-कुशलता तथा उत्पादन-शक्ति पर पड़ता है। ऊँचे दर्जे के रहन-सहन में मनुष्य को अधिक पौष्टिक भोजन, अधिक अच्छे और साफ़ मकान, उत्तम शिक्षा और मनोरंजन के अधिक अवसर आदि प्राप्त होते हैं और इन कारणों से उस की योग्यता-क्षमता तथा उत्पादन-शक्ति बढ़ती है। इस से उसे अधिक मज़दूरी मिल सकती है। इस के अलावा यदि मज़दूर को अपने रहन-सहन के दर्जे के अनुसार मज़दूरी न मिले तो वह जल्दी शादी न

करेगा तथा कम बच्चे पैदा करेगा और इस प्रकार जन्म-संख्या और मज़दूरों की संख्या परिमित होगी। श्रम की पूर्ति कम हो जायगी। इस से सीमांत उत्पादकता बदल जायगी। इस कारण मज़दूरी बढ़ जायगी। इस प्रकार रहन-सहन-के दर्जे-के-अनुसार मज़दूरी का सिद्धांत, सीमांत उत्पादकता नियम का एक दूसरा रूप सिद्ध होता है।

किंतु यदि यह कहा जाय कि सीमांत उत्पादकता के प्रश्न के बिना ही रहन-सहन का दर्जा मज़दूरी की दर निश्चित करने में समर्थ होता है, तो यह बात भ्रामक होगी। यदि कोई मज़दूर अपने रहन-सहन का दर्जा तो ऊँचा कर ले पर न तो अपनी सीमांत उत्पादकता बढ़ावे और न मज़दूरों की संख्या को कम कर सके, तो उसे अधिक मज़दूरी न मिल सकेगी; उस के रहन-सहन का दर्जा उस की मज़दूरी के बढ़ाए जाने में सहायक न हो सकेगा। उत्पादक अधिक मज़दूरी देगा नहीं, क्योंकि उस मज़दूर की उत्पादकता पहले से बढ़ी नहीं, और यदि वह काम छोड़ देगा तो, मज़दूरों की संख्या कम न होने से, कोई दूसरा मज़दूर उस के स्थान पर काम करने लगेगा। मज़दूरों की संख्या में कमी न होने से, उन की सीमांत उत्पादकता में भी कोई फ़र्क़ न पड़ेगा। इस प्रकार केवल रहन-सहन के दर्जे से मज़दूरी में वैसा परिवर्तन न हो सकेगा। यह नियम इस लिए भी भ्रामक है कि इस में श्रम की माँग का और माँग से होनेवाले प्रभाव का कोई ख़याल नहीं किया जाता।

कुछ अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि जब अन्य सभी साधन अपना अपना भाग राष्ट्रीय आय में से ले लेते हैं तो इस के बाद जो कुछ बच रहता है वह मज़दूर को मज़दूरी के रूप में मिलता है। इस नियम के अनुसार समस्त उत्पत्ति में से माँग-पूर्ति के सिद्धांत तथा सीमांत उत्पादकता के अनुसार जब पूँजी का सूद, भूमि का लगान, साहस का लाभ और प्रबंध का वेतन चुका दिया जाता है, तो इस के बाद जो कुछ बचता है वही अवशिष्ट

मज़दूरी का अवशिष्ट-स्वत्व सिद्धांत

भाग मज़दूर को मज़दूरी के रूप में प्राप्त होता है।

यह सिद्धांत भ्रामक है। इस में श्रमियों की संख्या के घटने-बढ़ने के कारण मज़दूरी पर जो असर पड़ता है उस का कोई विचार नहीं किया जाता। दूसरे, ट्रेड-यूनियन आदि के द्वारा संगठित होकर मज़दूर जो अपनी मज़दूरी की दर बढ़ा लेते हैं उस का भी इस नियम में ख़याल नहीं रक्खा गया है। तीसरे, जब माँग और पूर्ति के सिद्धांत तथा सीमांत उत्पादकता के अनुसार अन्य साधनों की उजरत का निर्णय होता है तब वही तरीक़े मज़दूरी के नियमों के निर्णय के लिए क्यों उचित नहीं समझे जाते। इस सिद्धांत में इस का कोई उत्तर नहीं मिलता।

मदूज़री-कोष सिद्धांत

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि चल-पूँजी का एक हिस्सा श्रम की ख़रीद के लिए अलग कर दिया जाता है। इसी को मज़दूरी-कोष कहते हैं। यह मज़दूरी-कोष एक निश्चित रक़म होती है, क्योंकि भूतकाल के संचय अथवा बचत के एक अंश को ही मज़दूरी-कोष का रूप प्राप्त होता है। और भूतकाल की बचत या संचय एक निश्चित रक़म होती है। इस कारण उस का एक अंश जो मज़दूरी-कोष के रूप में परिणत कर दिया जाता है वह अवश्य ही एक निश्चित रक़म होती है। इसी कोष के अनुसार मज़दूरी की माँग होती है। यदि कोष अधिक हुआ तो श्रम की अधिक माँग होगी, और यदि मज़दूरी-कोष कम हुआ तो श्रम की माँग कम होगी। इस कोष में मज़दूरी की संख्या से भाग देने से मज़दूरी की दर निकलती है। इस से यह सिद्ध होता है कि यदि मज़दूरी की दर बढ़ाना हो तो दो बातों से एक बात करनी पड़ेगी; या तो मज़दूरों की संख्या घटानी पड़ेगी, अथवा मज़दूरी-कोष बढ़ाना पड़ेगा। किंतु चूँकि मज़दूरी-कोष का निर्माण भूतकाल की बचत या संचय के एक हिस्से के द्वारा किया जाता है इस कारण कोष बढ़ाना वैसा सरल और तत्काल हो सकनेवाला काम नहीं है। ऐसी दशा में एक ही उपाय हो सकता है। यदि मज़दूरी की दर बढ़ाना हो और

मज़दूरों को अधिक ख़ुशहाल करना हो तो मज़दूरों की संख्या कम की जानी चाहिए। और इस के लिए मज़दूरों में जन्म-संख्या कम करनी चाहिए। इस के साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि मज़दूरों के किसी एक दल ने संगठन आदि के द्वारा किसी तरह अपनी मज़दूरी की दर बढ़ा ली तो अन्य दलों के मज़दूरों की मज़दूरी की दर कम हो जायगी, क्योंकि मज़दूरी-कोष तो निश्चित है। यदि उस में से किसी ने ज़्यादा भाग ऐंठ लिया तो दूसरों के हिस्से में कम रक़म पड़ेगी। इस प्रकार मज़दूरी-कोष के अनुसार मज़दूरी की दर तय की जाती है।

यह सिद्धांत भी भ्रामक है। इस सिद्धांत के अनुसार श्रम की माँग एक निश्चित कोष पर निर्भर रहती है। किंतु असल में श्रम की माँग विभिन्न वस्तुओं की माँग पर निर्भर रहती है, न कि किसी ख़ास निश्चित कोष पर। जब वस्तुओं की माँग अधिक होती है तब अधिक लाभ की आशा से उत्पादक अधिक संख्या में मज़दूरों को काम में लगाते हैं। जब वस्तुओं की माँग कम होती है तब उत्पादक कम मज़दूरों को काम देते हैं। इस के अलावा, जब जनता अपनी कुल आय ख़र्च करने लगती है तब मज़दूर उपभोग-योग्य वस्तुओं के उत्पादन में लगाए जाते हैं। किंतु जब जनता की प्रवृत्ति धन-संचय करने की ओर होती है तब मज़दूर उत्पादन-संबंधी वस्तुओं के उत्पादन में लगाए जाते हैं। इस प्रकार धन के संचय और धन के व्यय में श्रम के लिहाज़ से केवल उस दिशा का, या उत्पादन-कार्य का अंतर पड़ता है, जिस में मज़दूर काम में लगाए जाते हैं। साथ ही एक और अंतर पड़ता है। यदि दीर्घकाल तक जनता की प्रवृत्ति धन-संचय और उत्पादन-कार्य में पूँजी के लगाने की हुई तो औज़ारों, मशीनों, कारख़ानों आदि की संख्या बढ़ जायगी और उन में सुधार होगा। इस का फल होगा मज़दूरों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि। और उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होने से उन की मज़दूरी बढ़ेगी।

असल में मज़दूरी श्रम के द्वारा की हुई उत्पत्ति में से दी जाती है,

न कि पूँजी में से। पूँजी में से तो मज़दूरी का केवल कुछ भाग ही पेशगी के तौर पर दिया जाता है और बाद में उस की भी पूर्ति उत्पत्ति में से कर ली जाती है। अन्य साधनों की उजरत की तरह ही मज़दूरी भी राष्ट्रीय आय में से ही दी जाती है। और राष्ट्रीय आय कोई बँधी आय या निश्चित रक़म नहीं होती। राष्ट्रीय आय तो एक प्रवाह है जो सदा चालू रहता है। श्रम द्वारा राष्ट्रीय आय की मात्रा बढ़ाई जाती है और इस प्रकार मज़दूरी की रक़म भी बढ़ाई जा सकती है। यदि अति-अल्प काल में ऐसा कोई कोष मान भी लिया जाय तो भी उस कोष का परिमित परिमाण में होना नहीं माना जा सकता। इस का कारण है। यदि ऐसा कोष माना भी जाय, तो वह या तो द्रव्य के रूप में होगा, अथवा वस्तुओं के रूप में। यदि द्रव्य के रूप में माना जाय, तो उस का एक निश्चित और परिमित परिमाण में होना सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी देश के द्रव्य का परिमाण बहुत लोचदार होता है; बैंकों की नीति तथा लाभ-हानि की आशा-आशंका से वह सदा घटता-बढ़ता रहता है। जब व्यापार ख़ूब चलता रहता है और उत्पादकों को लाभ की आशा रहती है, तब अपेक्षाकृत अधिक द्रव्य उत्पादक के कार्य में लगाया जाता है, और बहुत अधिक द्रव्य श्रम की उजरत के रूप में दिया जाता है। किंतु जब व्यापार मंदा पड़ जाता है और हानि की आशंका होने लगती है तब बहुत कम द्रव्य श्रम की उजरत के रूप में लगाया जाता है। इस कारण यदि कोष द्रव्य के रूप में माना जाय तो उस का परिमाण परिमित नहीं हो सकता। और यदि यह माना जाय कि कोष वस्तुओं के रूप में होता है तो श्रमियों के लिए वस्तुओं का ऐसा कोई कोष एक निश्चित परिमाण में परिमित नहीं सिद्ध किया जा सकता। खाद्य पदार्थों का परिमाण एक ख़ास ऋतु के लिए भले ही निश्चित और परिमित हो सके किंतु सदा के लिए कोई परिमाण निश्चित नहीं माना जा सकता। फिर, आजकल के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के युग में विभिन्न देशों में वर्ष के विभिन्न समयों में विभिन्न

वस्तुओं के उत्पन्न होने के कारण, किसी एक ऋतु में भी खाद्य पदार्थों के परिमाण का परिमित मानना तनिक कठिन ही है। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसा कोई कोष भी माना जाय तो भी वह निश्चित न रह कर, बहुत ही लोचदार होगा। और उस का यथार्थ परिमाण श्रम का लाभ के साथ काम में लगाने के परिमाण पर निभर रहेगा। यदि श्रमी बहुत कुशल और योग्य होंगे तो उन की उत्पादन-शक्ति अधिक होगी, इस कारण राष्ट्रीय आय बढ़ जायगी। इस प्रकार मज़दूरी की दर ऊँची होगी। इस से सिद्ध होता है कि मज़दूरी की दर का निर्णय मज़दूर की उत्पादन-शक्ति द्वारा निश्चित होता है, निश्चित कोष द्वारा नहीं।

मज़दूरी का सीमांत-उत्पत्ति सिद्धांत

वर्तमान युग में यह माना जाता है कि अन्य सभी क्रय-विक्रय योग्य वस्तुओं की भाँति ही श्रम की उजरत भी माँग-पूर्ति के सिद्धांत के अनुसार उस की सीमांत उत्पत्ति द्वारा निश्चित की जाती है। किसी एक मज़दूर को कोई भी व्यवस्थापक अधिक से अधिक केवल उतना ही दे सकेगा जितना कि उस मज़दूर के श्रम के द्वारा उसे प्राप्त हो सकेगा। और मज़दूरों की सीमांत उत्पत्ति उन की संख्या पर निर्भर है।

मज़दूरी सीमांत मज़दूर द्वारा निश्चित

मालिक किसी एक मज़दूर को अधिक से अधिक केवल उतना ही दे सकेगा जितना कि उसे काम में लगे हुए मज़दूरों में से अंतिम मज़दूर के काम छोड़ देने पर नुक़सान होगा। मालिक एक मज़दूर को कम से कम केवल उतना ही देगा जितना कि काम में लगे हुए मज़दूरों की एक ख़ास संख्या के अलावा बाहर से आकर एक और अधिक मज़दूर काम करके जो मात्रा उत्पन्न कर सकेगा। और चूँकि एक काम में लगे हुए सभी मज़दूर श्रम की दृष्टि से बराबर माने जाते हैं और किसी एक के काम छोड़ देने पर उत्पति की मात्रा में जो कमी होगी वह सीमांत उत्पत्ति के समान होगी, अस्तु सभी मज़दूरों को बराबर-बराबर मज़दूरी दी जायगी। नीचे

की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है :—

मज़दूरों की संख्या	कुल उपज	सीमांत उपज	एक और मज़दूर द्वारा कुल में वृद्धि	मज़दूरों की दर
१	१००	१००	—	१००
२	१०० + ८० = १८०	८०	८०	८०
३	१८० + ६० = २४०	६०	६०	६०
४	२४० + ४० = २८०	४०	४०	४०
५	२८० + २० = ३००	२०	२०	२०

जब एक मज़दूर काम करता है तो कुल उत्पत्ति १०० होती है और सीमांत उत्पत्ति भी १०० है, अस्तु मज़दूर को १०० मज़दूरी में मिलते हैं। अब दो मज़दूर काम करते हैं तो क्रमागत ह्रास-नियम के अनुसार सीमांत उत्पत्ति ८० होती है। दूसरे मज़दूर के आने से सीमा गिर जाती है। अस्तु मज़दूरी की दर कम होकर ८० रह जाती है। और चूँकि दोनों मज़दूर काम के लिए बराबर माने जाते हैं, अस्तु अब पहले मज़दूर को भी १०० न मिल कर ८० ही मज़दूरी में मिलते हैं, क्योंकि यदि पहला मज़दूर ही काम छोड़ दे तो भी हानि तो वही सीमांत उपज, यानी ८० के बराबर ही होगी। अस्तु दूसरे मज़दूर के आ जाने से मज़दूरी की दर ८० रह जाती है। इसी प्रकार जब क्रम से ५वां मज़दूर आ जाता है तो सीमांत उपज गिर कर २० ही रह जाती है। और चूँकि मालिक को उस के आने से कुल उत्पत्ति में केवल २० ही की वृद्धि होती है अस्तु वह मज़दूरी में २० ही देगा, और चूँकि सब मज़दूर आपस में बराबर हैं, अस्तु पहले मज़दूर के भी चले जाने से कुल उत्पत्ति की मात्रा में केवल २० ही की हानि होगी, अस्तु सब मज़दूरों को २० ही २० मज़दूरी में प्राप्त हो सकता है। यह कम से कम मज़दूरी की दर है। अब दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। यदि पाँचवां मज़दूर काम छोड़ दे तो कुल उत्पत्ति में कमी तो होगी केवल २० ही की, पर सीमांत उत्पत्ति ४० रहेगी, यानी मालिक को काम में लगे रहनेवाले अंतिम

चौथे मज़दूर के श्रम से ४० का लाभ होता है। अस्तु वह बाक़ी बचे हुए मज़दूरों को प्रति मज़दूर के हिसाब से ज़्यादा से ज़्यादा जो देगा वह ४० होगा क्योंकि यदि वह ४० न देगा और एक मज़दूर काम छोड़ देगा तो कुल उत्पत्ति में मालिक को ४० की कमी पड़ेगी।

इस प्रकार मज़दूरों की संख्या के बढ़ने से उन की सीमांत उत्पत्ति में कमी पड़ जाती है और मज़दूरी की दर घट जाती है।

यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि सीमांत मज़दूर वह मज़दूर है जिसे चलतू दर पर उत्पादक सब के अंत में रखना उचित समझेगा और जिस के आने से मज़दूरों की वह संख्या पूरी हो जायगी जिस संख्या को उस दर पर काम में लगाना उत्पादक उत्पादन के लिए सब से अधिक उपयुक्त समझता है। यह ज़रूरी नहीं है कि सीमांत मज़दूर अन्य सब मज़दूरों से कम योग्य या कुशल हो।

इस सिद्धांत के संबंध में यह आक्षेप किया जाता है कि इस में पूर्ति के भावों का वैसा ख़याल नहीं किया जाता। मज़दूरी केवल वह क़ीमत ही नहीं है जो मज़दूर को एक साधन की हैसियत से दी जाती है। मज़दूरी के लिए वह आय है जिस के द्वारा वह अपना भरण-पोषण करता है और जिस के बल पर वह अपनी योग्यता-कुशलता बढ़ाता है। इस प्रकार मज़दूरी का प्रभाव उस की उत्पादन-शक्ति और उजरत की दर पर पड़ता है। इस कारण मज़दूरी को मज़दूर की असली सीमांत उपज के न केवल बराबर होना चाहिए बल्कि उस का इतनी मात्रा में होना ज़रूरी है, जिस से मज़दूर के रहन-सहन का दर्जा क़ायम रह सके, और मज़दूर अपनी उत्पादन-शक्ति तथा योग्यता-कुशलता बनाए रख सके। यदि मज़दूरी कम हुई, और उस से मज़दूर के रहन-सहन का दर्जा क़ायम न रह सका, उसे अपने रहन-सहन के दर्जे को रुपए-पैसे की कमी के कारण नीचा करना पड़ा तो दो बातें होंगी। या तो मज़दूर की योग्यता-कुशलता, उत्पादन-शक्ति कम हो जायगी और इस प्रकार उस की सीमांत उत्पादकता कम हो जायगी।

या जन्म-संख्या कम हो जायगी जिस से श्रम की पूर्ति में कमी पड़ जायगी। मज़दूरी के सीमांत उत्पत्ति-सिद्धांत में यह बातें विचारणीय हैं।

इस सिद्धांत के संबंध में दूसरी बात यह है कि इस में यह माना जाता है कि दीर्घ काल में मज़दूरी की दर की प्रवृत्ति श्रम की असली सीमांत उपज के बराबर होने की रहती है। किंतु यह नहीं प्रतिपादित किया जाता कि मज़दूरी यथार्थ में कभी असली सीमांत उपज के बराबर हो जायगी। इस सिद्धांत के द्वारा मज़दूरी की दर की साधारण प्रवृत्ति का दिग्दर्शन मात्र हो जाता है। मज़दूरी की यथार्थ स्थिति का निश्चित ज्ञान नहीं कराया जाता। इस सिद्धांत को यथार्थ वस्तुस्थिति के समकक्ष लाने के लिए उन अन्य बातों पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है. जिन्हें इस सिद्धांत के प्रतिपादन के समय स्थिर मान लिया जाता है; किंतु वास्तव में जो स्थिर नहीं रहतीं। इस सिद्धांत में यह मान लिया जाता है कि उत्पादक, पूंजी, प्रबंध आदि पूर्ववत् बने रहते हैं। उन की योग्यता-क्षमता में, उत्पादन-शक्ति में परिमाण में विशेष अंतर नहीं पड़ता। पर वास्तव में ऐसी बात होती नहीं। यदि उत्पादक अधिक ध्यान देकर काम करने लगता है, अधिक योग्यता-कुशलता दिखलाता है, तो अन्य साधनों के साथ ही मज़दूर की उत्पादन-शक्ति भी बढ़ जाती है। प्रबंध के अधिक सतर्क होने पर अधिक सुधरे हुए उत्पादनों से, अधिक अच्छी मशीनों और औज़ारों से, काम लिया जाने लगता है। इस से मज़दूर की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार पूँजी के विभिन्न प्रकारों के और परिमाणों के कारण मज़दूर की योग्यता-कुशलता में, उत्पादन-शक्ति में, बहुत अंतर आ जाता है। इन सब का प्रभाव मज़दूर की सीमांत उत्पादकता पर पड़ता है। और इस प्रकार उस की मज़दूरी की दर उन अन्य बातों के परिवर्तन पर निर्भर रहती है, जिन्हें इस सिद्धांत के द्वारा मज़दूरी का प्रश्न पूरी तरह से हल नहीं करता। परंतु इस सिद्धांत द्वारा मज़दूरी की दर को निश्चित करनेवाले एक कारण का स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है।

अध्याय ४०

लगान

प्रसार भूमि का वह प्रधान गुण है जो उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् रखता है। भूमि के प्रत्येक स्थान के साथ प्रकाश, धूप वर्षा का संबंध रहता है। भूमि से साथ ही उस में मिलनेवाले खनिज पदार्थ, मिट्टी, बनस्पति, दृश्य, आदि रहते हैं। सब के सम्मिलित रूप को भूमि कहते हैं। किंतु मनुष्य को भूमि के साथ रहनेवाले इन सब पदार्थों का उपयोग कर सकने और किसी भी तरह आर्थिक उपयोग करने के लिए आधार या स्थान की आवश्यकता पड़ती है। और भूमि का प्रसार परिमित है। इस लिए भूमि के एक किसी भाग को उपयोग में लाने के लिए उस के उपयोग के बदले में कुछ न कुछ देना पड़ता है।

भूमि के उपयोग की उजरत लगान

भूमि के किसी एक भाग या स्थान के उपयोग में लाने के लिए उस के बदले में जो देना पड़ता है उसे लगान (किराया) कहते हैं।

यहां एक बात स्पष्ट रूप से जान लेना ज़रूरी है। साधारण स्थिति में जो लगान भू-स्वामी को दिया जाता है उस में अनेक अन्य प्रकार के भुगतानों की रक़में शामिल रहतीं हैं। वह केवल लगान या शुद्ध लगान नहीं रहता। इस का कारण इस समय जो भूमि उपयोग में लाई जा रही है वह शुद्ध भूमि अर्थात् प्रकृति की देन मात्र नहीं हैं। उस को कृषी तथा अन्य उपयोगों के उपयुक्त बनाने के लिए मनुष्य का श्रम और पूँजी उस में निरंतर लगाए जाते हैं। इस कारण जो भूमि आज उपलब्ध है उस में बहुत सा अंश पूँजी

कुल लगान और शुद्ध लगान

और श्रम का सम्मिलित है। इसी कारण इस समय भूमि के उपयोग के लिए जो उजरत दी जाती है उसे शुद्ध लगान न कह कर कुल लगान कहना अधिक उपयुक्त होगा। कुल लगान में अन्य भुगतान की जो रक़में शामिल रहती हैं वे इस प्रकार हैं: (१) प्रकृति की देन-रूपी एकमात्र भूमि का शुद्ध लगान, (२) भूमि के सुधार आदि में लगाई गई पूँजी का व्याज, (३) भूमि में लगी पूँजी के निरीक्षण आदि के लिए भू-स्वामी अथवा उस के प्रतिनिधियों के श्रम के लिए वेतन या मज़दूरी. (४) भूमि के सुधार आदि के लिए जोखिम उठाने के बदले में भू स्वामी को कुछ लाभ की रक़म।

किंतु इस अध्याय में भूमि शब्द प्रकृति की देन से लिए ही उपयुक्त हुआ है और इस कारण यहां शुद्ध लगान का ही विवेचन किया गया है।

भूमि के दो उपयोग

भूमि के किसी एक भाग के दो उपयोग हो सकते हैं, एक तो उस में किसी वस्तु की उत्पत्ति करने के लिए (जैसे गेहूं, धान फल आदि पैदा करने के लिए) और दूसरे, उस पर रहने, काम करने आदि के लिए मकान आदि बनाने के लिए। पहले प्रकार के उपयोग के लिए यह ज़रूरी है कि भूमि उपजाऊ हो और साथ ही वह ऐसे मौक़े पर हो जहां आना-जाना आसान हो। वह किसी बाज़ार के नज़दीक हो जिस से उस में उत्पन्न वस्तु बिना विशेष कठिनाई और विशेष ढुलाई के ख़र्च के बाज़ार में या बस्ती में पहुँचाई जा सके और खेती के सामान खेत तक आसानी से ले आए ले जाए जा सकें। अस्तु, खेती की भूमि के लिए दो बातें ज़रूरी हैं, एक तो उस का उपजाऊ होना, दूसरे उस का मौक़े पर होना। कारख़ाने, घर मकान आदि के उपयोग में आने-वाली ज़मीन के लिए केवल एक ही गुण की आवश्यकता है उस का मौक़े पर होना। खेती की भूमि का लगान उस के उपजाऊ होने और किसी ख़ास मौक़े पर होने के लिए होता है। कारख़ाना, घर, दूकान आदि के उपयोग के लिए भूमि का जो लगान (या भाड़ा) दिया जाता है वह उस के केवल

किसी ख़ास मौके पर होने के लिए ही। उर्वरता का यहां कुछ विशेष उप योग नहीं रहता।

अब यह देखना है कि लगान (भाड़ा या किराया) क्यों और कैसे प्रारंभ होता है, और किन नियमों के अनुसार उस की तादाद निश्चित की जाती है।

लगान का प्रारंभ

किसी भी देश में सब से पहले केवल सब से अच्छी, सब से उपजाऊ ज़मीन ही काम में लाई जाती है। उस देश की जन-संख्या जब तक परि-मित रहती है तब तक केवल सब से अच्छी ज़मीन के हिस्से से सभी आवश्यक खाद्य पदार्थ पैदा कर लिए जाते हैं। और जब तक सब से अच्छी ज़मीन प्रचुरता से सब तरह के काम के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आसानी से मिलती जाती है तब तक लगान का सवाल ही पैदा नहीं हो सकता; क्योंकि जितनी भूमि की आवश्यकता पड़ती है उतनी सब से अच्छी भूमि प्रत्येक को मिल जाती है। यहां तक लगान का सवाल नहीं उठता।

किंतु जब जन-संख्या बढ़ जाती है तब अधिक खाद्य पदार्थों की आव-श्यकता पड़ने लगती है और सारी की सारी सब से अच्छी ज़मीन खेती के काम में आने लगती है और उस पर किसी न किसी का क़ब्ज़ा हो जाता है. किंतु इस ज़मीन से जब क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के कारण इतनी मात्रा में खाद्य पदार्थ नहीं उत्पन्न हो सकते कि सब की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके तो उस से कम अच्छी, यानी दूसरे दर्जे की ज़मीन का कुछ हिस्सा काम में लाया जाने लगता है। पहले और दूसरे दर्जे की ज़मीन की उत्पत्ति में फ़र्क़ रहता है। प्रथम श्रेणी के एक बीघे में श्रम और पूंजी की एक मात्रा लगाने से यदि दस मन अनाज पैदा होता है तो दूसरे दर्जे की ज़मीन से सात ही मन अनाज पैदा होगा। अब पहले दर्जे की ज़मीन के उपयोग में लाने के लिए लगान देना पड़ेगा, और वह लगान दोनों तरह की ज़मीनों की उपज का अंतर होगा, यानी पहले दर्जे की जमीन के प्रत्येक बीघे के लिए

लगान कैसे, कितना ?

अब तीन मन (१० – ७ = ३) अनाज लगान के रूप में देना पड़ेगा। क्योंकि दोनों में बराबर-बराबर श्रम और पूँजी लगाने पर पहले दर्जे की ज़मीन के एक बीघे से १० मन उत्पन्न होता है और दूसरे दर्जे की ज़मीन से केवल ७ मन। दोनों उपजों का अंतर ३ मन हुआ। यही तीन मन अब पहले दर्जे की ज़मीन के प्रति बीघे का लगान होगा। दूसरे दर्जे की ज़मीन का लगान न देना पड़ेगा, क्योंकि उस पर जो श्रम और पूँजी लगाई जाती है, उपज ठीक उसी के बराबर होती है, अस्तु लगान देने की गुंजाइश नहीं रहती। ऐसी स्थिति में दूसरे दर्जे की ज़मीन सीमांत ज़मीन कहलाती है।

लगान क्यों, और कैसे बढ़ता है?

समय बीतने पर जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे खाद्य पदार्थों की माँग बढ़ती जाती है और एक समय ऐसा आता है कि दूसरे दर्जे की सारी ज़मीन काम में लाई जाने पर भी खाद्य पदार्थों की कमी बनी रहती है। अस्तु उसे पूरा करने के लिए उस से भी नीचे दर्जे की यानी तीसरे दर्जे की जमीन काम में लाई जाने लगती है। तीसरे दर्जे की ज़मीन की उपज दूसरे दर्जे की ज़मीन की उपज से कम होती है, यानी बराबर बराबर श्रम और पूंजी लगने पर तीसरे दर्जे की ज़मीन के एक बीघे से केवल ५ मन उत्पत्ति होती है। अब दूसरे दर्जे की ज़मीन पर भी लगान देना पड़ता है और वह दोनों (तीसरे और दूसरे) दर्जों की ज़मीनों की उपज का अंतर (७—५ = २) होता है। अब दूसरे दर्जे की ज़मीन के प्रति बीघे के लिए २ मन लगान देना पड़ता है; क्योंकि तीसरे दर्जे की ज़मीन से, दूसरे दर्जे की ज़मीन में २ मन अधिक उत्पन्न होता है। साथ ही पहले दर्जे की ज़मीन का लगान बढ़ जाता है और वह तीसरे दर्जे और पहले दर्जे की ज़मीनों की उपजों के अंतर के बराबर होता है, यानी १०—५ = ५ मन। अस्तु पहले दर्जे की ज़मीन के प्रति बीघे के लिए अब ५ मन लगान देना पड़ता है। तीसरे दर्जे की ज़मीन के लिए कुछ भी लगान नहीं देना पड़ता, क्योंकि वह सीमांत ज़मीन होती है। खेती की उपज की सीमा

घटती जाती है।

इसी प्रकार जन-संख्या के बढ़ने पर खेती की उपज की सीमा घटती जाती है और क्रमशः नीचे दर्जे की ज़मीन काम में लाई जाती है और लगान की दर उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ती जाती है।

अच्छी ज़मीन के अर्थ

इस क्रम में सब से अच्छी ज़मीन से मतलब उस ज़मीन से है जो न केवल उपजाऊपन में बल्कि अन्य सभी बातों में सब से अच्छी ठहरे। यदि कोई ज़मीन उपजाऊ तो बहुत हो पर वह ऐसी जगह पर हो जहां जाना-आना कठिन हो ; या जहां से बाज़ार-बस्ती दूर हो; या जहां जंगली जानवरों, चोरों, लुटेरों आदि का सदा भय लगा रहे ; या जहां स्वास्थ्य खराब हो जाता हो, तो वह ज़मीन पहले न जोती जायगी, क्योंकि उपज ज़्यादा होने पर भी अन्य कारणों से खेती करनेवाला उस उपज से पूरा लाभ न उठा सकेगा और सब बातों को मिलाने पर अंत में उपज कम ही ठहरेगी। इसी कारण कम उपजाऊ होने पर भी वह ज़मीन खेती के काम में लाई जायगी, जहां आसानी से आना-जाना हो सकता है, जहां जानवरों, चोरों, लुटेरों का भय नहीं है, और जो स्वास्थ्यकर है, क्योंकि सब बातों का विचार करने पर इस भूमि की उपज सब से अधिक होगी। अस्तु सब से अच्छी ज़मीन से मतलब है उस ज़मीन से जिस के उपजाऊपन, स्थान तथा अन्य सब सुविधाओं को देखते हुए मनुष्य को सब से अधिक लाभ होता हो।

उपजाऊपन, स्थान आदि के ख़याल से एक देश की ज़मीन के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न दर्जे के होते हैं। सब बातों का ख़याल करने पर जो ज़मीन सब से अच्छी होती है, वही सब से पहले खेती के काम में लाई जाती है। जब सब से अच्छी ज़मीन के सभी भाग या टुकड़े खेती के काम में आ जाते हैं, और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के कारण, इतने पर भी खाद्य सामग्री की माँग पूरी नहीं हो पाती तो, बाद में उस से कम अच्छी यानी सब बातों का विचार करते हुए जो ज़मीन उस से दूसरे दर्जे की होती

है, वह खेती के काम में लाई जाने लगती है। इस प्रकार नई ज़मीन जोतने-बोने के काम में लाई जाने लगती है और साथ ही पहले की ज़मीन पर भी और अधिक अच्छे तरीक़ों पर तथा अधिक गहराई के साथ खेती की जाने लगती है। इस प्रकार एक साथ दो बातें होती हैं। पहली बात तो यह कि पहले जितनी ज़मीन खेती के काम में आती थी उस से अधिक परिणाम में अब खेती के काम में लाई जाती है। इसे खेती की बाहरी सीमा कहते हैं। बाहरी सीमा से खेती की ज़मीन का विस्तार बढ़ जाता है। पहले जो सीमांत उपज थी उस के मुक़ाबले में अब जो सीमांत उपज होती है वह कम होती है। यदि पहले सीमांत उपज १० मन फ़ी बीघे थी तो दूसरी बार सात मन, और तीसरी बार पाँच मन सीमांत उपज रह जाती है। इस प्रकार विस्तृत सीमांत उपज गिर जाती है। दूसरी बात यह होती है कि पहलेवाले खेतों में, पूर्व समय में प्रति बीघा जितनी लागत की मात्राएं लगाई जाती थीं उस से अब ज़्यादा मात्राएं लगाई जाती हैं। यानी यदि पहले एक नंबर के खेत में १० मात्राएं लागत ख़र्च की लगाई जाती थीं तो बाद में १५ मात्राएं लगाई जायँगी। इसे खेती की अंदरूनी सीमा का विस्तार कहते हैं।

किंतु पहले के मुक़ाबले में अंदरूनी सीमांत उपज भी घटेगी। एक खेत में जैसे-जैसे और अधिक इकाइयां (श्रम-पूँजी की) लगाई जायँगी, वैसे ही वैसे क्रमशः आगे लगाई जाने वाली (श्रम-पूँजी की) इकाइयों के फल-स्वरूप प्राप्त होनेवाली प्रति बीघे उपज क्रमशः कम होती जायगी। पहले यदि प्रति बीघे प्रति इकाई १० मन होती थी तो अब दूसरी इकाई के कारण प्रति बीघे सात मन, और तीसरी इकाई के कारण पाँच मन ही उत्पन्न होगा।

जन संख्या के बढ़ने और इस कारण खाद्य पदार्थों की माँग बढ़ने से खेती की बाहरी सीमा भी बढ़ती है (यानी और अधिक नई भूमि खेती के लिए काम में लाई जाती है), और साथ ही खेतों की अंदरूनी सीमा भी

बढ़ती है (अर्थात् पहले के खेतों में और अधिक गहराई से खेती की जाती है, प्रति बीघे पहले से और अधिक श्रम-पूँजी की इकाइयां लगाई जाती हैं) । दोनों ही दशाओं में क्रमशः सीमांत उपज कम होती जाती है ।

सीमांत भूमि पर लगान क्यों नहीं ?

नीचे दर्जे की ख़राब ज़मीन पर यानी विस्तृत सीमा पर की भूमि पर जो लागत-ख़र्च लगता है, उस भूमि की उपज से केवल वही पूरा हो सकता है, यानी उस से जो उपज होती है वह इतनी नहीं होती कि लागत-ख़र्च से अधिक कुछ बचत हो, केवल लागत-ख़र्च निकलता है । अच्छी ज़मीन में उसी सीमा तक लागत लगाई जाती है जब तक कि लागत निकल आवे । अंदरूनी सीमा की खेती में भी कुछ बचत नहीं होती । अस्तु दोनों सीमाओं पर की खेती से जो उपज होती है उस में से लागत मात्र निकलती है, लगान देने को कुछ भी नहीं बचता । सीमा पर की ज़मीन पर इस से लगान नहीं लगता । अच्छे दर्जे की ज़मीन पर अंदरूनी सीमा तक लगाई जाने वाली (श्रम और पूँजी की) लागत की मात्राओं से जो उपज होती है उस में से सारी मात्राओं का सम्मिलित लगान-ख़र्च निकाल देने पर जो बचता है वही उस ज़मीन का आर्थिक लगान होता है ।

उत्पत्ति का कितना परिमाण उत्पन्न किया जाय और किस हद तक सीमांत खेती ले जाई जाय ये दोनों बातें माँग और पूर्ति की साधारण स्थिति द्वारा निश्चित की जाती हैं । ये दोनों बातें एक ओर तो माँग द्वारा यानी जन-संख्या, उस की खाद्य सामग्री-संबंधी आवश्यकताओं और उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दाम देकर पदार्थ ख़रीद कर सकने की शक्ति और इच्छा आदि के द्वारा निश्चित की जाती है; और दूसरी ओर पूर्ति द्वारा, यानी कृषि-योग्य भूमि के विस्तार और उपजाऊपन, और उन मनुष्यों की जो खेती करना चाहते हैं, तादाद और द्रव्य-शक्ति द्वारा निश्चित की जाती है । इस प्रकार उपज का लागत-ख़र्च, माँग का ज़ोर, सीमांत उत्पत्ति और उत्पत्ति का दाम आपस में एक-दूसरे पर प्रभाव

डालते और एक-दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। अस्तु लगान उपज की क़ीमत का कारण नहीं होता, बल्कि क़ीमत, उपजाऊपन, सीमांत खेती की स्थिति आदि मिल कर लगान के कारण होते हैं। इस का सविस्तर विवेचन आगे दिया गया है।

क्रमागत-ह्रास नियम और लगान

यदि क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू न होता तो किसी भी ज़मीन का लगान न होता, क्योंकि फिर तो सब से अच्छी ज़मीन के एक भाग ही से जितनी ज़रूरत होती उपज कर ली जाती। किंतु इस नियम के कारण एक सीमा के बाद भूमि के एक भाग पर लगाई जानेवाली पूँजी और श्रम की प्रत्येक इकाई (मात्रा) के बदले में जो उपज की मात्रा प्राप्त होती है वह क्रमशः लागत से कम होती जाती है। इस से अच्छी से अच्छी ज़मीन के एक भाग में उस सीमा के बाद श्रम और पूँजी की और अधिक इकाइयों की मात्रा लगाने के बजाय किसान दूसरे दर्जे की ज़मीन को काम में लाने लगता है। जब यह दूसरे दर्जे की ज़मीन काम में आने लगती है तो उस से अच्छे दर्जे की ज़मीन पर लगान देना पड़ता है। अस्तु ज़मीनों के दर्जों में भिन्नता होने के कारण लगान देना पड़ता है। पर यदि ज़मीन के विभिन्न भागों में यह भिन्नता न होती और कुल भाग एक ही तरह के होते तो भी क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने के कारण एक ही भाग में श्रम और पूँजी की इकाइयों की कुल मात्राओं के लगाने से क्रमशः जो उपज प्राप्त होती वह बराबर नहीं होती, क्योंकि सीमांत मात्रा के लगाने पर जो उपज होगी वह केवल लगान के बराबर होगी। उस से कुछ भी न बच सकेगा। इस सीमांत मात्रा के पहलेवाली सभी मात्राओं की उपज लागत से अधिक होती है। अस्तु सीमांत लागत-मात्रा के पूर्व की सभी लागत-मात्राओं की कुल उपज कुल लागत से अधिक होती है। इन दोनों का अंतर ही यथार्थ में आर्थिक लगान है।

भूमि के उपयोग के लिए जो उजरत (या क़ीमत) दी जाती है उसी

क़ीमत की तरह ही लगान का प्रादुर्भाव होता है

को लगान (या भाड़ा) कहते हैं। और इस कारण किसी अन्य उजरत या क़ीमत की तरह ही माँग और पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा ही लगान का निर्णय और उस की व्याख्या होना ज़रूरी है। किसी देश की ज़मीन का लगान, उस ज़मीन के निमित्त होनेवाली माँग और उस की पूर्ति की मात्रा पर निर्भर रहती है। ज़मीन की माँग उस पर उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की माँग पर निर्भर रहती है। और इन वस्तुओं की माँग उस समय की जन-संख्या और उस की विभिन्न आवश्यकताओं पर निर्भर रहती है। भूमि की उपज की मात्रा और सीमांत उपज के द्वारा भूमि की माँग का; और भूमि के विस्तार और उर्वरता के द्वारा उस की पूर्ति का निर्णय होता है। इन्हीं के द्वारा भूमि के लगान का निर्णय किया जाता है। इस प्रकार भूमि के लगान का निर्णय माँग और पूर्ति के सिद्धांत के द्वारा किया जाता है। यह निर्णय उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार किसी भी वस्तु के मूल्य का निर्णय मूल्य के सिद्धांत द्वारा किया जाता है।

भूमि के संबंध में त्याग या लागत-ख़र्च नहीं होता

जब कोई एक आदमी किसी काम में लगाया जाता है तो उसे कुछ कष्ट होता है। उस कष्ट को सहन करने के लिए उसे मज़दूरी देनी पड़ती है। यदि काम के लिए उसे उजरत न दी जाय तो वह उस काम को करने का कष्ट न उठायेगा। पूँजी को बचा कर जोड़ने में कुछ न कुछ त्याग, संयम, प्रतीक्षा करनी पड़ती है तात्कालीन संतोष को छोड़ना पड़ता है। इसी पूँजी के उपयोग के लिए सूद देना पड़ता है। यदि मज़दूर को काम के लिए मज़दूरी और पूँजी के उपयोग के लिए सूद न दिया जाय तो न मज़दूर काम करने को राज़ी होगा और न पूँजीपति पूँजी देने को तैयार होगा। यदि काम के लिए उजरत न दी जाय तो जनसंख्या कम हो जायगी, क्योंकि उजरत न मिलने के कारण मज़दूर अपना भरण-पोषण न कर सकेंगे। मज़दूरों को बनाए रखने के लिए भरण-पोषण का

व्यय पूरा करना ज़रूरी है।

किंतु भूमि प्रकृति की देन है। उस पर न तो कुछ उत्पादन-व्यय ही पड़ता है और न उसे उपयोग में आने के कारण उस तरह का कष्ट ही होता है जैसा कि श्रमी को होता है। कारण कि वह (भूमि) निर्जीव होती है। उसे बनाए रखने में भी श्रमी की तरह भरण-पोषण का व्यय नहीं उठाना पड़ता। इस कारण यदि भूमि के लिए लगान न दिया जाय तो भी उस के परिमाण में कमी न आएगी।

एक ख़ास स्थान पर या ज़मीन का मौक़े पर का होना भी लगान का कारण होता है। मान लो कि सब ज़मीनें एक समान ही उपजाऊ हैं। किंतु उन में से कुछ तो मंडी के पास स्थित हैं, और कुछ मंडी से दूर। प्रत्येक प्रकार की ज़मीन के एक बीघे से दस मन गेहूं पैदा होता है। मान लो कि गेहूं का भाव तीन रुपया मन है और इस भाव पर जो श्रम और पूँजी प्रति बीघे लगाई जाती है ठीक उतनी ही उपज होती है, इस भाव पर जो ज़मीनें मंडी से दूर स्थित हैं उन पर खेती करने से पड़ता नहीं पड़ता, क्योंकि प्रति बीघे जितनी लागत लगानी पड़ती है, उपज ठीक उतने ही दामों पर बिकती है। किंतु मंडी से दूर होने के कारण मंडी तक उन दूर की ज़मीनों से गेहूं ले जाने में जो ढुलाई का ख़र्च बैठता है वह नहीं निकलता, मंडी के नज़दीकवाली ज़मीनों को ढुलाई का यह ख़र्च देना नहीं पड़ता। इस कारण दूर की ज़मीनों पर खेती नहीं की जायगी। अब दूर की ज़मीनों से जो उपज होती थी उतनी मात्रा में गेहूं मंडी में कम पड़ेंगे। और चूँकि माँग पूर्ववत् ही रहती है इस कारण ख़रीदारों में प्रतिद्वंद्विता होगी। इस कारण गेहूं मँहगा हो जायगा। दाम इतने बढ़ जायँगे कि दूरवाली ज़मीनों से गेहूं से आने में जो ढुलाइ का ख़र्च पड़ता है वह पूरा हो जाय। ऐसी दशा में बढ़े हुए दामों के कारण मंडी के नज़दीकवाली ज़मीनों की उपज लागत-ख़र्च से कुछ अधिक होगी। और इस प्रकार उपज और लागत-

मौक़े या स्थान के कारण लगान

ख़र्च का जो अंतर होगा वह लगान के रूप में नज़दीकवाली ज़मीनों के मालिक को दिया जायगा। इस प्रकार एक ख़ास स्थान पर या ज़मीन के मौक़े पर की होने के कारण लगान देना पड़ेगा। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उर्वरता अथवा स्थान (या दोनों) की विशेषता के कारण भूमि के विभिन्न भागों के लिए लगान (या किराया) देना पड़ता है।

मकान की भूमि का लगान (किराया)

जिस भू-भाग पर मकान बनाए जाते हैं उस के उर्वरतावाले गुण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। मकानवाले भू-भाग को ख़ास मौक़े पर होना चाहिए। इसी गुण के लिए भूमि का किराया दिया जाता है। जो भू-भाग जितने ही अधिक मौक़े पर होगा, उस का लगान (किराया) उतना ही अधिक दिया जायगा। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न दृष्टि से स्थान अधिक या कम उपयुक्त ठहरते हैं। रहने के विचार से कोई एक स्थान अधिक मौक़े पर समझा जायगा और व्यापार या कारख़ाने के लिए कोई दूसरा ही स्थान। जिस मोहल्ले में किसी ख़ास जाति, संप्रदाय, पेशे आदि के मनुष्य रहते हैं, उसी स्थान पर उसी जाति, संप्रदाय, पेशे आदि के अन्य मनुष्य रहना अधिक पसंद करते हैं। इसी प्रकार कारख़ानों, दूकानों आदि के लिए भी वह स्थान अधिक उपयुक्त समझा जाता है, जहां उसी वस्तु के या उसी तरह के कारख़ाने, दूकानें आदि चालू रहती हैं। किराए के निर्णय में इन सब बातों का प्रभाव पड़ता है।

अन्य वस्तुओं, सेवाओं, साधनों, आदि की तरह ही मकान की भूमि का लगान (या भाड़ा) भी माँग और पूर्ति के नियम के द्वारा निश्चित किया जाता है। जब किसी एक भू-भाग के विभिन्न टुकड़ों की माँग मकान बनाने के लिए ज़्यादा होगी, तब उस का लगान (या भाड़ा) भी अधिक होगा। माँग, आवश्यकता, लागत-ख़र्च आदि के अनुसार मकान एक, दो या अधिक मंज़िल के बनवाए जाते हैं। मकान जिस भूभाग पर बनाए जाते हैं, यदि वह महँगा पड़ता है तो मकान कई तल्ले (मंज़िल) के बनवाए

जाते हैं। मकान के बनवाए जाने में भी क्रमागत-ह्रास नियम लागू होता है। जैसे मकान की मंज़िलें बढ़ती जाती हैं। वैसे ही वैसे लागत-ख़र्च बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे श्रम-पूजी की अधिकाधिक इकाइयां लगती जाती हैं वैसे ही वैसे उस मंज़िल से प्राप्त होनेवाली आय की रक़म ख़र्च के अनुपात में कम होती है। और अंत में एक ऐसा समय आता है जब अंतिम मंज़िल पर होनेवाला व्यय ठीक उतना ही होता है जितनी आय उस मंज़िल के किराए से होती है। यही मंज़िल सीमांत मंज़िल होती है। इस के आगे उस मकान पर और अधिक मंज़िल नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि वैसा करने से हानि होगी।

खान का लगान

यदि खान के मौक़े के स्थान पर होने और उस में से निकलनेवाले खनिज पदार्थ की बहुलता (खान की उर्वरता) पर उन के लगान निर्भर रहते हैं। जो खान बाज़ार और बस्ती से दूर होगी, अथवा जिस में खनिज पदार्थ की मात्रा कम होगी उस का लगान कम होगा। पर खान की ज़मीन के लगान में एक ख़ास बात शामिल रहती है। खान से खनिज पदार्थ निकाल लेने पर वह सदा के लिए बेकार हो जाती हैं, फिर उस से कोई लाभ नहीं होता। इस के बदले में मुआवज़ा देना पड़ता है। यह मुआवज़ा वाली रक़म खान के लगान में शामिल रहती है।

भूमि की आय-बिना श्रम की आय

भूमि की आय के संबंध में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है—उस का बिना श्रम की आय होना। देश में जनसंख्या के बढ़ने, धन-संपत्ति में वृद्धि होने और आवागमन के साधनों में सुधार और वृद्धि होने तथा अन्य प्रांतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बढ़ने से अनायास की माँग बढ़ जाती है और उस से होने वाली आय भी बढ़ जाती है। आय की इस वृद्धि के लिए भू-स्वामी को अपनी ओर से कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सामाजिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक कारणों से स्वतः इस आय में वृद्धि हो

जाती है। इस प्रकार भूमि की आय में जो वृद्धि होती है उसी को भूमि की बिना श्रम की आय कहते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि जनसंख्या के बढ़ने से जब किसी क़स्बे में अधिक मकानों की माँग होने लगती है तो किराया बढ़ जाता है। कभी-कभी किसी नगर के एक भाग में नई सड़क के निकल जाने से उस सड़क के किनारेवाले भू-भाग के विभिन्न टुकड़ों की माँग बढ़ जाती है, और इस कारण उस भू-भाग से होनेवाली आय में वृद्धि हो जाती है। जब किसी एक गाँव के पास से रेलवे निकल जाती है या सड़क निकालने से किसी मंडी में माल ले जाने का सुभीता हो जाता है तो आस-पासवाले खेतों से होनेवाली आय बढ़ जाती है। इसी प्रकार की वृद्धि को भूमि की बिना श्रम की आय कहते हैं। क्योंकि इस वृद्धि के लिए भू-स्वामी को ख़ुद कुछ भी नहीं करना पड़ता। अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि भूमि की बिना श्रम की आय जनता के हित के लिए सरकारी ख़ज़ाने में जानी चाहिए, न कि कुल की कुल भू-स्वामी की जेब में।

सीमांत उत्पादकता के सिद्धांत के द्वारा साधनों की उजरत का निर्णय किया जाता है। लगान का विवेचन भी सीमांत सिद्धांत द्वारा आसानी से किया जा सकता है। मान लीजिए कि भूमि के सभी भाग एक समान ही उपजाऊ हैं, और साथ ही मंडी से सब भू-भाग समान दूरी पर हैं। यानी उर्वरता और दूरी का प्रश्न थोड़ी देर के लिए नहीं उठाया जाता। यदि ऐसी स्थिति में एक किसान सौ बीघे पर खेती करता है और श्रम-पूँजी की सौ इकाइयां लगाता है तो इस से उसे उपज की एक ख़ास मात्रा प्राप्त होती है। अब मान लीजिए कि अन्य सब बातें पूर्ववत् रहती हैं पर उसे एक बीघा ज़मीन छोड़ देनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में उसे श्रम-पूँजी की १०० इकाइयों को ९९ बीघे ज़मीन में लगाना पड़ेगा। यानी एक बीघा छोड़ देने के कारण खेती और अधिक गहराई से करनी पड़ेगी। ऐसी दशा

लगान और सीमांत उत्पादकता

में क्रमागत-ह्रास-नियम लागू होगा। पहले के मुक़ाबले में कुल उपज कुछ कम हो जायगी। जितनी मात्रा में कमी होगी वही मात्रा एक बीघे भूमि की सीमांत उपज होगी। लगान इसी सीमांत उपज के बराबर होगा और प्रत्येक बीघे पर इसी हिसाब से लगान देना पड़ेगा। इस प्रकार सीमांत उत्पादकता के अनुसार भूमि के लगान का निर्णय किया जाता है।

यदि कृषि-संबंधी मशीनों, औज़ारों में सुधार हो जाय, अथवा अधिक अच्छा खाद काम में लाया जाय, और इन कारणों से प्रति बीघा भूमि की उपज बढ़ जाय, तो भूमि की कुल उपज बढ़ जायगी। ऐसी दशा में यदि उपज की माँग न बढ़ी तो उपज की वृद्धि के कारण भाव गिर जायगा। दाम घट जाने से पहले के भाव पर जो सीमांत भू-भाग कृषि के कामों में लाए जाते थे उन की उपज से लगात-ख़र्च न निकलेगा, इस कारण पहले की सीमांत भूमि कृषि से निकल जायगी। लगान की दर कम हो जायगी। किंतु इस प्रकार के सुधारों का प्रभाव भूमि की विभिन्न श्रेणियों के लगानों पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ेगा।

लगान पर सुधार का प्रभाव

यदि सुधार सभी श्रेणियों पर समान-रूप से किए गए तो उत्तम श्रेणी की भूमि से निम्न श्रेणी की भूमि के मुक़ाबले में अपेक्षाकृत अधिक उपज प्राप्त होगी। ऐसी दशा में उत्तम श्रेणियों की भूमि के लगान घटने के बजाय पहले से बढ़ जाँयगे, क्योंकि निम्न श्रेणी की भूमि की उपज से उत्तम श्रेणियों की भूमि की उपज पहले से भी अधिक होगी। किंतु यदि सुधार केवल निम्न श्रेणियों की भूमि में किया गया, और निम्न श्रेणी की भूमि. उत्तम श्रेणी की भूमि के समान ही उर्वरा हो गई, तो पहले जो उत्तम श्रेणी की भूमि मानी जाती थी उस पर का लगान कम हो जायगा अथवा बिल्कुल उड़ जायगा, क्योंकि सभी तरह की ज़मीनों से बराबर उपज प्राप्त हो सकेगी।

यदि आवागमन के साधनों में सुधार हो जाय, माल ले आने ले जाने

लगान पर आवागमन के साधनों का प्रभाव

में सुगमता हो जाय और ढुलाई-भाड़ा कम हो जाय तो मंडी के पासवाले भू-भाग का लगान पहले से कम हो जायगा, क्योंकि दूर-दूर स्थानों से उपज मंडी में आने लगेगी इस कारण मंडी के पासवाले भू-भागों की विशेषता कम हो जायगी, उन की माँग घट जायगी। किंतु मंडी से दूर-वाले जिन स्थानों का माल मंडी में पहले नहीं ले जाया जा सकता था, अथवा कठिनाई से तथा अधिक ख़र्च करके ले जाया जा सकता था वह अब आसानी से और कम ख़र्च में ले जाया जाने लगेगा। इस कारण इन दूर के भू-भागों की क़दर बढ़ जायगी। इस से इन का लगान भी बढ़ जायगा। आवागमन के साधनों में सुधार होने के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ जाता है, इस कारण व्यवसाय-प्रधान देश अपनी खाद्य सामाग्री अन्य कृषि-प्रधान देशों से लेने लगते हैं। इस कारण, तीन बातें होती हैं:—(अ) व्यवसाय-प्रधान देशों की कृषि-संबंधी भूमि की माँग कम हो जाती है, फलतः वहां की उस भूमि का लगान कम जाता है जिस में खाद्य सामग्री उत्पन्न की जाती है। (आ) कृषि-प्रधान देशों में खाद्य सामग्री की माँग बढ़ जाती है। इस से खाद्य सामग्री उत्पन्न करने वाली भूमि की माँग बढ़ जाती है, फलतः उस का लगान बढ़ जाता है। (इ) व्यवसाय-प्रधान देशों में व्यवसायिक तथा अन्य कारणों से भूमि की माँग बढ़ जाती है, इस कारण आमतौर पर भूमि का लगान बढ़ जाता है।

जनसंख्या और लगान

जनसंख्या के बढ़ने पर रहने तथा खेतो के लिए भूमि की माँग बढ़ जाती है, इस कारण लगान बढ़ जाता है। जनसंख्या के बढ़ने पर खेती से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों की माँग बढ़ जाती है। पदार्थों की बढ़ी हुई माँग की पूर्ति के लिए उत्तम भूमि पर और अधिक गहराई के साथ खेती की जाती है और साथ ही वह निम्नतर श्रेणी की भूमि जो खेती के काम में नहीं लाई गई थी, अब खेती के काम में लाई जायगी। दोनों ही स्थितियों

में खेती की अंदरूनी और बाहरी सीमाएं गिर जायँगी। फलतः लगान पहले के मुक़ाबले में बढ़ जायगा। इस के साथ ही जनसंख्या के बढ़ने से रहने के लिए पहले से अधिक भूमि काम में लाई जायगी। माँग बढ़ जायगी। इस कारण लगान (भाड़ा) बढ़ जायगा। इधर खेती के लिए भूमि कम पड़ेगी। इस कारण खेतीवाली भूमि का लगान और बढ़ जायगा। इस का असर मकान बनानेवाली ज़मीन पर पड़ेगा, फलतः उस की भी दर बढ़ जायगी। इस प्रकार जनसंख्या के बढ़ने से सभी प्रकार की भूमि का लगान बढ़ जाता है।

रहन-सहन का दर्जा और लगान

जैसे-जैसे किसी समाज की संपत्ति बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उस के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। और वैसे ही वैसे कुल आय के अनुपात में खाद्य पदार्थों पर होनेवाले ख़र्च की रक़म घटती जाती है। अगर एक व्यक्ति की आय चौगुनी होने लगे तो वह अपने खाद्य पदार्थों का परिमाण चौगुना नहीं कर सकता, कारण कि खाद्य पदार्थों के उपयोग की एक हद होती है। वे विलासिता की वस्तुओं की तरह मनमाने ढंग से उपयोग में नहीं लाए जा सकते। इस कारण जैसे-जैसे संपत्ति समृद्धि बढ़ती जाती है, रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है, वैसे ही वैसे खाद्य पदार्थों का मूल्य उसी अनुपात में नहीं बढ़ता, जैसे विलासिता आदि की वस्तुओं का। इस लिए भूमि का लगान उस अनुपात में नहीं बढ़ता जितना कि अन्य वस्तुओं का मूल्य।

माँग की घट-बढ़ का भूमि के परिमाण पर प्रभाव

यदि किसी वस्तु की माँग बढ़ जाय और उस की उजरत या क़ीमत बढ़ जाय, तो उस की पूर्ति भी बढ़ जायगी। क्योंकि लोग उसे अधिक मात्रा में उत्पन्न करने लगेंगे। और यदि उस वस्तु की माँग घट जाने से उस की उजरत कम हो जाय तो लोग उसे कम उत्पन्न करेंगे। अस्तु, उस की पूर्ति की मात्रा में कमी पड़ जायगी। किंतु भूमि तो एक निश्चित-

परिमित मात्रा में है। माँग और उस के साथ उस की उजरत में घट-बढ़ होने से उस की मात्रा में कमी-बेशी नहीं हो सकती। भूमि तो जितनी है उतनी ही बनी रहेगी। भूमि की यह एक ख़ास विशेषता है। (एक बात है, किसी एक ख़ास उपयोग में आनेवाली भूमि की मात्रा में कमी-बेशी हो सकती है। यदि किसी कारण मकान बनानेवाली ज़मीन की माँग बढ़ जाय और उस की उजरत ज़्यादा मिलने लगे तो अन्य उपयोगों में लाई जानेवाली भूमि का कुछ अंश उन उपयोगों से निकाल कर मकान बनाने के काम में दे दिया जायगा। इस प्रकार भूमि की पूर्ति की मात्रा में भी घट-बढ़ हो सकती है। पर कुल भूमि के परिमाण या प्रसार में इस से कोई अंतर नहीं पड़ता।)

अर्ध-लगान या बतौर लगान

मशीन, कारख़ाना आदि उत्पादन के साकार, अचल पदार्थों की भी स्थिति अल्पकाल में ठीक भूमि ही की तरह होती है। यानी माँग और उजरत की कमी-बेशी का उन की मात्रा में साधारण समय में वैसा विशेष कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि जो मशीन, मकान एक बार बन जाते हैं उन की माँग और उजरत में कमी आने पर भी उन की मात्रा या संख्या पूर्ववत् रहती है। जल्दी उन का उत्पादन या पूर्ति नहीं की जा सकती। अधिक काल तक टिक सकनेवाले सभी पदार्थों का यही हाल है। अस्तु उन से प्राप्त होनेवाली आय लगान ही की तरह मानी जानी चाहिए। पर भूमि में और मशीन आदि में कुछ ख़ास फ़र्क़ भी है। भूमि प्रकृति की देन है। अस्तु उस का लागत-ख़र्च कुछ भी नहीं होता। पर मशीन आदि में लागत-ख़र्च होता है, क्योंकि ये पदार्थ मनुष्य के बनाए हुए होते हैं। अल्प काल में लागत ख़र्च का भले ही ख़याल न किया जाय पर दीर्घ काल में लागत-खर्च का ख़याल करके ही मशीनें आदि बनाई जाती हैं। क्योंकि यदि उन का लागत-खर्च न निकल सका तो आगे उन का बनना रुक जायगा। अस्तु, मशीन आदि से होनेवाली आय में एक अंश लागत-ख़र्च का भी रहता है। फिर

मशीन आदि ज़रूरत पड़ने पर बना कर तैयार की जा सकती हैं। पर भूमि तो उत्पन्न नहीं की जा सकती। हां, अल्प काल में मशीन आदि से जो आय होती है वह अनावश्यक और अप्रत्याशित मानी जाती है, क्योंकि एक बार मशीन आदि के बन जाने पर यह निश्चित नहीं रहता कि उस से कितनी आय हो। वह लागत-ख़र्च का ख़याल कर के बहुत अधिक भी हो सकती है और बहुत कम या नहीं के बराबर भी। इस प्रकार मशीन आदि से प्राप्त होनेवाली आय लगान के समान ही होती है।

दूसरी दृष्टि से देखने पर चूँकि मशीन आदि में पूँजी लगती है, अस्तु उन से होनेवाली आय सूद की तरह होती है। पर सूद तो छुट्टा पूँजी (द्रव्य या सिक्का) की उजरत होती है, जो द्रव्य के प्रति सैकड़े के अनुपात में बाज़ार दर देख कर तय की जाती है। पर मशीन आदि के एक बार बन जाने पर यह प्रति सैकड़े का अनुपात ठीक से नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि कभी कम किराया मिलता है कभी बहुत ज़्यादा, जो उस समय की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहता है। दूसरे छुट्टा पूँजी की तरह मशीन में लगी जमा बात की बात में एक वस्तु से दूसरी वस्तु में बदली नहीं जा सकती। अस्तु मशीन और छुट्टा पूँजी की आयों में अंतर होता है। इन्हीं सब कारणों से मशीन आदि से प्राप्त होनेवाली आय को न तो सूद कहा जा सकता और न लगान ही। इसी से उसे अर्ध-लगान लगान-रूप, या बतौर लगान (क्वासी रेंट) कहते हैं।

मनुष्यों की असाधारण योग्यता भी इसी श्रेणी में गिनी जाती है। और उस की उजरत भी अर्ध-लगान मानी जाती है, कारण कि असाधारण योग्यता भी भूमि की तरह ही प्रकृति की देन होती है।

लगान और क़ीमत में क्या संबंध है? क़ीमत से लगान का निश्चय होता है, अथवा लगान से क़ीमत तय की जाती है? ये प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। क़ीमत वह रक़म है जितने में उत्पत्ति बेची जाय। प्रतियोगिता प्रणाली

लगान और क़ीमत का संबंध

की स्थिति होने पर क़ीमत उत्पादन के लागत-ख़र्च के बराबर होती है। लागत-ख़र्च में वह सब व्यय और त्याग सम्मिलित माना जाता है जो किसी पदार्थ के उत्पन्न करने के लिए करना पड़ता है। इस कारण उत्पादक की दृष्टि से भूमि का लगान, मज़दूरों की मज़दूरी, पूँजी का सूद आदि जो भी उत्पादन-कार्य के लिए देना पड़ता है वह सभी उत्पादन के लागत-ख़र्च में शामिल रहता है और त्याग माना जाता है, किंतु उत्पादक द्वारा किए गए ये सब भुगतान जिन साधकों द्वारा पाए जाते हैं, वे उन के लिए पुरस्कार के रूप में होते हैं जो वे (साधक) अपने कामों या त्यागों के लिए पाते हैं। अस्तु जो वेतन मज़दूरी का भुगतान उत्पादक की दृष्टि में त्याग (और लागत-ख़र्च) होगा वही वेतन मज़दूर के लिए पुरस्कार होगा। प्रत्येक काम के लिए कुछ न कुछ शक्ति व्यय करनी पड़ती है, उस से कुछ हानि उठानी पड़ती है। यही त्याग होता है। उजरत से इस की पूर्ति होती है। यदि एक मज़दूर अपने काम में मेहनत करते हुए जितनी शक्ति व्यय करके हानि उठाता है, उजरत में उसे उस से कुछ ज़्यादा मिल जाता है तो वह उस की बचत आय होती है। यही उस का असली नफ़ा होता है, अन्य साधनों के संबंध में भी यही बात होती है। पर भूमि को अपने काम में कुछ भी त्याग नहीं करना पड़ता क्योंकि वह प्रकृति की देन है। अस्तु भूमि के स्वामी को भूमि की उजरत के बदले में जो लगान मिलता है वह कुल का कुल बचत होता है। इस प्रकार उत्पादक की दृष्टि में तो लगान लागत-ख़र्च (त्याग) होता है और भूमि के स्वामी की दृष्टि में बचत।

लगान का निर्णय क़ीमत के द्वारा

प्रत्येक साधन के उपयोग के लिए जो भी उजरत देनी पड़ती है उस की दर माँग और पूर्ति के नियमों के द्वारा निश्चित की जाती है। भूमि का लगान भी माँग और पूर्ति की स्थिति के अनुसार तय होता है। पर भूमि की मात्रा तो निश्चित रहती है। इस कारण उस के संबंध में पूर्ति का सवाल वैसा नहीं उठता। क्योंकि भूमि तो जितनी मात्रा में है उतनी मात्रा में

रहेगी। अस्तु उसकी उजरत का निर्णय उस की माँग द्वारा मुख्यतः किया जाता है। और भूमि की माँग के अर्थ होते हैं, उस से होनेवाली उपज की माँग से। यानी खाद्य आदि पदार्थों की माँग से। और इन पदार्थों की माँग क्या-कैसी हो यह उन पदार्थों की क़ीमत पर निर्भर रहता है, क्योंकि प्रत्येक ग्राहक वस्तु की क़ीमत समझ कर ही यह तय करता है कि वह उस की कितनी मात्रा ख़रीदे। इस प्रकार लगान का निर्णय क़ीमत द्वारा होता है, और चूँकि क़ीमत का निर्णय माँग और पूर्ति के द्वारा होता है इस कारण लगान का निर्णय भूमि (या खाद्य पदार्थों) की माँग और पूर्ति के द्वारा होता है। और भूमि की न्यूनता या परिमितता द्वारा खाद्य पदार्थों की क़ीमत का निर्णय होता है। और यही क़ीमत प्रत्येक साधन के हिस्से का निर्णय करती है। अस्तु, लगान का निर्णय क़ीमत के द्वारा होता है।

क्या लगान क़ीमत का निर्णय करता है?

किंतु एक बात विचारने योग्य है। लगान उत्पादक की दृष्टि से लागत-ख़र्च होता है और लागत-ख़र्च ही के अनुसार किसी वस्तु की क़ीमत निश्चित की जाती है। अस्तु सवाल उठता है कि क्या इस दृष्टि से लगान द्वारा क़ीमत का निर्णय नहीं किया जाता? इस का यथार्थ उत्तर है "नहीं।" क्योंकि व्यक्तिगत दृष्टि से प्रत्येक उत्पादक जो लगान देता है वह वस्तु का उत्पादन-व्यय होता है ज़रूर। किंतु किसी भी व्यक्तिगत लागत-ख़र्च द्वारा उस वस्तु की क़ीमत निश्चित नहीं की जाती। किसी वस्तु का लागत-ख़र्च केवल उस क़ीमत के बराबर होता है जो साधारण बाज़ार की स्थिति के अनुसार माँग और पूर्ति के द्वारा निश्चित की जाती है। यदि किसी उत्पादक का ख़र्च इस प्रचलित क़ीमत से ज़्यादा होगा तो उसे या तो (किसी न किसी तरह) उस प्रचलित क़ीमत के बराबर होना पड़ेगा, या उस उत्पादक को अपना उत्पादन-कार्य बंद करना पड़ेगा। क्योंकि उस का माल बाज़ार ही से बिकेगा, चाहे उस पर लागत-ख़र्च कितना ही कम

ज़्यादा क्यों न पड़ा हो। अस्तु बाज़ार में टिकने के लिए यह ज़रूरी होगा कि वह उत्पादक लगान, मज़दूरी, व्याज आदि कम करके लागत-ख़र्च इतना कम करदे कि वह बाज़ार की प्रचलित क़ीमत के बराबर आ जाय। नहीं तो उस का माल बिकेगा नही। अस्तु प्रत्येक उत्पादक को बाज़ार की प्रचलित क़ीमत के अनुसार अपने उत्पादन के लागत-ख़र्च को ठीक करते रहना पड़ता है। इस प्रकार क़ीमत ही लगान का निर्णय करती है।

कीमत पर लगान का प्रभाव नहीं

किंतु बाज़ार की प्रचलित क़ीमत का निर्णय माँग और पूर्ति द्वारा किया जाता है। और माँग और पूर्ति के नियमों के अनुसार प्रत्येक बाज़ार में आनेवाली वस्तु की एक ही क़ीमत होगी, उस का लागत-ख़र्च चाहे कुछ भी पड़ा हो और वह चाहे अच्छे दर्जे की भूमि की उपज हो अथवा ख़राब या कम अच्छे दर्जे की भूमि की। और अच्छे दर्जे की भूमि से उतने ही लागत-ख़र्च में अधिक उत्पत्ति होगी, और कम अच्छे दर्जे की ज़मीन से कम मात्रा में। प्रत्येक देश में खेती की उपज की क़ीमत उपज के सीमांत लागत-ख़र्च के बराबर होती है। क्योंकि यदि क़ीमत इस से कम होगी तो सीमांत ज़मीन पर खेती न हो सकेगी, और फिर बाज़ार में उतनी उपज की मात्रा (जो सीमांत भूमि पर होती है) कम हो जायगी। अस्तु कुल उपज की मात्रा में कमी पड़ जायगी। चूँकि माँग पहले की तरह ही क़ायम है। इस कारण ग्राहकों में होड़ होगी और क़ीमत बढ़ जायगी। अस्तु फिर सीमांत ज़मीन पर खेती की जाने लगेगी क्योंकि क़ीमत बढ़ जाने से उस की लागत-मात्र निकल आएगी। अब चूँकि सीमांत भूमि पर लगान नहीं देना पड़ता है, इस कारण क़ीमत पर लगान का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। उपज की माँग में वृद्धि होने के कारण उपज की क़ीमत बढ़ जाती है, और इस से कम अच्छी ज़मीन पर खेती करने में भी लाभ रहता है। इस से अच्छी ज़मीन का लगान बढ़ जाता है। इस प्रकार क़ीमत में वृद्धि होने के कारण ही लगान में वृद्धि होती जाती है।

आमतौर पर सीमांत उत्पादन के लागत-ख़र्च में लगान शामिल नहीं रहता, इस कारण लगान क़ीमत में भी शामिल नहीं रहता। किंतु जिन दशाओं में लगान सीमांत उत्पादन के लागत-ख़र्च में शामिल रहता है, उन दशाओं में लगान क़ीमत में भी शामिल रहता है। यह तभी संभव होता है जब किसी देश की सारी की सारी भूमि पर किसी का एकाधिकार हो जाता है और उस का स्वामी सीमांत भूमि के लिए भी लगान लेता है। ऐसा होने पर सीमांत भूमि की उपज के लागत-ख़र्च में लगान शामिल हो जाता है। इस कारण क़ीमत के निर्णय में लगान का भी प्रभाव पड़ता है। क्योंकि क़ीमत का बहुत कुछ विचार लागत-ख़र्च को सामने रख कर किया जाता है, इस प्रकार लगान शामिल रहता है। किंतु अर्थशास्त्र की दृष्टि में ऐसी परिस्थिति असाधारण मानी जाती है। आमतौर पर सीमांत भूमि की उपज के लागत-ख़र्च में लगान शामिल नहीं माना जाता। क्योंकि सीमांत भूमि पर लगान नहीं रहता।

कब लगान क़ीमत में शामिल है?

अध्याय ४१

सूद

पूँजी के उपयोग के लिए जो उजरत दी जाती है उसे सूद कहते हैं।

सूद और उस का महत्व

वर्तमान युग में सूद का प्रश्न बहुत पेचीदा और महत्वपूर्ण हो गया है। यदि भूमि और श्रम न हों तो उत्पादन हो ही नहीं सकता। उत्पत्ति के साधनों में पूँजी ही एक ऐसा साधन है जिस के बिना भी उत्पत्ति हो सकती है। किंतु वर्तमान समय में अनेक कारणों से पूँजी अन्य सभी साधनों से अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। जिस उत्पादन में जितनी ही अधिक पूँजी लगाई जा सकती है, वह उतना ही अधिक अच्छा और सस्ता हो सकता है। वर्तमान युग का उत्पादन अधिकांश में पूँजी पर निर्भर रहता है। व्यापार-व्यवसाय की तेज़ी-मंदी, व्यक्ति, समाज और संसार की समृद्धि-दरिद्रता, सुख-दुःख उन्नति-अवनति बहुत अंशों में पूँजी और उस के उपयोग पर निर्भर रहती है।

प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों और धर्मों में सूद लेना बहुत ही निंदनीय ठहराया गया है। इस का कारण है। उस समय अभाव के कारण घोर विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति भरण-पोषण और जीवन-रक्षा के लिए ऋण लेते थे, ऐसी दशा में ब्याज लेना उचित नहीं समझा जा सकता। किंतु जो ऋण व्यापार-व्यवसाय के द्वारा लाभ उठाने के अभिप्राय से लिया जाता है उस के लिए सूद लेना उचित ही नहीं आवश्यक भी हो गया है।

किसी ऋण के लिए आमतौर पर जो सूद लिया-दिया जाता है, उस

असली सूद और कुल सूद

में असली सूद के अलावा और भी अन्य भुगतानों की रक़में शामिल रहती हैं। इस प्रकार का सूद कुल-सूद कहलाता है। कुल-सूद में (१) असली सूद;

(२) जोखिम के लिए बीमे की रक़म, (३) ऋण देनेवाले को जो कष्ट, जो असुविधाएं होती हैं उन के मुआवज़े की रक़म, (४) ऋण-संबंधी कार्य के निमित्त प्रबंध की उजरत शामिल रहती हैं। जोखिम के दो प्रकार हैं—एक तो व्यापारिक जोखिम, दूसरे वैयक्तिक जोखिम। उत्पादन के समय अथवा उस के बाद प्रायः उत्पन्न वस्तुओं की माँग घट जाती है, कच्चे माल के दाम कम हो जाते हैं, सुधारों, आविष्कारों आदि के कारण उत्पादन सस्ता हो जाता है, और इस कारण उस वस्तु के दाम कम हो जाते है। इस प्रकार के परिवर्तनों से उधार दिए हुए मूल धन के मिलने में जो बाधाएं पड़ती हैं वे सब व्यापारिक जोखिम के अंतर्गत आ जाती हैं। जब कोई क़र्ज़दार बेईमानी के विचार से या ऋण चुका सकने में असमर्थ होने के कारण उधार लिया हुआ रुपया नहीं लौटाता, तब जिस जोखिम का भार सहना पड़ता है वह वैयक्तिक जोखिम है। इन जोखिमों की पूर्ति के लिए ऋण-दाता को असली सूद से कुछ अधिक रक़म मिलनी चाहिए। जब किसी ऋण में जोखिम का भय लगा रहता है, तब ऋण-दाता को उन जोखिमों को कम करने या दूर करने में बड़ी तरद्दुद उठानी पड़ती है, बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। इस के अलावा कभी-कभी ऋण लेनेवाला ऐसे समय में ऋण की रक़म लौटा लेता है जब उस का फिर से किसी लाभ के कार्य में लगाना कठिन या असंभव होता है। इन सब बातों से ऋण-दाता को अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। इस के लिए भी असली सूद के अलावा कुछ उजरत ज़रूरी होती है। और इस प्रकार की असुविधाएं जितनी ही ज़्यादा होंगी कुल सूद की दर उतनी ही ज़्यादा होगी। इन सब बातों के अलावा ऋण-दाता को ऋण तथा उस से संबंध रखनेवाली बातों का हिसाब रखना पड़ता है, और प्रबंध करना पड़ता है। इन सब कामों के लिए भी उजरत दी जानी चाहिए। इस प्रकार कुल सूद में, असली सूद के अलावा, अन्य अनेक प्रकार के भुगतानों की रक़में शामिल रहती हैं। कुल सूद की दर

बहुत अधिक होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर असली सूद की दर कम ठहरेगी। प्रायः एक देश में, एक ख़ास समय में, प्रतियोगिता के कारण असली सूद की दर के एक ही होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किंतु अन्य भुगतानों की रक़मों के भिन्न होने के कारण कुल सूद की दरें भिन्न-भिन्न पाई जाती हैं।

सूद की विभिन्न दरें

किसी व्यवसाय में अधिक जोखिम रहती है, और किसी में कम। जिस में अधिक जोखिम होती है उस के लिए बीमे की रक़म अधिक देनी पड़ती है। इस कारण जिस व्यवसाय में अधिक जोखिम होगी उस में ऋण के लिए कुल सूद की दर अधिक होगी। इसी प्रकार विभिन्न ऋणों के संबंध में असुविधाओं में तथा प्रबंध-कार्य में भिन्नता होती है। जिस ऋण में अधिक असुविधाएं होंगी उस में अपेक्षाकृत कुल सूद की दर अधिक होगी। क्योंकि ज़्यादा असुविधाओं के लिए ज़्यादा उजरत देनी पड़ेगी। इसी प्रकार जिस ऋण-कार्य में प्रबंध जितना ही अधिक करना पड़ेगा उस में प्रबंध-कार्य की उजरत के अधिक होने से उतना ही अधिक कुल सूद की दर होगी। इस प्रकार असली सूद की दर एक-सी रहने पर भी बीमे की रक़म, असुविधा तथा प्रबंध की उजरतों के कम ज़्यादा होने से कुल सूद की दरें भिन्न-भिन्न होती हैं। असली सूद की दर एक समय में, एक देश में, इस कारण प्रायः एक ही होगी कि यदि एक स्थान या व्यवसाय में असली दर ज़्यादा होगी और दूसरे में कम तो जिस व्यवसाय में सूद की दर कम होगी उस में से लोग पूँजी निकाल कर उस व्यवसाय में लगावेंगे जिस में सूद की दर ज़्यादा होगी। इस कारण जिस में दर कम होगी उस व्यवसाय में पूँजी कम पड़ने लगेगी। इधर जिस व्यवसाय में सूद की दर ज़्यादा होगी उस में पूँजी ज़्यादा लगने लगेगी। अन्य सब बातों के पूर्ववत् रहने पर फलतः जिस में से पूँजी निकलने लगेगी उस में दर बढ़ने लगेगी और जिस में पूँजी ज़्यादा लगने लगेगी उस में दर गिरेगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति

के सिद्धांत के अनुसार यह क्रम तब तक जारी रहेगा, जब तक दोनों व्यवसायों में सूद की दर बराबर न हो जायँगी। विभिन्न स्थानों और देशों के संबंध में भी यही नियम लागू होगा।

विभिन्न देशों में पूँजी के संचय और उस की माँग के अनुसार भी असली सूद की दर में विभिन्नता होती है। जिस प्राचीन देश में शताब्दियों से धन का संचय होता रहता है, उस में आमतौर पर असली सूद की दर अपेक्षाकृत कम रहती है। जिस नवीन देश में व्यवसाय-व्यापार तेज़ी से बढ़ते रहते हैं, औद्योगिक प्रसार होता रहता है, उस में पूँजी की माँग अधिक होती है, इस कारण उस में असली सूद की दर ऊँची रहती है। जिस देश में जितना ही अधिक जोखिम रक़म के वापस मिलने में रहता है, उस में सूद की दर अपेक्षाकृत ऊँची रहती है। प्रायः लोग अपने देश में पूँजी लगाना अधिक सुरक्षित समझते हैं, इस कारण विदेशों में पूँजी लगाने के लिए उन्हें कुछ अधिक सूद की दरकार होती है। इन सब कारणों से विभिन्न देशों में सूद की दर भिन्न-भिन्न रहती है।

करेंसी का भी सूद से घनिष्ट संबंध है। यदि द्रव्य (रुपया-पैसा) अधिक मात्रा में हो तो सूद की दर कम होगी और यदि द्रव्य की मात्रा कम होगी तो सूद की दर ऊँची हो जायगी।

व्यापारिक तेज़ी-मंदी और सूद

आमतौर पर जब सूद की दर कम होती है तो ऋण अधिक लिया जाता है, किंतु ऋण देनेवाले कम ऋण देना चाहते हैं। और जब सूद की दर ज़्यादा होती है तो ऋण लेनेवाले कम लेना चाहते हैं, पर ऋण देनेवाले अधिक ऋण देने को तैयार रहते हैं। परंतु जब व्यावसायिक मंदी का समय आता है तब सूद की दर कम होने पर भी ऋण लेनेवाले रुपया कम लेना चाहते हैं, या ऋण लेना ही नहीं चाहते, क्योंकि उन्हें किसी व्यवसाय में नया रुपया लगाने से फ़ायदा नहीं देख पड़ता; उलटे ही नुक़सान का भय लगा रहता है। परंतु पूँजी या धन जमा करनेवालों के पास धन इकट्ठा होता

रहता है और वे उसे किसी न किसी काम में लगवाने की कोशिश में रहते हैं। इस से सूद की दर और भी ज़्यादा गिर जाती है। इतने पर भी ऋण लेने के लिए कोई तैयार नहीं होता। इस के विपरीत जब व्यापार-व्यवसाय ज़ोरों से चलता रहता है तब सूद की दर ऊँची होने पर भी लोग अधिकाधिक ऋण लेकर व्यवसाय-व्यापार में लगाते हैं। इस से सूद की दर और भी ऊँची हो जाती है। पर ऋण और भी अधिक लिया जाता है।

द्रव्य की क्रय-शक्ति और सूद

रुपए-पैसे यानी द्रव्य की क्रय-शक्ति का भी सूद की दर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि पाँच रुपए सैकड़े के हिसाब से कोई ऋण दे तो उसे बाद में कुल मिला कर १०५) रुपए मिलेंगे। अब यदि द्रव्य की क्रय-शक्ति घट कर आधी रह जाय, यानी जिस समय रुपया दिया गया था उस समय पाँच रुपया मन चावल मिलता हो तो जो १००) ऋण दिया गया उस का वस्तुओं में मूल्य था २० मन चावल। और देनेवाले को आशा थी कि उसे १०५ रुपया (यानी २१ मन चावल) वापस मिलेंगे। किंतु इसी बीच में रुपए का मूल्य आधा रह गया। अस्तु देखने में तो ऋण देनेवाले को मूल-धन के रूप में मिले सौ रुपए और पाँच रुपए व्याज के रूप में, यानी कुल मिला कर उसे १०५) मिले। किंतु वस्तुओं के रूप में उसे केवल १०½ मन चावल ही मिले। और चूँकि रुपए (द्रव्य) का काम वस्तुओं को प्राप्त कराना है, इस कारण ऋण देनेवाले को रुपए के रूप में ठीक रक़म मिलने पर भी यथार्थ में वस्तुओं के रूप में हानि उठानी पड़ी। इस के विपरीत जब द्रव्य का मूल्य बढ़ जाता है, तब ऋण देनेवाले को उतने ही द्रव्य में अधिक वस्तुएं मिलने से यथार्थ में लाभ होता है, किंतु ऋण लेनेवाले को हानि होती है।

सूद क्यों?

सूद इस लिए दिया जाता है कि ऋण लेनेवाले को उस के उपयोग से लाभ होता है, संतोष और तृप्ति प्राप्त होती है। अस्तु उस के बदले में वह कुछ पुरस्कार देता है। सूद इस

लिए माँगा जाता है कि द्रव्य के बचाने, संचय करने और उधार देने में कष्ट होता है, संतोष और तृप्ति का त्याग करना पड़ता है वर्तमान उपयोग और उपभोग को भविष्य के लिए टालना पड़ता है, प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अस्तु इन सब के बदले में कुछ पुरस्कार चाहिए ही। यदि कुछ पुरस्कार न मिला तो ऋण देनेवाला द्रव्य को यानी—रुपए-पैसे को उधार न देकर अपने ही पास रहने देगा।

सूद की दर का निर्णय किस पर ?

सूद पूँजी की उजरत है, पूँजी के उपयोग की क़ीमत है, और अन्य सभी क़ीमतों की तरह ही सूद भी माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात द्वारा निश्चित किया जाता है। आय को व्यय करने की व्यग्रता और उसे (आय को) संचित करके पूँजी के रूप में किसी लाभदायक कार्य में लगाने की आकांक्षा इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव पर सूद निर्भर रहता है।

पूँजी की माँग के अनेक कारण

वर्तमान वस्तुओं की माँग के अनेक कारण हो सकते हैं। माँग का एक कारण यह हो सकता है कि चूँकि प्रायः सभी व्यक्ति वर्तमान समय के उपयोग को, भविष्य के उपयोग से ज़्यादा अच्छा समझते हैं, इस कारण वे तत्काल वस्तुओं का उपयोग करें। दूसरा कारण यह हो सकता है कि वर्तमान उत्पादनों को काम में लाने और उत्पादन के सुधरे हुए अन्यतम प्रकार का आश्रय लेने से उत्पादक की आय भविष्य में अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जाती है, इस से उत्पादक उत्पादन के लिए वस्तुएं ले। तीसरा कारण यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति फ़िज़ूलख़र्च या शाहख़र्च हो और इस वजह से वह अपनी सभी आय को तत्काल व्यय कर देना चाहे। चौथा कारण यह हो सकता है कि सरकार युद्ध आदि के लिए वर्तमान वस्तुओं, एवं उपादानों को काम में लाना चाहे, और इस प्रकार वर्तमान वस्तुओं की माँग सरकार के द्वारा हो। इन सब बातों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि पूँजी की कुल माँग उस समय, उस देश के विभिन्न कारणों

से उत्पन्न हुई विभिन्न माँगों के योग द्वारा प्राप्त होती है। और चूँकि पूँजी की उत्पादकता के कारण उत्पादन कार्य के लिए जो माँग होती है, वह कुल माँग का एक अंश मात्र होती है, इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पूँजी की माँग का एकमात्र कारण उस की उत्पादकता ही है, अथवा केवल उत्पादन-कार्य के लिए ही पूँजी की माँग होती है। क्योंकि उत्पादकता के कारण उत्पादन-कार्य के लिए पूर्ति की जो माँग होती है, उस के अलावा भी अन्य कार्यों के लिए भी पूँजी की माँग होती है। किंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन-कार्य के लिए पूँजी की जो माँग होती है वह पूँजी की कुल माँग का एक बहुत ज़बर्दस्त अंश है, और कुल माँग पर उस का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान वस्तुओं की पूर्ति दो बातों पर निर्भर रहती है, एक तो बचाने और संचय करने की शक्ति पर और दूसरे बचाने और संचय करने की इच्छा पर। बचाने और संचय करने की शक्ति मनुष्य की आय और उस के व्यय पर निर्भर रहती है। बचाने और संचय करने की इच्छा मनुष्य की दूरदर्शिता, कुटुंब-प्रेम आदि पर निर्भर रहती है।

संचित-धन की माँग और पूर्ति पर सूद की दर निर्भर रहती है। जिस प्रकार किसी एक वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात के द्वारा निश्चित किए जाने पर भी, उपयोगिता अथवा सीमांत उत्पादन व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है; उसी प्रकार सूद पूँजी की माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात के द्वारा निश्चित किए जाने पर भी पूँजी की सीमांत-उत्पादकता अथवा सीमांत उत्पादन-व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

पूँजी का सीमांत उत्पादन और सूद

इस में संदेह नहीं है कि यदि कुछ भी सूद न मिले तो भी पूँजी की एक मात्रा तो प्राप्त की ही जा सकेगी। सूद न रहे तो भी कुछ लोग कुछ न कुछ बचत और संचय तो करेंगे ही। यदि सूद की दर बहुत ही सामान्य हो,

नाममात्र का सूद मिले तो पूँजी का एक अंश उपलब्ध हो सकेगा। किंतु इन दशाओं में जितनी मात्रा में पूँजी चाही जायगी, वह कुल मात्रा प्राप्त न हो सकेगी। इस कारण सूद की दर तब तक ऊँची होती जायगी, जब तक कि कुल माँग के अनुसार पूर्ति न हो जाय। इस कारण सीमांत संचय को प्राप्त करने के लिए सूद की दर काफ़ी ऊँची होनी चाहिए। कारण कि सीमांत संचय करनेवाला वह व्यक्ति होगा जो संचय करने के लिए सब से कम तैयार होगा, और जिसे संचय करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए सब से अधिक उजरत (पुरस्कार) सूद के रूप में देने के लिए तैयार होना पड़ेगा। यह तो हुई पूर्ति की बात। इधर माँग की दिशा में वह उत्पादक सीमांत ऋण लेनेवाला समझा जायगा, जिसे ऋण लेने की कम से कम चाह होगी और जो कम से कम सूद देने को तैयार होगा।

सीमांत ऋण लेने-वाला और सूद

यदि उस ने क़र्ज़ न लिया तो, पूर्ति की मात्रा के पूर्ववत् रहने पर, पूँजी की उतनी मात्रा अधिक बढ़ जायगी, जितनी कि सीमांत ऋण लेनेवाला लेता। इस कारण ऋण-दाताओं में प्रतिस्पर्धा होगी। और इस कारण सूद की दर गिर कर उस हद तक आ जायगी, जहां सीमांत ऋण लेनेवाला ऋण लेने को तैयार हो जायगा। और चूँकि बाज़ार में सभी के साथ एक रूप से व्यवहार करना पड़ेगा, इस कारण माँग की दृष्टि से सूद की दर सीमांत ऋण लेनेवाले द्वारा निश्चित की जायगी। पूँजी की सीमांत उत्पादकता और उस के संचय का सीमांत उत्पादन-व्यय बराबर होंगे। क्योंकि यदि दोनों में कुछ अंतर पड़ा तो माँग और र्ति में अंतर पड़ जायगा।

सूद, सीमांत उत्पादन-व्यय और सीमांत उत्पादकता के बराबर

यदि उत्पादन-व्यय अधिक हुआ तो संचय कम हो जायगा। क्योंकि उत्पादन-व्यय के अधिक होने से संचय करनेवालों को पड़ता न पड़ेगा। इस कारण पूँजी की मात्रा कम हो जायगी। इस कारण प्रति ईकाइ पूँजी की सीमांत उत्पादकता बढ़ जायगी, और अंत में वह उत्पादन-

व्यय के बराबर आ जायगी। यदि सीमांत उत्पादकता अधिक हुई तो पूँजी को अधिक उजरत मिलेगी। इस से पूँजी का संचय बढ़ जायगा, क्योंकि जो पहले संचय करते थे, वे और अधिक मात्रा में संचय करेंगे, और जो संचय नहीं करते थे वे भी अधिक उजरत के कारण संचय करने लगेंगे। फलतः संचय अधिक होने लगेगा और पूँजी की मात्रा बढ़ जायगी। इस कारण प्रति इकाई सीमांत उत्पादकता कम हो जायगी, और अंत में घटते-घटते वह उत्पादन-व्यय के बराबर आ जायगी। तभी माँग और पूर्ति में साम्य स्थापित होगा।

इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि सूद की प्रवृत्ति सीमांत उत्पादन-व्यय (ऋण-दाता की दृष्टि से) अथवा सीमांत उत्पादकता (ऋण-लेनेवाले की दृष्टि से) के बराबर होने की होती है।

सूद का भविष्य

सूद दो बातों पर निर्भर रहता है। एक तो पूँजी को लाभ के कार्य में लगाने के अवसरों पर, और दूसरे भविष्य के विषय के निर्णय पर। इस कारण भविष्य में सूद और सूद की दर की क्या-कैसी स्थिति होगी यह दो बातों पर निर्भर है। एक तो इस बात पर कि नवीन आविष्कारों और नित्यप्रति के सुधारों के कारण पूँजी को लाभ के कार्यों में लगाते रहने के अवसर अधिकाधिक मिलते रहेंगे या नहीं। दूसरे इस बात पर कि जैसे-जैसे मानव-समाज अधिकाधिक उन्नत होता जाता है वैसे ही वैसे भविष्य के उपयोगों के संबंध में उस की क्या-कैसी प्रवृति होती है। इस प्रकार सूद और उस की दर का भविष्य धन-संचय और सुधारों पर निर्भर है।

उन्नति के साथ संचय-वृद्धि

एक बात तो स्पष्ट है। ज्ञान के साथ ही मनुष्य में भविष्य की चिंता और संचय की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। जो जाति जितनी ही सभ्य होती है, उसे अपने भविष्य की आवश्यकताओं की उतनी ही अधिक चिंता होती है, और उतनी ही अधिक धन-संचय की प्रवृत्ति उस जाति में देख पड़ती है। इस

के साथ ही एक बात और है। व्यक्तियों की उत्पादन-शक्ति और कुशलता-क्षमता के बढ़ने और उद्योग-धंधों की उत्पादन मात्रा में आमतौर पर वृद्धि होने से समाज और व्यक्तियों की संचय-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। समस्त राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है, और इस के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से की मात्रा भी बढ़ जाती है। इन कारणों से धन और पूँजी की पूर्ति निरंतर बढ़ती जाती है। पूँजी की इकाइयों के बढ़ने और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम के कारण पूँजी की बढ़ी हुई इकाइयों की सीमांत-उत्पादकता कम होती जाने की प्रवृति होने के सबब से उस की उजरत की मात्रा के कम होने की प्रवृत्ति होगी।

उधर संसार की जनसंख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। इस कारण आविष्कारों और सुधारों के सबब से चाहे पूँजी की माँग न भी बढ़े, तो भी जन-संख्या के बढ़ने से पूँजी की माँग निरंतर बढ़ेगी। जनसंख्या के बढ़ने से मज़दूरों की संख्या बढ़ेगी। और मज़दूरों की बढ़ी हुई संख्या के लिए और अधिक औज़ारों मशीनों, आदि की आवश्यकता पड़ेगी। मानवीय आवश्यकताओं के परिमाण और प्रकारों में वृद्धि होगी। मनुष्यों की नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नवीन-नवीन उद्योग-धंधों की ओर उत्पादक अग्रसर होंगे। पूँजी की माँग बढ़ेगी। इस से उजरत की दर भी बढ़ेगी।

इन बातों के साथ ही, नित नए सुधार और आविष्कार होते रहते हैं। इस से नवीन औज़ारों, मशीनों, आदि के लिए पूँजी की माँग बढ़ती जाती है। किंतु इस के साथ ही एक विरोधी प्रवृत्ति देख पड़ती है। यदि सुधारों-आविष्कारों के कारण औज़ार, मशीन आसान और कम पेचीदा हो जायँ और उत्पादन का क्रम कम लंबा हो जाय, तो पूँजी की माँग अपेक्षाकृत कम हो जायगी। सुधारों-अविष्कारों से संबंध रखनेवाली इन दोनों परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात के द्वारा पूँजी की माँग और उस की उजरत की दर का निर्णय किया जाता है।

इन सब बातों पर ग़ौर करने के बाद यह नतीजा निकलता है कि भविष्य में उन्नति के साथ ही सूद की दर के गिरने की प्रवृत्ति होगी। किंतु सवाल यह उठता है कि क्या कभी ऐसा भी समय आ सकता है जब सूद की दर शून्य हो जाय, यानी जब सूद रह ही न जाय? उत्पादकता-सिद्धांत के अनुसार किसी साधन की उजरत की प्रवृत्ति उस की सीमांत उत्पादकता के बराबर होने की होती है। और यदि सूद की दर शून्य हो, तो इस के अर्थ यह होंगे कि पूँजी की सीमांत उत्पादकता शून्य होगी। सीमांत-उत्पादकता उत्पत्ति की मात्रा में वह वृद्धि है जो पूँजी की एक और अधिक इकाई के उपयोग में लाने से प्राप्त होती है। यदि सीमांत उत्पत्ति शून्य होगी तो इस के अर्थ यह होंगे कि और अधिक पूँजी के उपयोग के द्वारा उत्पत्ति में अब और अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती। अर्थात् हम ऐसी स्थिति में पहुँच गए हैं जहां हमारी उत्पादकता अधिक से अधिक (यानी अधिकतम) हो चुकी है। और इस के मतलब यह होंगे कि हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति पूर्णरूप से हो चुकी है। किंतु मानव-समाज की किसी ऐसी स्थिति की कल्पना ही नहीं की जा सकती जहां सभी तरह की आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्णरूप से पूर्ति और तृप्ति हो जाती है, और जहां किसी भी अतृप्ति, अपूर्णता और नई आवश्यकता का अस्तित्व शेष नहीं रह जाता। मनुष्यों को सदा नई-नई आवश्यकताएं घेरे रहती हैं, और पुरानी आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति भी शायद ही कभी पूरी तरह से होती हो। ऐसी स्थिति में पूँजी को अधिक उत्पादकता के साथ उपयोग में लाते रहने के अनेकानेक अवसर निकलते रहेंगे, और पूँजी की सीमांत उत्पादकता शून्य कभी न होगी। फलतः सूद की दर भी कभी शून्य तक न पहुँच सकेगी।

क्या सूद की दर शून्य हो सकती है?

सूद से संबंध में अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। अब नीचे उन का विवेचन किया जाता है।

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि पूँजी उत्पादक होती है, उस से और अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। पूँजी की उत्पादकता के कारण उस की उजरत के रूप में सूद दिया जाता है। एक मज़दूर बिना औज़ार या मशीन की सहायता के केवल अपने परिश्रम से वस्तुओं की एक ख़ास मात्रा उत्पन्न कर सकता है। यदि उसी मज़दूर को औज़ार या मशीन के रूप में पूँजी की सहायता प्राप्त हो जाय तो वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में उन्हीं वस्तुओं को उत्पन्न कर सकता है। पूँजी के कारण उत्पादकता की मात्रा बढ़ जाती है। इसी कारण पूँजी की सेवाओं के लिए सूद के रूप में उजरत देनी पड़ती है। और सूद की दर पूँजी की इकाई की सीमांत उत्पादकता पर निर्भर रहती है।

उत्पादकता-सिद्धांत

इस सिद्धांत पर दो आक्षेप किए जाते हैं। एक तो यह कि इस सिद्धांत के अनुसार उस पूँजी के सूद का कारण निश्चित नहीं किया जा सकता जो तत्काल उपयोग के लिए उधार ली जाती है. और ख़र्च कर दी जाती है। क्योंकि उस पूँजी से और नई पूँजी उत्पन्न नहीं होती। दूसरा यह कि मशीनों, औज़ारों की उजरत को निश्चित करने के लिए यह ज़रूरी है है कि सूद की दर पहले से निश्चित रहे और उसी के अनुसार मशीन आदि की उजरत तय की जाय।

इन आक्षेपों के उत्तर में कहा जाता है कि अधिकतर पूँजी उत्पादन के कार्यों के लिए ली जाती है, इस कारण उस के उन उपयोग के लिए भी, जो अन्य प्रकार के कार्यों के लिए होते हैं सूद देना पड़ता है। जो पूँजी उपयोग के लिए ली जाती है, उस से भी श्रम की उत्पादकता बढ़ती ही है। दूसरे मशीनों आदि की उजरत, सूद की निश्चित दर के आधार पर निश्चित की जाती है। पर इस के साथ ही मशीनों आदि की उजरत का प्रभाव भी सूद की दर के ऊपर पड़ता है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। इन सब बातों के अलावा यह तो मानना ही पड़ता है कि पूँजी की सहा-

यता से उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है, इस कारण पूँजी के उपयोग के लिए सूद देना अनिवार्य है। किंतु इस सिद्धांत से केवल इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि पूँजी की माँग क्यों होती है। इस कारण यह सिद्धांत एकांगी ही है।

उपयोग-सिद्धांत

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि जैसे मकान आदि अन्य वस्तुओं के उपयोग के लिए उजरत देनी पड़ती है उसी तरह पूँजी के उपयोग के लिए भी सूद के रूप में उजरत देनी ज़रूरी है। इस प्रकार उपयोग के कारण सूद का प्रादुर्भाव होता है।

इस सिद्धांत में एक बात का समाधान नहीं होता। चल-पूँजी तो एक ही बार के उपयोग में समाप्त हो जाती है। तब उस के लिए उस समय तक सूद क्यों देना पड़ता है जब तक कि मूल धन अदा नहीं कर दिया जाता?

संयम-सिद्धांत, परीक्षा-सिद्धांत

अर्थशास्त्रियों के एक दल का मत है कि मनुष्य तत्काल धन व्यय न कर त्याग और संयम से काम लेता है और इस प्रकार धन का संचय होता है। उस त्याग और संयम के लिए कुछ पुरस्कार मिलना चाहिए। पूँजी की उजरत के रूप में जो सूद दिया जाता है वही उस का पुरस्कार है। यदि इस पुरस्कार की आशा न हो तो मनुष्य धन के उपयोग के द्वारा तत्काल संतोष प्राप्त करने की चेष्टा करेगा; संचय नहीं। अस्तु धन-संचय के लिए जो त्याग-संयम करना पड़ता है, सूद उसी का पुरस्कार है।

इस संबंध में यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसे भी धनी व्यक्ति पाए जाते हैं जिन के पास बिना किसी त्याग या संयम के ही धन संचय होता रहता है। धन-संचय के लिए उन्हें अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति से वंचित नहीं होना पड़ता।

इस आक्षेप को दूर करने के लिए त्याग-संयम के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय के एक

भाग को बचा कर रख छोड़ता है, तो वह उस के उपयोग से अपने को सदा के लिए वंचित नहीं कर देता। वह केवल कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करता है। वह आय के उस भाग के उपयोग के लिए रुका रहता है। इस प्रकार रुकने, ठहरने या प्रतीक्षा करने के लिए आमतौर पर लोग तैयार नहीं होते। वे वर्तमान उपयोग को अधिक अच्छा समझते हैं। किंतु धन-संचय के लिए वर्तमान उपयोग को टालना, रुकना, ठहरना, या प्रतीक्षा करना पड़ता है। अस्तु, उस के लिए कुछ पुरस्कार ज़रूरी है। और प्रतीक्षा उस का कारण है। एक प्रकार से देखा जाय तो प्रत्येक उत्पादन-कार्य में प्रतीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। किसान तत्काल गेहूं का उपयोग न करके उसे खेत में बो देता है और फ़सल तैयार होने तक प्रतीक्षा करता है। कारख़ानेवाला वस्तुओं की पूरी तैयारी तक प्रतीक्षा करता है। प्रतीक्षा उत्पादन-कार्य का अनिवार्य-रूपेण आवश्यक अंग है। और इसी के लिए वस्तुओं की बढ़ी हुई मात्रा के रूप में पुरस्कार प्राप्त होता है।

जैसे अन्य सभी वस्तुओं का मूल्य सीमांत उपयोगिता द्वारा निश्चित किया जाता है उसी प्रकार पूँजी का सूद सीमांत प्रतीक्षा के द्वारा तय किया जाता है। इस कारण सूद का कारण सीमांत प्रतीक्षा मानी जाती है।

समय-महत्व अथवा समय-संबंधी सिद्धांत

मनुष्य आमतौर पर उपयोग के लिए भविष्य के मुक़ाबले में वर्तमान को तर्जीह देते हैं। जैसे हमें अपने से दूर की वस्तुएं छोटी देख पड़ती हैं, उसी तरह हमें भविष्य में प्राप्त होनेवाला संतोष, वर्तमान की अपेक्षा कम आकर्षक जान पड़ता है। इस कारण यदि किसी मनुष्य से कहा जाय कि उसे सौ रुपए दिए जाते हैं, चाहे वह उन का उपयोग तत्काल कर ले, अथवा एक वर्ष बाद, तो आमतौर पर वह एक वर्ष तक रुका रहना पसंद न करेगा। इस के तीन मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि आमतौर पर मनुष्य जितनी स्पष्टता से अपनी वर्तमान परिस्थिति को देख सकता, उस का अनुभव कर सकता है, उतनी स्पष्टता से अपने भविष्य के विषय में अनुभव नहीं

कर सकता। भविष्य के विषय में प्रायः लोग वैसा निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं कर सकते। दूसरे वर्तमान समय की आवश्यकताएं अधिक अच्छी तरह से सामने रहती हैं। इस कारण उन की तीव्रता का बोध अधिक स्पष्टता से होता है। भविष्य की आवश्यकताओं की तीव्रता का बोध इतना स्पष्ट नहीं हो सकता। इस कारण वर्तमान समय में जो वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हैं उन्हें मनुष्य भविष्य की वस्तुओं के मुक़ाबले में अधिक ग्राह्य समझते हैं। इस कारण वर्तमान उपभोग को भविष्य के लिए टालने के निमित्त यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान वस्तुओं के परिमाण से भविष्य में वस्तुएं कुछ अधिक परिमाण में प्राप्त हों। तीसरे वर्तमान वस्तुओं के उपयोग के द्वारा उत्पादन-कार्य से भविष्य में और अधिक परिमाण में वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं, इस कारण भविष्य के मुक़ाबले में वर्तमान वस्तुएं अधिक ग्राह्य मानी जाती हैं। इस प्रकार समय-ग्राह्यता के कारण वर्तमान वस्तुओं के उपयोग को भविष्य के लिए टालने के निमित्त कुछ पुरस्कार देने की ज़रूरत पड़ती है। यही पुरस्कार सूद कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति इस समय सौ रुपए का उपयोग इस लिए टाल दे कि उसे एक वर्ष बाद एक सौ पाँच रुपए उपयोग के लिए प्राप्त हो सकें, तो यह प्रकट हो जाता है कि ये पाँच रुपए वर्तमान उपयोग के टालने के लिए पुरस्कार के रूप में प्राप्त होंगे। यानी सौ रुपए का सूद पाँच रुपया होगा। इस प्रकार समय-ग्राह्यता के कारण सूद का प्रादुर्भाव होता है।

इस सिद्धांत द्वारा केवल पूँजी की पूर्ति पर प्रकाश पड़ता है। माँग का इस में वैसा कोई ख़याल नहीं रक्खा जाता। इस कारण यह सिद्धांत अपूर्ण है।

छुट्टा या नक़दी द्रव्य-ग्राह्यता सिद्धांत

द्रव्य उधार लेने के एवज़ में जो उजरत देनी पड़ती है उसे सूद कहते हैं। ऋण देनेवाला द्रव्य अथवा वस्तुओं के क्रय करने की तात्कालिक शक्ति को इस शर्त पर ऋण लेनेवाले को दे देता है कि उसे भविष्य में मूल-धन

के वापस किए जाने के साथ ही कुछ थोड़ा-सा और अधिक द्रव्य इस वर्तमान त्याग के लिए प्राप्त हो सके। यदि ऋणदाता को केवल मूल-धन ही वापस दिया जाय तो उसे द्रव्य को अपने हाथ से दूसरे के हाथ में देने की न तो इच्छा ही होगी और न किसी प्रकार की प्रेरणा ही। छुट्टा द्रव्य को दूसरे को देने की प्रेरणा तभी होती है, जब उस कार्य से ऋण-दाता को कुछ लाभ होता है। मूल-धन से कुछ अधिक द्रव्य का मिलना ही उस प्रेरणा का कारण होता है। इस प्रकार छुट्टा द्रव्य को अपने पास से दूसरे को दिलाने के लिए ही सूद का आर्विभाव होता है। सभी मनुष्य छुट्टा द्रव्य को (यानी वस्तुओं को क्रय कर सकने की शक्ति को) अपने पास-या अपने अधीन रखना चाहते हैं। छुट्टा द्रव्य (यानी वस्तुओं को क्रय करने की तात्कालिक शक्ति) को अपने अधिकार से दूसरे के अधिकार में दिए जाने के लिए जिस उजरत की ज़रूरत पड़ती है, वही सूद है। छुट्टा द्रव्य ग्राहयता तथा द्रव्य के परिमाण के घात-प्रतिघात द्वारा सूद की दर निश्चित होती है।

माँग और पूर्ति का सिद्धांत

असल में अन्य सभी वस्तुओं की तरह ही पूँजी की माँग और पूर्ति के अनुसार सूद की दर निश्चित होती है। पूँजी की माँग उस की सीमांत उपयोगिता पर निर्भर होती है। जब तक पूँजी से उत्पादक को लाभ होता रहेगा तब तक वह उसका उपयोग करता जायगा, जहां पूँजी के उपयोग से प्राप्त होनेवाली उत्पत्ति की मात्रा उस उजरत के बराबर होगी जो कि पूँजी के उपयोग के लिए देनी पड़ेगी, वहीं उत्पादक रुक जायगा, और उस के आगे और अधिक पूँजी अपने उपयोग में न लाएगा। विभिन्न उत्पादकों की माँगें मिल कर उत्पादन-कार्य के लिए पूँजी की उत्पादक माँग होगी। इस में पूँजी की उत्पादक (उपभोग) माँग को जोड़ने से पूँजी की कुल माँग निकल आयगी।

पूँजी की पूर्ति (जिस का सविस्तर वर्णन उत्पत्ति के परिच्छेदों में किया

जा चुका है) और उस की कुल माँग के घात-प्रतिघात द्वारा सूद की दर निश्चित होती है। माँग और पूर्ति के साम्य द्वारा यह दर निश्चित की जाती है। यह एक ऐसी दर होती है जिस पर जितनी पूँजी चाही जाती है उतनी ही पूँजी प्राप्त होती है। यही माँग और पूर्ति का साम्य है।

जिस प्रकार सीमांत उपयोगिता द्वारा माँग निश्चित की जाती है, उसी तरह सीमांत व्यय द्वारा पूर्ति निश्चित की जाती है। एक सीमा होती है जिस से कम उजरत मिलने पर लोग ऋण देने को तैयार नहीं होते, क्योंकि उन्हें ऋण देने से लाभ के बजाय हानि जान पड़ती है। तभी तक पूँजी बचा कर जोड़ी जायगी जब तक कि यह समझा जायगा कि उस के बदले में जो उजरत मिलेगी उस से उस संतोष की पूर्ति कर दी जायगी जो पूँजी जोड़ने में त्यागना पड़ा था। यदि सूद की दर इस से कम होगी तो सीमा पर स्थित व्यक्ति पूँजी जोड़ना छोड़ देंगे और धन को अपने उपयोग में लाने लगेंगे, क्योंकि उपयोग द्वारा उन्हें अधिक तृप्ति मिलेगी। इस प्रकार कुल पूँजी की मात्रा कम हो जायगी, माँग के पूर्ववत् रहने पर पूँजी उधार लेने वालों में होड़ होने लगेगी। अस्तु, फिर दर बढ़ जायगी। इस के विपरीत यदि माँग अधिक होगी और पूर्ति पूर्ववत् रही तो सूद की दर बढ़ जायगी। अस्तु पूँजी की सीमांत उत्पादकता घट जायगी, और व्यवसायी कम पूँजी लगाना चाहेंगे। साथ ही सूद की दर बढ़ने से अधिक व्यक्ति पूँजी संचय करने लगेंगे। अस्तु पूर्ति बढ़ जायगी। माँग घटने और पूर्ति बढ़ने से उधार देनेवालों में अधिक होड़ होने लगेगी। फलतः दर घट जायगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति के घात-प्रतिघात द्वारा सूद की दर एक साम्य की अवस्था में आ जायगी।

सब सिद्धांतों का सामंजस्य

सूद पूँजी की उजरत है। अन्य सभी साधनों की उजरत की तरह पूँजी की उजरत भी उस की सीमांत उत्पत्ति के बराबर होती है, जो कि सीमांत लागत-ख़र्च के बराबर होती है। पूँजी की उत्पादकता उसे संचित करने के

लाभों में समावेशित रहती है। उस का लागत-ख़र्च उसे संचित करने के कष्ट, त्याग, अनिच्छा में समावेशित है, जो केवल संयम और प्रतीक्षा द्वारा होता है। इस प्रकार उत्पादन का लागत-ख़र्च वाला सिद्धांत, उत्पादकता सिद्धांत और प्रतीक्षा तथा संयम वाला सिद्धांत साथ-साथ लागू होते हैं। चूँकि मनुष्य वर्तमान उपयोग को भविष्य के उपयोग से अधिक अच्छा समझता है, इसी कारण धन संचय करने में बाधा पड़ती है। इस प्रकार समय-संबंधी सिद्धांत, छुट्टा-द्रव्य-ग्राह्यता सिद्धांत भी इसी में समावेशित हो जाता है। इस प्रकार माँग और पूर्ति के सिद्धांत में प्रायः सिद्धांतों का समन्वय हो जाता है।

सूद और लगान (भाड़ा)

जायदाद (जिस में भूमि भी शामिल कर ली जाती है) से प्राप्त होने वाली आय की गणना कभी सूद में की जाती है और कभी लगान (भाड़ा) में। जब उस आय का विचार जायदाद के मूल्य के अनुपात में न करके एकमुश्त रक़म के रूप में किया जाता है, तब उस की गणना लगान (भाड़ा) में होती है, और जब उस आय का विचार जायदाद के मूल्य के अनुपात में प्रतिशत के हिसाब से किया जाता है तब उस की गणना सूद में की जाती है।

भूमि और पूँजी (स्थिर) में बहुत समता है। जो भी अंतर है वह श्रेणी का है, प्रकार का नहीं। भूमि की परिमितता और न्यूनता स्थायी है, और वस्तुओं की परिमितता और न्यूनता केवल अल्प-कालीन, क्योंकि वस्तुएं मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जा सकती हैं।

सूद और लगान में समता भी है और भेद भी। सूद, लगान तथा

सूद और लगान

अर्ध-लगान (या बतौर-लगान) का भेद दो बातों पर निर्भर है, एक तो पूर्ति की लोच पर और दूसरे समय पर। भूमि की पूर्ति दीर्घ काल और अल्प काल, दोनों ही दशाओं में बेलोच होती है। इसी से उस की उजरत के लिए लगान शब्द का प्रयोग

होता है। मशीन, कारखाना, आदि जिन वस्तुओं की पूर्ति अल्प काल में तो बेलोच होती है, किंतु दीर्घ काल में लोचदार हो जाती है, उन की उजरत के लिए अर्ध-लगान (या बतौर-लगान) शब्द प्रयुक्त होता है; छुट्टा द्रव्य आदि जिन वस्तुओं की पूर्ति दीर्घ काल तथा अल्प काल, दोनों ही समयों में लोचदार रहती है, उन की उजरत के लिए सूद शब्द का प्रयोग होता है।

क्या सूद आवश्यक है ?

यह बतलाया जा चुका है कि प्राचीन काल में सूद लेने की क्यों निंदा की जाती थी। वर्तमान समय में भी समाजवादी सूद को अनुचित बतलाते हैं। उन का कहना है कि मज़दूरों की उजरत में से अन्याय-पूर्वक कुछ अंश काट लिया जाता है, और उसी के संचय से संपत्ति खड़ी की जाती है। इस कारण संपत्ति पर, यानी पूँजी पर सूद दिया जाना उचित नहीं है।

किंतु समाजवादियों का मत ठीक नहीं है। जिस तरह मज़दूरों को श्रम के लिए उजरत दी जानी ज़रूरी है उसी तरह धन-संचय के निमित्त किए गए त्याग, संयम, प्रतीक्षा के लिए भी उजरत मिलनी ज़रूरी है। यदि सूद न रहेगा तो आगे के उत्पादन के लिए पूँजी संचय करने के लिए वैसा ज़बर्दस्त प्रोत्साहन न रह जायगा। मज़दूरों की दृष्टि से भी उन के प्रतिदिन के व्यय अथवा उपभोग से जो वस्तुएं बचेंगी उन का संचय पूँजी के रूप में किया जायगा। और इस पूँजी के उपयोग से जो अधिक वस्तुएं उत्पन्न की जायँगी, उन का एक अंश तो इस पूँजी की सेवा के बदले में दिया ही जायगा, और यही सूद होगा। इस प्रकार चाहे हिसाब के लिए ही क्यों न हो, सूद का रहना ज़रूरी है।

अध्याय ४२

लाभ

लाभ और अवशिष्ट आय

किसी कारबार को करनेवाले अथवा किसी व्यवसाय-व्यापार के कार्य में जोखिम उठानेवाले को जो उजरत मिलती है उसे लाभ कहते हैं। साहसी या जोखिम उठानेवाले को किसी उत्पादन-कार्य से जो कुल आय होती है उस में से उत्पादन-व्यय निकाल देने पर जो अतिरिक्त आय बच रहती है वही उस (साहसी) की उजरत होती है, और उसी को लाभ कहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर लाभ अवशिष्ट आय मानी जाती है। किंतु जिस प्रकार किसी एक उत्पादन-कार्य में मज़दूर को श्रम के लिए मज़दूरी, पूँजीपति को पूँजी के लिए सूद, भू-स्वामी को भूमि के लिए लगान (किराया) और प्रबंधक को प्रबंध के लिए वेतन दिया जाता है, उसी प्रकार उत्पादन के साधनों को एकत्र कर सहयोग द्वारा उन से काम लेने और उस उत्पादन-कार्य के पूरे जोख़िम को उठाने का साहस करने, उस की सफलता-असफलता की सारी ज़िम्मेदारी अपने सर पर लेने के लिए साहसी (या कारबारी) को उजरत मिलना ज़रूरी है, और साहसी को जो उजरत दी जाती है वही लाभ है। यदि साहसी या कारबारी साहस करके किसी उत्पादन-कार्य के जोखिम को उठाने के एवज़ में लाभ के रूप में कुछ पुरस्कार न पाएगा तो वह व्यर्थ में उस कार्य के निमित्त प्रयत्न न करेगा। इस कारण लाभ भी उत्पादन-व्यय का उसी प्रकार एक आवश्यक अंग है जिस प्रकार कि मज़दूरी, सूद, लगान और वेतन। इस दृष्टि से विचार करने पर लाभ अवशिष्ट आय नहीं ठहरता।

अवशिष्ट आय वाला सिद्धांत केवल लाभ पर ही लागू हो सके यह बात नहीं है। किसी भी साधन की उजरत अवशिष्ट आय ठहराई जा सकती है। जब साहसी का लाभ, भू- स्वामी का लगान, मज़दूर की मज़दूरी और प्रबंध का वेतन उत्पादन-कार्य की कुल आय में से भुगतान करके दे दिए जाते हैं, तो इन सब को उजरत देने के बाद जो अवशिष्ट रहता है वही पूँजी को सूद के रूप में मिलता है। इस प्रकार सूद अवशिष्ट आय ठहरती है। यही तर्क किसी भी अन्य साधन की आय या उजरत के संबंध में लागू हो सकता है। इस कारण इस सिद्धांत को केवल लाभ के लिए लागू ठहराना उचित नहीं होगा।

असल लाभ और कुल लाभ

आम तौर पर जिस रक़म की गणना लाभ में की जाती है वह यथार्थ में केवल लाभ या असली लाभवाली रक़म नहीं रहती, बल्कि अन्य अनेक प्रकार के भुगतानों की रक़में उस में शामिल रहती हैं। यथार्थ में उसे कुल लाभ कहना अधिक उपयुक्त होगा। कुल लाभ में साहसी की भूमि के किराए वाली रक़म; पूँजी के ब्याज वाली रक़म; मशीनों, औज़ारों आदि के लिए टूट-फूट, क्षय-छीज, पूर्ति आदि की रक़म; प्रबंध तथा व्यवस्था के वेतन वाली रक़म, असाधारण लाभ अथवा आय वाली रक़म और असली लाभ की रक़म अर्थात् जोखिम उठाने की उजरत शामिल रहती है। प्रायः देखा जाता है कि कारबारी अथवा साहसी उत्पादन-कार्य में अपनी निजी पूँजी लगाता है, और उत्पादन-कार्य या कारबार से जो आय, साधनों की उजरत देने के बाद बचती है, उस की गणना लाभ के रूप में की जाती है। किंतु यहां यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि यदि साहसी के पास पूँजी न होती तो वह दूसरे से पूँजी उधार लेकर लगाता और उस पूँजीपति को चलतू दर से ब्याज देता। इस कारण साहसी की पूँजी का सूद अलग काट देना चाहिए। इसी प्रकार प्रायः साहसी अपनी भूमि और कभी-कभी अपने औज़ारों, मशीनों, मकानों को उत्पादन-कार्य के लिए उपयोग में लाता है।

ऐसी दशा में भूमि के लगान की और मशीनों की क्षय-छीज, पूर्ति की रक़मों को उस की कुल आय में से पृथक् कर देना ज़रूरी हो जाता है। छोटे-मोटे कामों में साहसी निरीक्षण, व्यवस्था आदि का सारा काम ख़ुद करता है और अपनी इस सेवा के निमित्त वह कुछ भी उजरत नहीं लेता। किंतु ज्वाइंट स्टाक कंपनियों में निरीक्षण, व्यवस्था आदि के लिए पृथक्-पृथक् व्यक्ति रक्खे जाते हैं और उन्हें उचित उजरत दी जाती है। साहसी के इन कार्यों के लिए भी कुल आय में से एक रक़म अलग कर देनी चाहिए और तब असली लाभ का निर्णय करना चाहिए। इसी तरह यदि साहसी ख़ुद प्रबंध करे तो उस प्रबंध के लिए भी उजरत की रक़म कुल लाभ में से अलग कर देनी ज़रूरी है। कभी-कभी किसी एकाधिकार अथवा असाधारण परिस्थिति के कारण व्यवसाय में असाधारण आय होने लगती है। इस अतिरिक्त आय का विचार पृथक् से कर लेना ज़रूरी होता है। साहसी की निजी पूँजी के सूद; भूमि के लगान (भाड़ा); औज़ारों, मशीनों की टूट-फूट, क्षय-छीज, पूर्ति-रक़म; व्यवस्था, प्रबंध, निरीक्षण के वेतन आदि को निकाल देने पर कुल लाभ में से जो रक़म अंत में बच रहती है वही उस के साहस की उजरत है, वही असली लाभ है।

लाभ क्यों आवश्यक है?

प्रत्येक उत्पादन-कार्य के निमित्त इस लिए जोखिम उठाने की आवश्यकता पड़ती है कि यदि कारबार न चला अथवा उत्पन्न की हुई वस्तु न खप सकी तो जो हानि होगी, वह कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का एक समूह अथवा संस्था सहन करेगी। जब तक इस प्रकार जोखिम उठाने की ज़िम्मेदारी कोई न लेगा, तब तक कोई भी उत्पादन-कार्य प्रारंभ नहीं किया जा सकता। इस ज़िम्मेदारी के लिए कुछ न कुछ पुरस्कार चाहिए। यानी यदि उत्पन्न की हुई वस्तु न खप सकी तो जो हानि होगी वह तो जोखिम उठानेवाले को सहन करनी पड़ेगी, किंतु यदि वस्तु की खपत हुई तो उत्पादन-व्यय के अतिरिक्त जो भी आय अधिक होगी वह जोखिम उठानेवाले को मिलेगी।

यही जोखिम उठाने का पुरस्कार है, और यही असली लाभ है। यह लाभ जोखिम उठानेवाले को इस लिए मिलना ज़रूरी है कि वह उत्पादन-कार्य के प्रारंभ होने के पहले ही पूँजीपति की पूँजी, मज़दूर की मज़दूरी, भू-स्वामी की भूमि तथा प्रबंधक के प्रबंध के बदले में उपयुक्त (उचित) मोआविज़ा (प्रतिफल) देने का ज़िम्मा लेता है, और वस्तु के उत्पन्न होने के पहले ही से मज़दूर को मज़दूरी, पूँजीपति को ब्याज, भू-स्वामी को लगान तथा प्रबंधक को वेतन देने लगता है। अस्तु, यदि उस कार्य में लागत से कुछ अधिक आय होगी तो वह उस का हक़दार है।

जोखिम उठाने में एक प्रकार से व्यवस्था शामिल ही है। जब किसी वस्तु के उत्पादन का विचार पक्का हो जायगा और उस से होनेवाली हानि सहने का ज़िम्मा ले लिया जायगा, तभी उत्पादन के साधनों का समीकरण किया जायगा और उत्पादन-कार्य प्रारंभ किया जायगा। अस्तु, व्यवस्था के लिए कारबारी को कुछ उजरत अथवा पुरस्कार मिलना आवश्यक है, अन्यथा वह व्यवस्था क्यों करेगा। इन कारणों से समाजवादियों का यह आक्षेप कि "लाभ न्यायानुमोदित लूट है", ठीक नहीं।

लाभ के संबंध में दो मत

व्यवस्था के कारण कारबारी को किस प्रकार और क्यों लाभ होता है इस संबंध में मुख्यतः दो मत हैं। एक तो यह कि कारबारी या साहसी अपनी उत्तमतर सौदा करने की योग्यता के कारण अन्य साधनों और व्यक्तियों के हिस्से में से कुछ दबा कर अपने लिए बचा लेता है। दूसरा यह कि वह अपनी उत्तमतर व्यवस्था-शक्ति के कारण प्रत्येक साधन से अधिक उत्पादन करा लेता है। इस संबंध में सविस्तर विवेचन इस प्रकार है।

क्रय-विक्रय (सौदा) करने की उत्तमतर योग्यता के कारण कारबारी उत्पत्ति के अन्य साधनों को उन के उचित भाग से कम पर काम करने या योग देने को राज़ी कर लेता है। इस प्रकार प्रत्येक साधन को उचित भाग से कम देकर उस के हिस्से में से एक अंश अपने लिए निकाल लेता है और

इसी प्रकार अन्य साधनों के उचित हिस्सों में से निकाले हुए अंशों से लाभ निर्मित होता है। इन अंशों में कच्चे माल, आवागमन के साधन आदि के हिस्सों के अंश भी शामिल रहते हैं। यानी कच्चे माल वालों को कम क़ीमत देकर तथा आवागमन के साधनों आदि को ढुलाई आदि के रूप में कम रक़म देकर जो बचत साहसी कर लेता है, वही लाभ होता है।

बात को साफ़ करने के निमित्त एक उदाहरण लेना उचित होगा। मान लीजिए कि एक मज़दूर आठ आने रोज़ पाता है। किंतु कारबारी ने अपनी क्रय-विक्रय की उत्तमतर योग्यता के कारण उसे यदि सात आना प्रतिदिन पर राज़ी कर लिया, अथवा इस प्रकार की परिस्थिति उपस्थित कर दी कि मज़दूर को मजबूरन सात आना प्रतिदिन पर काम करने के लिए तैयार होना पड़ा, तो जो प्रति मज़दूर एक आना कम मज़दूरी देनी पड़ी यही एक आना लाभ में जायगा। इसी प्रकार अन्य साधनों के हिस्सों में भी कारबारी कुछ न कुछ अंश कम करके अपने लाभ को बढ़ाता है।

दूसरा मत यह है कि कारबारी उत्पत्ति के साधनों के उचित भागों में से कोई अंश अपने लिए नहीं छीनता, किंतु अपनी उत्तमतर व्यवस्था-शक्ति के कारण वह प्रत्येक साधन से साधारण उत्पत्ति से कुछ और अधिक उत्पत्ति करा लेता है। इस प्रकार वह प्रत्येक साधन को तो उस का उचित भाग पूरा-पूरा दे देता है, किंतु अपनी उत्तमतर व्यवस्था-शक्ति के कारण वह प्रत्येक साधन से जो साधारण उत्पत्ति से कुछ अधिक उत्पत्ति करा लेता है वही उस के लाभ में सम्मिलित होता है। उदाहरण के लिए यदि मान लिया जाय कि साधारण स्थिति में एक मज़दूर दस वस्तुएं प्रतिदिन बनाता है, किंतु अपनी उत्तमतर व्यवस्था के कारण कारबारी उसी मज़दूर से बारह वस्तुएं प्रतिदिन उतने ही पूर्व-निश्चित समय में बनवा लेता है, तो जो दो वस्तुएं अधिक बनती हैं वही लाभ ठहरती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मज़दूर को पहले की तरह ही यदि वह पूरी-पूरी मज़दूरी दे देता है तो भी उस के लिए दो वस्तुएं बच जाती हैं। और यही उस का लाभ है। इसी

प्रकार यह प्रत्येक साधन से कुछ न कुछ अधिक उत्पादन करा लेता है और इस प्रकार लाभ उठाता है।

ऊपरवाले इसी विवेचन को कुछ अर्थशास्त्री तनिक दूसरे ढंग से उपस्थित करते हैं। उन का मत है कि असली लाभ में पाँच तत्व पाए जाते है। ये हैं (१) साहसी की सौदा करने की उत्तमतर शक्ति ; (२) अन्य साधनों, ग्राहकों तथा दलों को धोखा दे सकने की योग्यता ; (३) दूसरों को डरा-धमका कर दबा लेने की क्षमता ; (४) जोखिम और अनिश्चित स्थिति के कारण अन्य साधनों और दलों से बीमे के रूप में कुछ रक़म वसूल कर सकने की कुशलता, और (५) अपनी बुद्धि, अपने अनुभव द्वारा जोखिम को कम करने की विशेषता। इन्हीं पाँचों तत्वों के कारण साहसी को असली लाभ प्राप्त होता है।

असली लाभ में पाँच तत्व

साहसी को मंडी का और अपने व्यवसाय का तथा विभिन्न साधनों की योग्यता-क्षमता, उत्पादन-शक्ति और सौदा कर सकने की शक्ति का अधिक अच्छा ज्ञान रहता है। इस के साथ ही अपने पद के कारण उसे एक प्रकार से एकाधिकार-सा प्राप्त रहता है. क्योंकि उस के हाथों में बहुतों को रोज़ी देने न देने का अधिकार रहता है। इन सब कारणों से वह विभिन्न साधनों को दबा कर उन की सीमांत उपज से कम उजरत पर काम करने के लिए राज़ी कर लेता है, और इस प्रकार मज़दूरी, सूद, लगान, आदि में से कुछ हिस्सा काट कर अपने लिए बचा लेता है।

यह भी देखा जाता है कि साहसी प्रायः उलटी-सीधी पट्टी पढ़ा कर बहुत ही कम ख़र्च में व्यवसाय-संबंधी कोई भारी रियायत प्राप्त कर लेता है, अथवा जनता की भावुकता, देश-प्रेम आदि से अनुचित लाभ उठा कर किसी वस्तु के मनमाने दाम खड़े कर लेता है और इस प्रकार अपने कारबार से लाभ उठाता है।

अकसर साहसी गलाघोंटू प्रतियोगिता के, या व्यावसायिक मिलन के

अथवा अन्य अनुचित उपायों के द्वारा अन्य प्रतिद्वंदियों को अपने व्यवसाय में ठहरने या घुसने नहीं देता, और इस प्रकार प्रतियोगिता को दूर कर, एकाधिकार-सा स्थापित करके मनमाना लाभ उठाता है।

इन बातों के साथ ही प्रत्येक उद्योग-व्यवसाय में कुछ न कुछ जोखिम रहती है। उस जोखिम के कारण आय एक प्रकार से अनिश्चित और अस्थिर रहती है। साधारण व्यक्ति इस प्रकार के जोखिम से बचने और अपनी आय को थोड़ा-बहुत निश्चित करने के लिए और कुल आय को खोने के जोखिम से बचने के लिए साहसी को बीमा की रक़म के रूप में अपनी उजरत में से एक भाग को दे देने के लिए आसानी से राज़ी हो जाते हैं। चतुर साहसी इस परिस्थति से लाभ उठा कर मज़दूरी, सूद, लगान आदि में से एक अंश अपने लिए काट लेता है।

इन सब बातों के अलावा अपनी विशेष योग्यता-क्षमता के कारण कारबारी या साहसी अपने व्यवसाय के जोखिम को अपेक्षाकृत बहुत कम कर देता है। इस कारण उस से कम योग्यता-क्षमतावाले कारबारी उतना लाभ नहीं उठा सकते। दूसरे, वह जोखिम को चुनने और उन्हें कम करने में अधिक सावधानी से काम लेता है। इस कारण उसे अपेक्षाकृत कम हानि उठानी पड़ती है। इन सब कारणों से योग्यतम साहसी दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ उठा लेता है। इस प्रकार इन पाँच तत्वों के कारण साहसी को असली लाभ होता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लाभ के संबंध में विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यहां उन का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है।

लाभ का लगानवत सिद्धांत

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि लाभ योग्यता का लगान है। जैसे भूमि के विभिन्न टुकड़ों की उर्वरता भिन्न-भिन्न होती है, उसी प्रकार विभिन्न कारबारियों या साहसियों में भिन्न-भिन्न श्रेणी की योग्यता होती है। जो जितना ही योग्य होता है उसे उसी अनुपात में लाभ होता है। असाधारण

योग्यता-क्षमता, कार्यकुशलता के कारण कारबारियों को लाभ होता है। इस लाभ में प्रबंध की उजरत शामिल नहीं की जाती। उत्पादन-कार्य या उद्योग-व्यवसाय में साहसी जो प्रबंध का कार्य करता है, उस के लिए जो उजरत दी जाती है उस का हिसाब अलग रक्खा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार सीमांत साहसी को लाभ का कोई अंश प्राप्त नहीं होता। सीमांत साहसी वह साहसी है जिस की योग्यता-क्षमता सब से कम रहती है, और जो केवल अपना उत्पादन-व्यय खड़ा कर सकता है। इस कारण लगान की तरह ही उत्पादन-व्यय में लाभ भी शामिल नहीं किया जा सकता और इस प्रकार वस्तु की क़ीमत में लाभ शामिल नहीं किया जाता।

इस सिद्धांत के प्रतिपादित होने के पहले अर्थशास्त्र में पूँजीपति और साहसी का पृथक्-पृथक् विवेचन नहीं किया जाता था। दोनों का विचार एक साथ ही किया जाता था। इस सिद्धांत के प्रतिपादन के साथ ही साहसी और पूँजीपति में स्पष्ट भेद माना जाने लगा। साहसी के लिए यह क़तई ज़रूरी न रह गया कि वह अपनी पूँजी उत्पादन-कार्य में लगावे ही। दोनों के कार्य-क्षेत्रों में स्पष्ट अंतर माना जाने लगा।

इस सिद्धांत में दो बड़ी ख़ामियां हैं। एक ख़ामी तो यह है कि इस में यह मान लिया गया है कि क़ीमत में लाभ शामिल नहीं रहता। किंतु असल में बात ऐसी नहीं है। दीर्घ काल का विचार करते समय तो उत्पादन में लाभ को अवश्य ही शामिल करना पड़ेगा, और इस प्रकार वस्तु की क़ीमत में भी लाभ शामिल होगा ही। यदि लाभ उत्पादन-व्यय में शामिल न किया जायगा तो साहसी उत्पादन की व्यवस्था ही क्यों करेगा। दूसरी ख़ामी है लाभ को लगान-वत् मान लेना। इस से लाभ के परिमाण की माप का निर्णय भले ही हो जाय, किंतु इस से लाभ के संबंध की अन्य बातों पर प्रकाश नहीं पड़ता। इस के अलावा लाभ को लगान-वत मान लेने पर ज्वाइंट स्टाक कंपनियों के हिस्सेदारों को प्राप्त होनेवाले लाभ के संबंध में कोई भी संतोषजनक कारण नहीं बतलाया जा सकता।

लाभ का वेतन-वत सिद्धांत

अर्थशास्त्रियों के एक दल का मत है कि व्यावसायिक योग्यता के उपयोग की उजरत ही लाभ है। वे लाभ को वेतन या मज़दूरी का ही एक प्रकार मानते हैं। वे मानते हैं कि कारबारी या साहसी की आय बहुत ही अधिक अनियमित है, और उत्पादन-व्यय के भुगतान के बाद जो बचता है उसी की गणना लाभ में की जाती है। तो भी उद्योग-व्यवसाय के समीकरण तथा व्यवस्था की योग्यता-क्षमता और जोखिम के सामना करने की कुशलता के ऊपर ही साहसी की अविच्छिन्न सफलता निर्भर रहती है और उस के इन्हीं गुणों का पुरस्कार एक तरह का वेतन ही है। साथ ही, लाभ को इस प्रकार वेतन मानने के दो कारण हैं, एक तो साहसी के कार्य का श्रम के अंतर्गत आना और दूसरे प्रबंध-व्यवस्था के कार्यों का बहुत अधिक विस्तृत होना। साहसी का कार्य एक प्रकार का मानसिक श्रम है। यद्यपि इस प्रकार के मानसिक श्रम की कुछ बहुत ही असाधारण विशेषताएं हैं; जिन में जोखिमों का उठाना, अनिश्चितताओं का सामना करना प्रमुख हैं। चिकित्सकों, वकीलों की आय की गणना वेतन में ही की जाती है; यद्यपि इन के कार्य मुख्यतः मानसिक श्रम के रूप में ही पाए जाते हैं। इसी प्रकार साहसी का श्रम भी मानसिक होता है, अस्तु उस की उजरत की गणना भी वेतन में ही की जानी चाहिए। इस के अलावा प्रबंध-व्यवस्था के अंतर्गत प्रायः वे सब कार्य आ जाते हैं जिन्हें साहसी को करना पड़ता है। इस कारण किसी उद्योग-व्यवसाय के वेतनभोगी प्रबंधक, व्यवस्थापक में और स्वतंत्र-रूप से उद्योग-व्यवसाय चलानेवाले कारबारी-व्यवसायी, साहसी में विशेष अंतर नहीं पाया जाता। इन कारणों से साहसी की उजरत, लाभ की गणना वेतन या मज़दूरी में ही की जानी चाहिए।

इस में संदेह नहीं कि लाभ के इस सिद्धांत के द्वारा लाभ के रूप की व्याख्या भी हो जाती है और लाभ के औचित्य और उस की आवश्यकता का भी प्रतिपादन हो जाता है। किंतु इस सिद्धांत के द्वारा लाभ

और वेतन (या मज़दूरी) के बीच जो असली भेद है उस पर परदा डाल दिया जाता है। असल में दोनों में काफ़ी भेद है। वेतन (या मज़दूरी) एक नियमित रूप से प्राप्त होनेवाली, निश्चित, बँधी हुई और ठहराव द्वारा तय की हुई आय है; किंतु लाभ तो अनियमित, अनिश्चित और संयोगवश प्राप्त होनेवाली आय है। वेतन और लाभ के भेद का स्पष्टीकरण तब होता है जब ज्वाइंट स्टाक कंपनी की असली आय का विश्लेषण किया जाता है। कंपनी की आय के संबंध में विचार करते समय यह प्रकट हो जाता है कि कंपनी का लाभ और प्रबंध का वेतन दो भिन्न-भिन्न तत्व हैं। साधारण हिस्सेदार कंपनी के प्रबंध या व्यवस्था-संबंधी किसी भी कार्य में भाग नहीं लेते। किंतु जोखिम उठाने का ज़िम्मा उन का रहता है, इस कारण कंपनी का असली लाभ उन को मिलता है, न कि प्रबंध और व्यवस्था करनेवालों को।

मज़दूरी और लाभ में भेद

इस के अलावा लाभ और मज़दूरी (वेतन) में तीन मुख्य भेद पाए जाते हैं। एक तो यह कि क़ीमत के रद्दोबदल का प्रभाव जितना अधिक और जितनी शीघ्रता से लाभ पर पड़ता है, उतना मज़दूरी पर नहीं पड़ता। क़ीमत के थोड़ा बढ़ने या घटने से लाभ की रक़म बहुत घट-बढ़ जाती है। किंतु मज़दूरी पर उस का वैसा असर नहीं पड़ता। और प्रायः क़ीमत के काफ़ी घट जाने से लाभ बिल्कुल लुप्त हो जाता है, और उस के स्थान पर हानि उठानी पड़ती है। किंतु मज़दूरी कभी ऋणात्मक रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। दूसरे, साहसी का मुख्य काम जोखिम उठाना और हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी लेना है। किंतु मज़दूर या वेतनभोगी इस प्रकार जोखिम उठाने और हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी लेने के लिए तैयार नहीं होता। उसे तो ठहराव के मुताबिक़ एक नियमित, और निश्चित आय से मतलब रहता है। तीसरे, साहसी की आय का अधिकांश संयोग के ऊपर निर्भर रहता है। किंतु मज़दूर या वेतनभोगी की आय इस प्रकार

संयोग पर निर्भर न रह कर ठहरावे के अनुसार निश्चित रहती है। इन कारणों से लाभ का वेतन-वत मानना ठीक नहीं है।

लाभ का जोखिम-सिद्धांत

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि प्रत्येक उत्पादन-कार्य, प्रत्येक व्यवसाय में हानि का भय लगा रहता है। इस जोखिम का भार उठाना ही साहसी या कारबारी का प्रमुख कर्तव्य होता है, और जोखिम उठाना, हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी लेना सुखद और सरल नहीं होता इस कारण उस के लिए साधरणतः कोई तैयार नहीं होता। इसी से उस के लिए विशेष पुरस्कार की आवश्यकता होती है। पुरस्कार भी ऐसा हो जो साधारण कार्यों से अधिक हो। इस के अलावा जोखिम के कारण आमतौर पर लोग इस क्षेत्र में कम ही आने की हिम्मत करते हैं, इस कारण इस क्षेत्र में प्रतिद्वंद्वियों के कम रहने से उजरत का परिमाण साधारणतः अधिक ही रहता है।

सूद से लाभ का सादृश्य

जिस प्रकार सूद के लिए प्रतीक्षा और संयम की आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह लाभ के लिए जोखिम उठाने की आवश्यकता होती है। इस कारण सूद के प्रतीक्षा-संयम-सिद्धांत में और लाभ के जोखिम-सिद्धांत में समता पाई जाती है। सूद इस लिए दिया जाता है कि उस के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है, संयम से काम लेना पड़ता है। हानि सहने का जोखिम उठाना पड़ता है, इस लिए लाभ होता है। ऐसे भी व्यक्ति पाए जाते हैं जो सूद की बहुत ही कम दर पर या ऋणात्मक सूद पर भी संयम करते रहते हैं। उसी तरह ऐसे साहसियों का अभाव नहीं है जो लाभ की ज़रा-सी भी संभावना पर भारी जोखिम उठाने को तैयार हो जाते हैं।

जोखिम न उठाने के लिए लाभ

इस में संदेह नहीं कि जोखिम उठाने के लिए जो उजरत प्राप्त होती है वह लाभ का एक अंश अवश्य है, किंतु इस से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि केवल जोखिम उठाने के लिए ही लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि

जोखिम उठाने के अनुपात में ही लाभ की रक़म छोटी-बड़ी नहीं होती। केवल जोखिम उठाने से ही लाभ नहीं होता, बल्कि जोखिम को कम करने के कारण ही लाभ प्राप्त हो सकता है। यानी साहसी को इस लिए लाभ प्राप्त नहीं होता कि वह जोखिम उठाता है, वरन उसे लाभ की प्राप्ति इस लिए होती है कि वह जोखिम को दूर कर देता है। अर्थात् जोखिम को न उठाने, उसे दूर कर देने के उपलक्ष में लाभ होता है।

इस के अलावा एक ख़ास बात यह है कि सभी तरह के जोखिमों के उठाने से लाभ नहीं होता। जोखिम दो तरह के होते हैं। एक तो वे जिन का पहले से आभास मिल जाता है, अर्थात् ज्ञात जोखिम, और दूसरे अज्ञात जोखिम, जिन का पहले से कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता। ज्ञात जोखिमों के लिए बीमा या प्रबंध कर लिया जाता है और बीमे की यह रक़म उत्पादन-व्यय में नियमित रूप से सम्मिलित कर ली जाती है। इस कारण ज्ञात जोखिम के कारण लाभ का प्रादुर्भाव नहीं होता। लाभ तो वह आय है जो उत्पादन-व्यय के अतिरिक्त प्राप्त हो, और इस प्रकार की अतिरिक्त आय का प्रादुर्भाव अज्ञात जोखिम के कारण होता है।

ज्ञात और अज्ञात जोखिम

एक ख़ास बात और है। साहसी अपनी पूँजी जोखिम में डालता है इस कारण उसे लाभ नहीं प्राप्त होता, वरन् उसे लाभ की आशा रहती है इस कारण वह अपनी पूँजी को जोखिम में डालता है।

इन कारणों से केवल जोखिमवाले सिद्धांत के द्वारा इस बात का विवेचन नहीं किया जा सकता कि लाभ यथार्थ में होता क्यों है।

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि अनिश्चितता की ज़िम्मेदारी लेने की उजरत ही लाभ है। प्रत्येक उत्पादन-कार्य, उद्योग, व्यवसाय की अंतिम सफलता अनिश्चित रहती है, इस का निश्चय नहीं रहता कि आय होगी या नहीं। साहसी इसी अनिश्चितता की ज़िम्मेदारी अपने सर पर लेता है,

लाभ का अनिश्चितता सिद्धांत

और उस से होनेवाली हानि को सहने के लिए तैयार होता है। अनि-श्चितता की ज़िम्मेदारी सुखद और सरल नहीं होती। इस ज़िम्मेदारी को स्वीकार करने के लिए जो उजरत दी जाती है वही लाभ है।

कारबारी को मज़दूर, पूंजीपति आदि सभी को पहले ही से उन की उजरत देने की बात तय कर लेनी पड़ती है। अब यदि उस का अनुमान ग़लत निकले, और उत्पन्न की हुई वस्तु की खपत न हो तो उसे हानि सहनी पड़ेगी। और आर्थिक परिवर्तनों के निरंतर होते रहने के कारण यह निश्चित नहीं रहता कि कारबारी का अनुमान ठीक ही निकले। ऐसी दशा में अनिश्चितता के कारण ही जोखिम उठानी पड़ती है। और जोखिम उठाने, हानि सहने के बदले में कारबारी लाभ का अधिकारी होता है। जब कारबारी को वह हानि सहनी पड़ेगी, जो आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने के कारण होगी, तो उस से जो अधिक आय होगी, जो लाभ होगा, उस का भी वही अधिकारी है।

अनिश्चितता जितनी ही अधिक होगी, कारबारी उत्पत्ति के साधनों को उतनी ही कम उजरत देने के लिए तैयार होगा और साधन भी उतनी ही कम शक्ति अधिक उजरत माँगने की अनुभव करेंगे। अस्तु लाभ का अंश उतना ही अधिक रहेगा। अनिश्चितता जितनी ही कम होगी कारबारी को उतनी ही ज़्यादा उजरत साधनों को देने के लिए मजबूर होना पड़ेगा, साधन अपने को और अधिक उजरत माँगने में सशक्त पाएँगे। अस्तु लाभ का अंश उतना ही कम रह जायगा।

इस सिद्धांत में भी वही ख़ामियां हैं जो जोखिम सिद्धांत में हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि साहसी को अन्य साधनों की तरह ही अपनी सीमांत उत्पादकता के बराबर ही उजरत मिलती है। साहसी की उजरत उस की व्यावसायिक योग्यता-क्षमता के अनुकूल ही होती है। साहसी को ध्यान में रखते हुए, सीमांत उत्पादकता वह मात्रा मानी जायगी जो

लाभ सीमांत-उत्पादकता-सिद्धांत

समाज उस साहसी की मदद से उत्पन्न कर सके और जिस में से वह मात्रा निकाल दी गई हो, जिसे समाज बिना उस साहसी की मदद के स्वतः उत्पन्न कर सकता हो। यदि समाज एक साहसी की मदद के बिना सौ मोटरें तैयार कर लेती है, किंतु उस साहसी की मदद से वह एक सौ पाँच मोटरें तैयार कर सकती है, तो उस साहसी की सीमांत उत्पादकता पाँच मोटरों के बराबर होगी।

इस सिद्धांत में एक ख़ास अड़चन पड़ती है। साहसी की सीमांत उत्पादकता की माप ठीक-ठीक नहीं हो पाती। साहसी के पृथक् हो जाने से एक उत्पादन-कार्य कुल का कुल अव्यवस्थित हो जायगा। इस कारण साहसी की सीमांत उत्पादकता सीधे, प्रत्यक्ष रूप में तो माप सकना असंभव नहीं तो बहुत ही अधिक कठिन अवश्य है। दूसरे इस सिद्धांत से लाभ-संबंधी सभी प्रश्नों पर प्रकाश नहीं पड़ता।

लाभ का प्रगतिशीलता सिद्धांत

कतिपय अर्थशास्त्रियों का मत है कि संसार में प्रगतिशीलता के कारण जो परिवर्तन होते रहते हैं उन्हीं से लाभ का प्रादुर्भाव होता है। इस मत के अनुसार साहसी का एक मात्र कार्य न तो जोखिम उठाना है, न प्रबंध-व्यवस्था करना और न निरीक्षण-नियंत्रण रखना। उस का प्रमुख कार्य है सांपत्तिक व्यवस्था में नवीनता लाना और वांछनीय परिवर्तन उपस्थित करना। संसार परिवर्तनशील है। नित नए परिवर्तन होते रहते हैं। इस कारण साधारणतः कोई भी अनुमान पहले से लगाया गया हिसाब पूरी तरह से ठीक नहीं उतर सकता। कोई कारबारी तत्काल परिस्थिति के अनुसार किसी एक आधार पर अपना ख़ाका तैयार करता है और वर्तमान माँग को आँक कर उत्पादन प्रारंभ करता है। पर उत्पादन-कार्य के प्रारंभ होने और वस्तुओं के बन कर बाज़ार में आने तक अनेक बातों में परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के कारण कारबारी का अनुमान ठीक नहीं उतरता। इस कारण यदि परिवर्तन उस के पक्ष में हुए तो उसे लाभ

होता है, और यदि परिवर्तन उस के विरुद्ध गए तो उसे हानि उठानी पड़ती है। बिक्री की क़ीमत में और उत्पादन-व्यय में जो अंतर रहता है वही लाभ है। यदि परिवर्तन न हो और प्रत्येक साधन को उजरत में उतना दिलाया जाय जितना कि वह उत्पन्न करता हो तो बिक्री की क़ीमत ठीक उतनी ही हो जितना कि उत्पादन-व्यय। और ऐसी दशा में लाभ कुछ भी न रहेगा, केवल व्यवस्था और निरीक्षण की उजरत ही कारबारी के पल्ले पड़ सकेगी। इस से स्पष्ट हो जाता है कि यदि परिवर्तन न हो तो लाभ लुप्त हो जाय।

स्थिर अवस्था में पाँच बातों में परिवर्तन नहीं होता, यानी जन-संख्या में, पूँजी के परिमाण में, उत्पादन के तरीक़ों में, व्यवस्था के प्रकारों तथा भेदों में, और उपभोक्ताओं की माँग तथा रुचि आदि में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। यदि इस प्रकार की अपरिवर्तनशील स्थिति हो सके तो उस में उत्पादन-व्यय बिक्री की क़ीमत के बराबर होगा ही, और तब लाभ के लिए कोई गुंजाइश न रह जायगी, क्योंकि बिक्री की क़ीमत में से उत्पादन-व्यय वाली रक़म के निकाल देने पर जो शेष रहता है उसी की गणना लाभ में की जाती है। किंतु यथार्थ में ऐसी अपरिवर्तनशील स्थिति होती नहीं। ऊपर वाली पाँचों बातों में सदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। और इस कारण उत्पादन-व्यय में और बिक्री की क़ीमत में अंतर रहता है। इस से हानि-लाभ के लिए प्रायः गुंजाइश रहती ही है। आर्थिक स्थिति में नवीनता लाना, परिवर्तन उपस्थित करना ही साहसी का प्रमुख कार्य है। इसी कारण वह हानि-लाभ का भागी होता है।

प्रगतिशीलता, परिवर्तनशीलता के कारण सदा सभी बातों में उलट-फेर होता रहता है। इस कारण कारबारी को अपनी व्यावसायिक बुद्धि से काम लेना पड़ता है। परिस्थिति को देख कर आगे के लिए उसे अटकल लगाना पड़ता है, निर्णय करके उसी के अनुसार उसे सारी व्यवस्था

करनी पड़ती है। उस के निर्णय के कारण बहुत कुछ उलट-फेर हो सकता है। इस लिए उसे हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी उठानी पड़ती है।

इस परिवर्तनशील संसार में सदा रद्दोबदल होती रहती है, इस कारण जो कारबारी अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से भविष्य की परिस्थिति आँक लेता है और दृढ़तापूर्वक साहस करके अपनी व्यावसायिक बुद्धि के बल-बूते पर कोई नई व्यवस्था का निर्णय करता है, तथा उस के अनुसार सारा प्रबंध कर लेता है, वह सब के आगे बढ़ जाता है। अस्तु परिस्थिति को पहले आँक सकने के कारण उसे लाभ होता है। बाद में उस के उदाहरण से साहस तथा ज्ञान प्राप्त करके अन्य कारबारी उसी प्रकार की व्यवस्था करने के निमित्त तैयार होते हैं। बात फैल जाती है। नवीनता जाती रहती है। अस्तु न तो किसी अनिश्चित परिस्थिति का सामना करने की बात रह जाती है, न कोई निर्णय करके जोखिम अपने सर उठाना पडता है। अस्तु, लाभ की संभावना दूर होती जाती है।

इस के अलावा साहसियों में आपस में प्रतिद्वंद्विता चलने लगती है। इस कारण श्रम और पूँजी की माँग बढ़ जाती है। फलतः सूद और मज़दूरी की दर बढ़ने लगती है। इस कारण उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है। और यह क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक कि उत्पादन-व्यय बिक्री की क़ीमत के बराबर नहीं आ जाता, और इस प्रकार लाभ की संभावना दूर नहीं हो जाती। इस प्रकार लाभ परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होता है और साथ ही लाभ के कारण ही परिवर्तन किए जाते हैं।

इस प्रकार सब से आगे बढ़ कर साहस करनेवाले के साहसिक कार्य से, जोखिम उठाने से न केवल उसी को लाभ होता है, वरन् समाज, देश, संसार का भी हित होता है। सुधरी हुई व्यवस्था, नवीन अविष्कार आदि समाज, देश, संसार में फैल जाते हैं और उन से सभी लाभ उठाते हैं। उन्नति में सभी को भाग मिलने लगता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि थोड़े समय में जब परिस्थिति

अनिश्चित रहती है, जोखिम का डर रहता है, तभी लाभ की अधिक से अधिक संभावना रहती है। पर धीरे-धीरे जैसे ही कोई नवीन व्यवस्था सब की समझ में आने लगती है, उस के अनुसार सारा प्रबंध सभी करने लगते हैं, वैसे ही लाभ की मात्रा कम होती जाती है, कारण कि जोखिम कम होता जाता है, अनिश्चितता घटती जाती है। कुछ तो यह भी मानते हैं कि अंत में नवीन व्यवस्था के पूरी तरह से जनता की चीज़ हो जाने पर लाभ बिल्कुल उड़ जाता है, लाभ की दर शून्य हो जाती है। किंतु कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि लाभ की दर कभी भी शून्य तक नहीं पहुँचती, क्योंकि उत्पादन के निमित्त लाभ उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार मज़दूरी, ब्याज आदि। हां, यह ठीक है कि स्थिति जितनी ही अनिश्चित रहेगी, जोखिम उतना ही बड़ा होगा और उसी के अनुसार लाभ की दर भी अधिक से अधिक हो सकेगी।

इस सिद्धांत के संबंध में दो आक्षेप किए जाते हैं। एक तो यह कि सभी तरह के परिवर्तनों के कारण लाभ का प्रादुर्भाव नहीं होता। जो परिवर्तन पहले से समझे और जाने जा सकते हैं उन के संबंध में पहले से ही तैयारी और उपाय कर लिए जाते हैं और उत्पादन-व्यय में उन का समावेश कर लिया जाता है। इस कारण इस प्रकार के परिवर्तनों से लाभ का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। इस सिद्धांत में यह ख़ामी है कि परिवर्तनों में इस तरह का भेद नहीं माना जाता। दूसरे प्रति-दिन के बँधे हुए कार्य में भी विचार, निर्णय, व्यवस्था, प्रबंध आदि की आवश्यकता पड़ती है, और इस कारण किसी न किसी रूप में साहसी को उजरत देनी ही पड़ेगी। इस के अलावा कैसी भी अपरिवर्तनशील स्थिति क्यों न हो, अग्नि, दग़ा, चोरी, लापरवाही, बाढ़ आदि का जोखिम तो लगा ही रहेगा और उन के लिए ज़िम्मेदारी उठानी ही पड़ेगी।

लाभ-संबंधी इन विभिन्न सिद्धांतों के विवेचन से पता चलता है कि

सिद्धांतों की भिन्नता का कारण और समन्वय

भिन्नता का कारण यह है कि प्रत्येक सिद्धांत में साहसी के किसी एक विशेष कार्य को ही आधार माना गया है और उस के अन्य कार्यों की उपेक्षा की गई है। यथार्थ में साहसी केवल एक ही कार्य नहीं करता। जोखिम की ज़िम्मेदारी उठाना; अनिश्चितता का भार लेना; व्यवसाय को चुनने के बाद विभिन्न साधनों का समीकरण करके उन से सहयोग द्वारा काम लेना; विचार, निर्णय, व्यवस्था, प्रबंध करना साहसी के कार्यों के अंतर्गत हैं। इस कारण लाभ से संबंध रखनेवाले उपर्युक्त किसी भी एक सिद्धांत के द्वारा लाभ के यथार्थ स्वरूप और उस के यथार्थ कारण का समुचित विवेचन नहीं किया जा सकता। इस के अलावा करेंसी संबंधी नीति, व्यापारिक उलट-फेर, सामाजिक परिस्थिति आदि का भी लाभ के निर्णय में बहुत प्रभाव पढ़ता है। लाभ-संबंधी सिद्धांत ऐसा होना चाहिए जिस में इन सभी बातों का समावेश हो सके, जो सभी दिशाओं में प्रकाश डाल सकें। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सभी सिद्धांत आपस में एक-दूसरे के पूरक हैं और सब के समन्वय से प्रायः सभी दिशाओं में प्रकाश पड़ता है। इस कारण उन्हें पृथक्-पृथक् न लेकर एक साथ मिला कर अध्ययन करना अधिक उपयुक्त होगा।

लाभ का हिसाब

किसी व्यवसाय में लाभ दो तरह से आँका जाता है। एक तो प्रति वर्ष का लाभ, और दूसरे कुल स्टाक की बिक्री पर लाभ। प्रति-वर्ष जो लाभ किसी व्यवसाय में होगा वह उस लाभ से भिन्न हो सकता है, जो कुल स्टाक की बिक्री पर हो, क्योंकि साल भर में कई बार कुल स्टाक की बिक्री हो सकती है, और अनेक वर्षों में भी कुल स्टाक की बिक्री न हो। प्रति-वर्ष के लाभ की दर में तथा प्रत्येक बार की कुल स्टाक की बिक्री पर के लाभ की दर में फ़र्क़ हो सकता है और होता ही है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यवसाय में प्रति वर्ष के लाभ तथा कुल स्टाक की बिक्री के लाभ की दरें भिन्न-भिन्न होती

हैं। जिन व्यवसायों में प्रबंध का कार्य कठिन होता है तथा अधिक जोखिम उठाना पड़ता है उन में लाभ की दर उन व्यवसायों से अधिक होती है जिन में प्रबंध का कार्य सरल होता है तथा जोखिम कम रहता है। प्रत्येक व्यवसाय में ही कुल स्टाक की बिक्री पर होनेवाले लाभ की दर समय-समय पर बदलती रहती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि एकाधिकार के अलावा, प्रायः सभी व्यवसायों में दीर्घ काल में, प्रतियोगिता के कारण लाभ की दर के समान होने की प्रगति रहती है, क्योंकि यदि दर समान न रहेगी तो जिस व्यवसाय में अधिक लाभ होगा, मज़दूर, पूँजी, प्रबंध आदि उसी में अधिक से अधिक लगेंगे। अस्तु, आगे चल कर प्रतियोगिता के कारण लाभ की दर उस व्यवसाय में भी गिर जायगी। इस प्रकार लाभ की दर समान होने की प्रवृत्ति देख पड़ती है।